भारत में लोक प्रशासन (BAPA-102)

PUBLIC ADMINISTRATION IN INDIA

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल
फोन न0 05946 – 261122, 261123
टॉल फ्री न0 18001804025
ई-मेल info@uou.ac.in
http://uou.ac.in

पाठयक्रम समिति

प्रो0 गिरजा प्रसाद पाण्डे निदेशक, समाज विज्ञान विद्या शाखा उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल	प्रो0 अजय सिंह रावत उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल
प्रो0 एम0एम0 सेमवाल, राजनीति विज्ञान विभाग केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गढवाल, उत्तराखण्ड	प्रो0 मधुरेन्द्र कुमार (विशेष आमंत्रित सदस्य) राजनीति विज्ञान विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल
डॉ0 ए0के0 रुस्तगी, रीडर राजनीति विज्ञान विभाग जे0एस0पी0जी0 कॉलेज अमरोहा, यू0पी0	डॉ0 सूर्य भान सिंह, असिस्टेन्ट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ0 घनश्याम जोशी उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल	
पाठ्यक्रम सम्पादक- 2017 डॉ0 घनश्याम जोशी, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल	**पाठ्यक्रम संयोजन एवं सम्पादन- 2012** डॉ0 सूर्य भान सिंह असिस्टेन्ट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान डॉ0 अशोक कुमार, अकादमिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल

इकाई लेखक	**इकाई संख्या**
डॉ0 सूर्यभान सिंह, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 22
डॉ 0 सुशील सिंह चौहान	9, 10, 11,12
डॉ0 कमल कुमार	13, 14, 15, 16
डॉ0 अमितेन्द्र सिंह, संविदा शिक्षक, अर्थशास्त्र उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी, नैनीताल	17, 18, 19
डॉ0 घनश्याम जोशी, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	20, 21

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

संस्करण- 2016, सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।

प्रकाशक निदेशालय :, अध्ययन एवं प्रकाशन, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

mail: studies@uou.ac.in

मुद्रक:

अनुक्रम

भारत में लोक प्रशासन **BAPA-102** **पृष्ठ संख्या**

खण्ड-1भारतीय प्रशासन		
1	भारतीय प्रशासन का विकास	1-15
2	भारतीय प्रशासन की विशेषताऐं	16-22
3	भारतीय प्रशासन सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक व संवैधानिक पर्यावरण	23-32
4	भारतीय संविधान की विशेषताऐं	33-40
खण्ड-2 संघीय शासन-1		
5	राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति	41-54
6	प्रधानमंत्री, मन्त्रिपरिषद	55-60
7	संसद- लोक सभा और राज्य सभा	61-71
8	मन्त्रिमंडलीय सचिवालय, केन्द्रीय सचिवालय, प्रधानमंत्री सचिवालय	72-84
खण्ड-3 संघीय शासन-2		
9	राजनीति और प्रशासन में सम्बन्ध	85-91
10	केन्द्र-राज्य सम्बन्ध	92-101
खण्ड-4 राज्य शासन		
11	राज्यपाल, मुख्यमंत्री, मन्त्रिपरिषद	102-116
12	राज्य सचिवालय, मुख्य सचिव	117-129
खण्ड-5 लोक सेवाएं और अखिल भारतीय सेवाऐं		
13	लोक सेवाऐं- अर्थ, कार्य आधुनिक प्रवृत्तियॉं, विशेषताऐं	130-141
14	अखिल भारतीय सेवाऐं और केन्द्रीय सेवाऐं	142-155
15	जन शिकायत निवारण, लोकपाल, लोकसेवा में तटस्थता	156-167
16	प्रशासन में भ्रष्टाचार	168-186
खण्ड-6 वित्तीय प्रशासन एवं समितियां		
17	भारत में वित्तीय प्रबन्ध व बजट निर्माण प्रक्रिया	187-201
18	सार्वजनिक व्यय पर नियंत्रण	202-215
19	लेखांकन, लेखा परीक्षण	216-229
खण्ड-7 स्थानीय स्वशासन		
20	पंचायती राज, 73वॉं संवैधानिक संशोधन अधिनियम	230-241
21	नगरीय स्थानीय सरकार 74 वॉं संवैधानिक संशोधन	242-252
22	स्वतन्त्रता पश्चात जिला प्रशासन, जिलाधिकारी	253-259

इकाई-1 भारतीय प्रशासन का विकास

इकाई की संरचना

1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 भारतीय प्रशासन विकास

1.2.1 मौर्य प्रशासन

1.2.1.1 केन्द्रीय प्रशासन

1.2.1.2 मंत्री परिषद

1.2.1.3 नौकरशाही

1.2.1.4 राज्य का सप्तांग सिद्धान्त

1.2.1.5 प्रान्तीय प्रशासन

1.2.1.6 स्थानीय प्रशासन

1.2.1.7 नगर प्रशासन

1.2.1.8 कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्रांसगिकता

1.2.2 मुगल प्रशासन

1.2.2.1 केन्द्रीय प्रशासन

1.2.2.2 प्रान्तीय प्रशासन

1.2.2.3 स्थानीय प्रशासन

1.2.2.4 मनसबदारी प्रथा

1.2.2.5 जागीरदारी प्रथा

1.2.3 ब्रिटिश प्रशासन

1.2.3.1 केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद का विकास

1.2.3.2 केन्द्रीय सचिवालय का विकास

1.2.3.3 वित्तीय प्रशासन का विकास

1.2.3.4 पुलिस प्रशासन का विकास

1.2.3.5 न्याय व्यवस्था का विकास

1.3 सारांश

1.4 शब्दावली

1.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.8 निबंधात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

यद्यपि लोक प्रशासन एक अध्ययन के विषय के रूप में नवीन विषय है, जिसका जन्म 1887 में वुडरो विल्सन की राजनीति-प्रशासन द्वैतभाव की विचारधारा के प्रतिपादन के परिणामस्वरूप हुआ, तथापि लोक प्रशासन एक कार्य

या प्रक्रिया के रूप में सभ्यता के अस्तित्व के साथ ही दिखाई देता है। जब से सभ्यता का अस्तित्व है, तब से मानव के विकास हेतु निरंतर संगठित प्रयास होते रहे और सभ्यता के अस्तित्व के साथ ही प्रशासन का अस्तित्व भी देखने को मिलता है।

भारतीय परिवेश में भी प्रशासन का विकास प्राचीन काल से ही देखा जा सकता है। हड़प्पा सभ्यता से लेकर आज तक भारतीय प्रशासन अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरा है। भारतीय प्रशासन अपने वर्तमान रूप में विरासत और निरंतरता का परिणाम है, जिसके विकास की कड़ियां किसी न किसी रूप में अतीत से जुड़ी हुई है। हालांकि वर्तमान भारतीय शासन प्रणाली मूल रूप से ब्रिटिश काल की देन मानी जाती है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।
- मौर्यकाल में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।
- मुगलकाल में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।
- ब्रिटिश शासन में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।

1.2 भारतीय प्रशासन विकास

वी0 सुब्रह्मण्यम के अनुसार वर्तमान प्रशासनिक प्रक्रिया का सिलसिला सदियों तक विचारों का रहा, न कि संस्थाओं का। संस्थागत सिलसिला अंग्रेजों के शासनकाल की देन है। भारतीय प्रशासन के विकास में मौर्यकाल, मुगलकाल तथा ब्रिटिशकाल का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इनकी विस्तार से चर्चा करते हैं-

1.2.1 मौर्य प्रशासन

मौर्य प्रशासन, भारतीय इतिहास में दिलचस्पी का विषय है। मौर्य प्रशासन का अध्ययन पूर्ववर्ती प्रक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है, अर्थात इसकी स्थिति वैदिक कबायली संरचना और सामांतवादी युग के बीच की है। मौर्यकाल में भारत ने पहली बार राजनीतिक एकता प्राप्त की तथा एक विशाल साम्राज्य पर मौर्य शासकों ने शासन किया। इस विशाल साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले अनेक ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज की इंडिका, अशोक के शिलालेख व अनेक यूनानी रचनाओं से मौर्य शासन प्रणाली के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा अपने गुरू और प्रधानमन्त्री चाणक्य की सहायता से जिस शासन प्रणाली का प्रारम्भ किया गया, उसके अनेक तत्व वर्तमान प्रशासन में भी दृष्टिगोचर होते हैं। मौर्य प्रशासन के दौरान निम्नांकित बातों पर विशेष ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। पहला- यह एक अति केन्द्रीकृत प्रशासन था, जिसकी पहुँच नागरिक जीवन के सभी क्षेत्रों में थी। इसकी चिंता बाजार-व्यवस्था के नियंत्रण से लेकर नागरिक जीवन में नैतिक मूल्यों की सुरक्षा तक थी। दूसरा- यह एक नौकरशाही पर आधारित प्रशासन था, जिसमें सबल एवं निर्बल दोनों पक्ष थे। तीसरा- वस्तुतः मौर्य प्रशासन कोई नवीन प्रशासन नहीं था वरन् नंद शासकों की पद्धति का ही एक विकसित रूप था अर्थात् केन्द्रीकरण की प्रक्रिया नंद शासकों के समय ही शुरू हो गयी थी।

1.2.1.1 केन्द्रीय प्रशासन

मौर्य साम्राज्य का स्वरूप राजतंत्रात्मक था। अतः शासन का प्रधान राजा होता था। राजपद एक महत्वपूर्ण पद होगया और इस पद की शक्ति एवं अधिकार बढ़ गये। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका,

विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियाँ भी थी। राजा की खुशी प्रजा की खुशी पर निर्भर करती थी। जनकल्याण पर राजा का कल्याण आश्रित था। राज्य में रहने वाले लोगों के हितों का सम्पादन ही राजा का प्रमुख कर्तव्य था।

राजा अब केवल दूरस्थ संरक्षक नहीं वरन् जनता का एक निकट संरक्षक बन गया। राजशक्ति निंरकुश पितृसत्तावाद पर आधारित थी। अशोक ने स्पष्ट रूप से अपने धौली शिलालेख में घोषणा की "कि सारी प्रजा मेरी संतान है।" अर्थात मौर्य शासक जनता के व्यक्तिगत जीवन में भी हस्तक्षेप करने लगे थे। राजा अब न केवल धर्मशास्त्र के द्वारा संचालित होता था। बल्कि अर्थशास्त्र के द्वारा संचालित होता था। अर्थशास्त्र में राजा की विवेकशीलता पर बल दिया गया, अर्थात् राजा न केवल पुराने कानूनों का पालन करवा सकता था वरन् प्रशासनिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर नए कानूनों का निमार्ण भी कर सकता था और फिर परंपरागत कानून तथा राजा के कानून में किसी प्रकार का विरोधाभास उत्पन्न होने की दशा में राजा का कानून ही ज्यादा मान्य होता था। अर्थशास्त्र के अनुसार प्रशासन के प्रत्येक पहलू में राजा का आदेश या विचार ही सर्वोपरि है।

अर्थशास्त्र में राजा के कर्त्तव्यों का भी निर्धारण किया गया। अर्थशास्त्र ने इस बात पर बल दिया, कि राजा को किसी भी समय कर्मचारियों एवं जनता की पहुँच से परे नहीं होना चाहिए। ऐसा होने पर गड़बड़ी एवं असंतोष फैलेगा और राजा शत्रुओं का शिकार हो जाएगा। मेगस्थनीज का भी कहना है कि मालिश करवाते समय राजा से विचार विमर्श के लिए मिला जा सकता है। अशोक के शिलालेख भी इस बात की पुष्टि करते है। अर्थशास्त्र में राजा के कुछ आवश्यक गुण भी निर्धारित किए गये, जिसके अनुसार जनसाधारण, राजा नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त राजा को दैवीय बुद्धि व शक्ति वाला, वृद्धजनों की बात सुनने वाला, धार्मिक व सत्यवादी होना आवश्यक है।

1.2.1.2 मंत्री-परिषद

सिद्धान्त के रूप में मौर्य काल में राज्य की संपूर्ण शक्ति राजा के हाथों में ही केन्द्रित थी, किन्तु व्यवहार में अनेक प्रतिबन्धों के कारण राजा की शक्ति की निरंकुशता सीमित थी विशाल मंत्री-परिषद व प्राचीन परंपराओं के पालन ने मौर्य शासकों की निरंकुशता पर सदैव अंकुश लगाए रखा। राजा को अपने कर्त्तव्यों के निवर्हन में सहायता हेतु एक मंत्री-परिषद होती थी। अर्थशास्त्र एवं अशोक के अभिलेखों में मंत्री-परिषद का जिक्र है। अर्थशास्त्र के अनुसार राज्यरूपी रथ केवल एक पहिए(राजा) के द्वारा नहीं चल सकता। अतएव दूसरे पहिए के रूप में उसे मंत्री-परिषद की आवश्यकता होती है।

मंत्री-परिषद एक परामर्शदात्री निकाय थी, जिसकी शक्ति राजा एवं मंत्रियों की परस्पर स्थिति पर निर्भर करती थी। सामान्यतः राजा के समानान्तर मंत्री-परिषद की शक्ति कमजोर थी और राजा मंत्री-परिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं था। राजा के समानांतर मंत्रियों की स्थिति का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि राजा अपने मंत्री को स्वयं नियुक्त करता था। मेगस्थनीज के अनुसार राजा के सलाहकार एक विशेष जाति से नियुक्त होते थे। राजा द्वारा मुख्यमंत्री तथा पुरोहित का चुनाव उनके चरित्र की भली भाँति जाँच के बाद किया जाता था।

अर्थशास्त्र में मंत्रियों के कुछ गुण निर्धारित किए गये अर्थात उनमें उच्चकुल में जन्म, वीर, बुद्धिमान, ईमानदारी जैसे गुण होने चाहिए। मंत्री-परिषद से 3-4 मंत्रियों की एक छोटी उपसमिति भी बनती थी जो राजा को कुछ विशिष्ट बातों में परामर्श देती थी। कौटिल्य ने नीति निर्धारण की गोपनीयता पर बल दिया है। मंत्री-परिषद का अपना सचिव होता था, जिस पर उसके कार्यालय की देखभाल का भार था। कौटिल्य ने उसे मंत्री-परिषद अध्यक्ष कहा है। डॉ0 आर0सी0 मजूमदार ने मौर्यकालीन मंत्री-परिषद की तुलना इंग्लैण्ड की प्रिवि कौंसिल से की है।

1.2.1.3 नौकरशाही

मंत्री-परिषद व राजा के द्वारा मुख्यतः नीति निर्धारण का कार्य किया जाता था। तत्पश्चात् उन नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रमुख कार्य नौकरशाही के द्वारा किया जाता था। मौर्यकालीन नौकरशाही अत्यधिक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित थी। प्रशासन के संचालन में कौटिल्य ने 18 तीर्थो (अधिकारियों का नाम) एवं 27 अध्यक्षों की भूमिका पर बल दिया है। मौर्यकाल में प्रशासन की सुविधा के लिए 18 विभागों की स्थापना की गयी थी, जिन्हें तीर्थ कहते थे। प्रत्येक विभाग के संचालन व निरीक्षण के लिए अध्यक्ष होता था। एक महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिकारी सन्निधाता अर्थात् कोषाध्यक्ष होता था। वह केन्द्रीय खजाने का प्रभारी होता था। वह एक दूसरे महत्वपूर्ण अधिकारी समाहर्त्ता से मिलकर कार्य करता था। समाहर्त्ता भू-राजस्व की वसूली से जुड़ा हुआ था। युवराज, राजा का उत्तराधिकारी होता था। मंत्री सर्वोच्च सलाहकार था। पुरोहित शासकीय तथा धार्मिक मामलों में राजा का परमर्शदाता था।

अर्थशास्त्र में राजस्व के महत्वपूर्ण स्रोतों की चर्चा की गयी है, जैसे भूमि, खनन, जंगल, सड़क आदि। महत्वपूर्ण राजकीय खर्च- वेतन, सार्वजनिक कार्य निमार्ण, सड़क एवं कुऐं, विश्रामगृह, सिचाई से संबंधित कार्यों में होता था। अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय कोष एवं राजा के व्यक्तिगत कोष में कोई अन्तर नहीं किया गया था।

1.2.1.4 राज्य का सप्तांग सिद्धान्त

कौटिल्य के अनुसार राज्य एक आवश्यक और अनिवार्य संस्था है। राज्य की स्थापना के बिना समाज में अराजकता तथा मत्स्य न्याय की स्थापना हो जाएगी तथा शक्तिशाली, दुर्बल को अपने हित का साधन बना लेगा। कौटिल्य राज्य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में विश्वास करता है। राजा व प्रजा के बीच समझौते के परिणामस्वरूप राज्य अस्तित्व में आया। चूँकि राज्य, व्यक्ति के लिए हितकारी संस्था है। अतः व्यक्ति की निष्ठा एवं आस्था राज्य में होती है। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सात अंग हैं, जिन पर राज्य की व्यवस्था, स्थिरता और अस्तित्व निर्भर करता है। ये सात अंग हैं- राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोषालय, सशस्त्र सेना तथा मित्र। राज्य के इन भागों में सावयव एकता होती है।

राजा, राज्य का प्राण है। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा धर्म का रक्षक होता है। उसमें निर्भयता, आत्मनियंत्रण, निणर्य लेने की क्षमता तथा विचार करने की शक्ति होनी चाहिए। यदि राजा अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार नहीं करता, तो वह आदर योग्य नहीं है। अयोग्य राजा को पद से हटा देना चाहिए।

राजा के बाद पदसोपान में दूसरा स्थान अमात्य का आता हैं। वह आजकल के मंत्रिमंडलीय सचिव के समान शासकीय अधिकारियों में सबसे उच्च अधिकारी होता था। अमात्य प्रशासन सम्बन्धी बातों को देखता था। राजा कुशल, बुद्धिवान तथा निर्णय लेने की क्षमता वाले व्यक्ति को अमात्य पद के लए चयन करता था।

जनपद, राज्य का तीसरा अंग था। इसमें भूमि-भाग के साथ साथ क्षेत्र में रहने वाले लोगों भी सम्मिलित होते थे। कौटिल्य के आनुसार श्रेष्ठ जनपद वह है जो प्राकृतिक सीमाओं जैसे नदी, पहाड़, जंगल में बसा हो। जनपद की भूमि उपजाऊ होनी चाहिए तथा रहने वाले लोग मेहनती, बुद्धिमान, वफादार होने चाहिए।

दुर्ग भी राज्य का एक अनिवार्य अंग था। राज्य की स्थिरता और युद्धों में सुरक्षा के लिए दुर्ग की भूमिका अह्म होती थी। दुर्ग में पर्याप्त खाद्य सामग्री, अस्त्र-शस्त्र, पानी, दवाईयां आदि का रहना आवश्यक था, जो समय पर काम आ सके।

कोष व कोषालय भी राज्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य था। मौर्यकाल में वित्त की व्यवस्था बेहतर थी। विभिन्न प्रकार के करों से प्राप्त राशि कोषालय में एकत्रित होती थी। विभिन्न खर्चों के लिए बजट में व्यवस्था होती थी। आपात स्थितियों से निपटने के लिए आपात निधि की आवश्यकता थी।

सेना की राज्य में महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। कौटिल्य ने मौर्य सेना के संगठन तथा सैन्यशास्त्र का व्यापक चित्रण किया है। सैनिकों से राज भक्ति, साहस, बहादुरी की अपेक्षा की जाती थी। सीमा विस्तार पर विशेष ध्यान होने की वजह से सेना राज्य का आवश्यक अंग थी।

मित्र से तात्पर्य मित्र राज्यों से था। राज्य की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि पड़ोसी राज्यों के साथ उसके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं या नहीं।

इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य के अस्तित्व एवं स्थिरता हेतु राज्य के सात अंगों पर आधारित होने की बात कहीं इन अंगों के बीच उचित संतुलन अनिवार्य था।

1.2.1.5 प्रान्तीय प्रशासन

मौर्यकाल में संपूर्ण साम्राज्य का विभाजन प्रान्तों में किया गया था। पाँच प्रान्तीय राजधानियां प्रमुख थी तथा उत्तरापथ की राजधानी तक्षशिला, अवंति राज्य की राजधानी उज्जैन, कलिंग प्रांत की राजधानी तोसली, दक्षिणापथ की राजधानी सुवर्णगिरि और पूर्वी प्रान्त की राजधानी पाटलिपुत्र। ये पाँच महत्वपूर्ण एवं बड़े प्रान्त थे तथा इनके अधीन छोटे छोटे प्रान्त भी थे। बड़े प्रान्तों का प्रशासक राजकुल का होता था। अशोक के फरमानों में उन्हें कुमार या आर्यपुत्र कहा गया है। अर्थशास्त्र में इस बात की चेतावनी दी गयी कि कुमार या आर्य पुत्र खतरे का कारण हो सकता है। इसलिए उसे राज्य पर सम्पूर्ण नियंत्रण नहीं होना चाहिए। प्रान्तीय प्रशासन में केन्द्रीकरण की प्रकृति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि प्रान्तीय मंत्रिपरिषदों को यह स्वतन्त्रता थी कि वह प्रान्तीय प्रशासक को सूचित किए बिना राजा को महत्वपूर्ण सूचना प्रेषित कर सकती है। इस बात की पुष्टि दिव्यावदान से भी होती है। किन्तु क्षेत्रीय स्तर पर मौर्य प्रशासन में कुछ स्वायत्तता प्रदान की गयी थी, अर्थात संबंधित क्षेत्र के व्यक्ति को ही उस क्षेत्र का प्रशासक नियुक्त किया जाता था। उदाहरण के लिए रुद्रदमन के जूनागढ़ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि काठियावाड़ का शासक यौनराज तुशाष्क था।

1.2.1.6 स्थानीय प्रशासन

प्रान्तों का विभाजन विभिन्न जिलों में किया गया था। जिले को विषय या आहार कहा जाता था। जिला प्रशासन से जुड़े तीन पदाधिकारी थे- प्रादेशिक, रज्जुक और युक्त। प्रादेशिक नामक अधिकारी कानून एवं व्यवस्था को बनाऐ रखने और भू-राजस्व की वसूली से जुड़े हुए थे, जबकि रज्जुक नामक अधिकारी विशेष रूप से न्यायिक कार्यो से जुड़े हुए थे। रज्जुक की नियुक्ति ग्रामीण जन कल्याण के उद्देश्य से की जाती थी। उसके अतिरिक्त युक्त का कर्त्तव्य सचिव एवं लेखा संबधी काम देखना था। अशोक के अभिलेखों में इन अधिकारियों की चर्चा की गयी है।

जिला एवं ग्रामीण प्रशासन के बीच एक और प्रशासनिक इकाई थी। जो संभवतः पाँच या दस गांवों का समूह होती थी। इसका महत्वपूर्ण अधिकारी गोप होता था, जिसका काम सामान्य प्रशासन की देख-रेख करना था। गोप के अतिरिक्त स्थानिका नामक अधिकारी भी होता था जिसका मुख्य कार्य कर की वसूली था। वह सीधे प्रादेशिक के अधीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानिका आधुनिक सहायक कलेक्टर और प्रादेशिका जिला कलेक्टर के समान थे और ये दोनों अधिकारी समाहर्त्ता या चीफ कलेटर के अधीन होते थे।

सबसे निचले स्तर पर ग्रामीण प्रशासन था जिसका प्रधान मुखिया होता था। वह ग्रामीण वृद्धजनों में से निर्वाचित होता था। छोटे गांवों में मुखिया ही एक मात्र अधिकारी होता था किन्तु बड़े गावों में मुखिया की सहायता के लिए

लेखपाल एवं लिपिकों की नियुक्ति की जाती थी और अधिकारियों का वेतन या तो भू-राज्स्व से या फिर भूमि प्रदान करके पूरा किया जाता था।

1.2.1.7 नगर प्रशासन

मौर्यकाल में नगर प्रशासन का अपना श्रेणीबद्ध संगठन था। नगर प्रशासन का प्रधान नगरक नामक अधिकारी होता था। अशोक के एक अभिलेख में नगर-व्यवहारिक की चर्चा की गयी है। नगरक या नगर निरीक्षक का काम नगर कानून व्यवस्था बनाए रखना था। आकाल पड़ने पर गोदामों से अनाज बंटवाने का काम भी नगरक करता था। इस नगरक नामक अधिकारी की सहायता एवं मंत्रणा के लिए समाहर्त्ता एवं प्रादेशिका नामक अधिकारी होते थे। मेगस्थनीज के इंडिका में विस्तार से पाटलिपुत्र के नगर प्रशान की चर्चा की गयी है। मेगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र के प्रशासक के लिए पाँच-पाँच सदस्यों की छ: समितियां होती थी, जिनके कार्य एवं कार्त्तव्य निम्नलिखित थे- उद्योगों व शिल्पों का निरीक्षण, विदेशियों की देखभाल, जन्म-मरण का पंजीकरण, वाणिज्य व्यापार की देखभाल, सार्वजनिक बिक्री का निरीक्षण और बिक्री कर संग्रह।

1.2.1.8 कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्रांसगिकता

कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारत में लोक प्रशासन पर किया गया सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। यद्यपि अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से लोक प्रशासन के सिद्धान्त नहीं रखे गये हैं, लेकिन इसमें वर्णित सरकारी कार्यप्रणाली महत्वपूर्ण है। कौटिल्य ने एक कल्याणकारी प्रशासन की बात की थी। राजा को प्रजा के हित के लिए कार्य करना चाहिए। उसे प्रजा को पुत्र की भाँति पालना चाहिए, क्योंकि 'प्रजा हिते, हिते राज्ये, प्रजानाम च सुखे सुखम्'। अर्थात प्रजा के हित में ही राज्य का हित है और प्रजा के सुख से ही राज्य सुखी है। कल्याणकारी प्रशासन के साथ ही कौटिल्य ने सुशासन की बात की है, अर्थात जनता की सारी सुविधाओं को सरकार द्वारा मुहैया कराया जाना चाहिए। क्षेत्रों की आवश्यकतानुसार उन्हें संसाधन उपलब्ध कराना राष्ट्र का दायित्व है।

कौटिल्य ने राजस्व संग्रहण के सन्दर्भ में उचित करारोपण को महत्व दिया है। करारोपण राज्य की आवश्यकता व प्रजा की स्थिति के अनुरूप होना चाहिए, उसके अनुसार उचित करारोपण की व्यवस्था वैसी ही होनी चाहिए, जैसे वृक्ष से फल गिरते हैं। कौटिल्य ने जट को जनता को खुशहाली की गारंटी देती है। कौटिल्य का कथन है कि सभी उद्यम वित्त पर निर्भर है अतः कोषागार पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

कौटिल्य का विचार है कि राजा का लोकसेवक कोषागार रक्षक मात्र होना चाहिए। प्रशासन के नियमों का उल्लंघन करने पर न्यायपालिका के दायरे में नहीं आते, किन्तु निजी गुप्तचर व्यवस्था तथा विदेश सम्बन्धी आदि विषयों पर कौटिल्य के द्वारा दिए गये विचार वर्तमान भारतीय प्रशासन के सन्दर्भ में पर्याप्त रूप से प्रासंगिक है।

1.2.2 मुगल प्रशासन

मुगल प्रशासन, जिसने प्रशासन को एक नयी दिशा दी,का अध्ययन निम्न बिन्दुओं के आधार पर करते हैं-

1.2.2.1 केन्द्रीय प्रशासन

प्रशासन के शीर्ष पर बादशाह होता था। वह सभी प्रकार के सैनिक एवं असैनिक मामलों का प्रधान होता था। बादशाह मुगल साम्राज्य के प्रशासन की धुरी था बादशाह की उपाधि धारण करता था, जिसका आशय था कि राजा अन्य किसी भी सत्ता के अधीन नहीं है। वह समस्त धार्मिक तथा धर्मोत्तर मामलों में अंतिम निर्णायक व अंतिम सत्ताधिकारी है। वह सेना, राजनीतिक, न्याय आदि का सर्वोच्च पदाधिकार है। वह सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र है तथा खुदा का प्रतिनिधि है।

मुगल बादशाह बहुत शानो-शौकत का जीवन व्यतीत करते थे। उनको बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त थे और उनकी इच्छा ही कानून थी। तुर्की मंगोल परम्परा से ही मुगल प्रशासन को केन्द्रीकृत प्रशासन की अवधारणा विरासत में प्राप्त हुई थी। वैसे कुछ विद्वानों का मानना है कि अकबर के समय केन्द्रीकृत तुर्की मंगोल परम्परा में संशोधन किया गया। इन सबके उपरान्त भी राजा का जीवन नियमों से बंधा हुआ था और यह माना जाता था कि जनता की भलाई में ही राजा की भलाई है। कुरान में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि प्रजा के कल्याण का पूरा उत्तरदायित्व राजा के कंधों पर है। केन्द्रीय प्रशासन के संचालन हेतु राजा के द्वारा निम्नांकित पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी-

1. **वकील या वजीर-** वकील सम्पूर्ण प्रशासन का पर्यवेक्षण करता था। इसे राजस्व और वित्त का अधिभार दिया गया था, यह भू-राजस्व का आकलन करता था और उसकी वसूली का निरीक्षण करता था। वह इससे संबंधित हिसाब की जाँच भी करता था।
2. **दीवाने-आला या दीवने-कुल-** दीवाने आला वित्तीय शक्तियाँ रखता था। इसे राजस्व और वित्त का अधिभार दिया गया था। यह भू-राजस्व का आकलन करता था और उसकी वसूली का निरीक्षण करता था। वह इससे संबंधित हिसाब की जाँच भी करता था।
3. **मीर बख्शी-** यह साम्राज्य का सर्वोच्च भुगतान अधिकारी होता था क्योंकि मुगलकाल में मनसबदारी प्रथा प्रचलित थी तथा सैनिक एवं असैनिक सेवाओं का एकीकरण किया गया था। इसलिए यह साम्राज्य के सभी अधिकारियों को भुगतान करता था। यह मनसबदारों की नियुक्ति की सिफारिश करता था और उनके लिए जागीर की अनुशंसा करता था।
4. **दीवाने-शामा/खान-ए-शामा-** यह राजकीय कारखनों का निरीक्षण करता था तथा राजकीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन कारखानों के उत्पादन को नियंत्रित करता था।
5. **सद्र-उस-सूद्र-** यह बादशाह का मुख्य धार्मिक परामर्शदाता होता था। यह धार्मिक अनुदानों को नियंत्रित करता था। साथ ही यह धार्मिक मामलों से संबंधित मुकद्दमे भी देखता था।
6. **मुख्य काजी-** यह न्याय विभाग का प्रधान होता था।
7. **मुहतसिब-** यह जनता के नैतिक आचरण का निरीक्षण करता था और देखता था कि शरीयत के अनुसार कार्य हो रहा है या नहीं साथ ही यह माप तौल का निरीक्षण भी करता था।

उपरोक्त सातों अधिकारियों के अतिरिक्त केन्द्रीय प्रशासन में कुछ छोटे-छोटे पद भी होते थे, जैसे- दरोगा-ए-तोपखाना, दरोगा-ए-डाकचौकी, मीर-माल (टकसाल प्रधान), मीर-बर्र (वन अधीक्षक) आदि।

1.2.2.2 प्रान्तीय प्रशासन

मुगल सम्राट बाबर ने अपने साम्राज्य का विभाजन जागीरों में किया था तथा उसके समय किसी प्रकार की प्रान्तीय प्रशासनिक व्यवस्था विकसित नहीं हुई थी। सबसे पहले पहले एकरूप प्रान्तो का निर्माण अकबर के शासनकाल में हुआ। सन् 1580 में अकबर ने अपने साम्राज्य का विभाजन 12 प्रान्तों में किया, जिसकी संख्या शाहजहाँ के काल तक 22 हो गयी। अकबर की प्रशासनिक नीति प्रशासनिक एकरूपता तथा रोक और संतुलन के सिद्धान्तों पर आधारित थी, परिणामस्वरूप प्रान्तीय प्रशासन का ही प्रतिरूप था।

प्रान्तीय प्रशासन का प्रमुख सूबादार/नजीम कहलाता था, जिसकी नियुक्ति बादशाह करता था। आमतौर पर सूबेदार का कार्यकाल तीन वर्ष का होता था। नजीम की सहायता हेतु कुछ अन्य अधिकारी भी होते थे। प्रान्तीय दीवान की नियुक्ति केन्द्रीय दिवान की अनुशंसा पर बादशाह करता था। प्रान्तीय दीवान, नजीम के बराबर का अधिकारी होता था और कभी-कभी श्रेष्ठ अमीर को भी दीवान का पद दे दिया जाता था। इसी तरह प्रान्तीय बख्शी की नियुक्ति

केन्द्रीय बख्शी की अनुशंसा पर होती थी और प्रान्तीय बख्शी सुरक्षा से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण बातें नजीम को बताए बिना केन्द्रीय बख्शी तक प्रेषित कर देता था। अकबर ने केन्द्रीय सद्र शक्ति को कम करने के लिए प्रान्तीय सद्र को नियुक्त करना शुरू किया। अब प्रान्तीय सद्र के परामर्श से भी धार्मिक बातों का निर्णय लिया जा सकता था। इनके अतिरिक्त प्रान्तीय स्तर पर काजी भी होता था।

1.2.2.3 स्थानीय प्रशासन

प्रान्तों के विभाजन सरकार में होता था। सरकार से जुड़े हुए अधिकारी थे- फौजदार, अमालगुजार, खजानदार आदि। फौजदार शांति व्यवस्था की देख-रेख करता था और अमालगुजार भू-राजस्व से जुड़ा अधिकारी था। खजानदार सरकार के खजाने का संरक्षक होता था। कभी-कभी एक सरकार में कई फौजदार होते थे और कभी-कभी दो सरकारों पर एक फौजदार भी होता था। सरकार का विभाजन परगनों में होता था। परगनों से जुड़े अधिकारी सिकदार, आमिल, पोतदार, कानूनगों आदि थे। सिकदार शांति व्यवस्था का संरक्षक होता था और भू-राजस्व संग्रह में आमिल की सहायता करता था। आमिल भू-राजस्व प्रशासन से जुड़ा अधिकारी था। पोतदार, खजांची को कहा जाता था तथा कानूनगो गाँव के पटवारियों का मुखिया होता था और स्वयं कृषि भूमि का पर्यवेक्षण करता था।

सबसे नीचे ग्राम होता था जिससे जुड़े अधिकारी मुकद्दमे और पटवारी थे। मुगलकाल में ग्राम पंचायत की व्यवस्था थी। इस विभाजन के अतिरिक्त नगरों में कानून व्यवस्था की देख-रेख के लिए कोतवाल की नियुक्ति होती थी। अबुल फजल के आइने-अकबरी में कोतवाल के कार्यों का विवरण दिया गया है। इसी तरह प्रत्येक किले पर किलेदार कीह नियुक्त होती थी।

इस प्रकार मुगल प्रशासन केन्द्रीय प्रशासन से लेकर गाँव तक क्रमबद्ध था। लेकिन कुछ इतिहासकार जिनमें इरफान हबीब और आर्थर अली महत्वपूर्ण हैं, मुगल प्रशासनिक ढ़ाँचे को अतिकेन्द्रीकृत मानते हैं।

1.2.2.4 मनसबदारी व्यवस्था

अकबर के द्वारा स्थापित की गयी मनसबदारी पद्धति मौलिक रूप से एक प्रशासनिक सामरिक उपकरण थी, जिनका उद्देश्य अमीरों एवं सेना का एक सक्षम संगठन स्थापित करता था। वस्तुतः मनसबदारी पद्धति की व्याख्या केन्द्रीकृत राजनैतिक ढ़ाँचे के परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है। इसके साथ साम्राज्य की शक्ति को एक चैनल में बांध दिया गया और अमीर-वर्ग, सेना तथा नौकरशाही तीनों को जोड़ दिया गया।

मुगल साम्राज्य के सभी पंजीकृत अधिकारियों को एक मनसब प्रदान किया गया, जो जोड़े के अंक में प्रस्तुत किया जाता था। प्रथम, संबधित अधिकारी के जात रैंक का बोध होता था तथा दूसरे उसके सवार रैंक का बोध कराता था। जात रैंक किसी भी अधिकारी का विभन्न अधिकारियों के पदानुक्रम में पद और स्थान को निर्धारित करता था। दूसरी तरफ सवार रैंक उसके सैनिक उत्तरदायित्व को रेखांकित करता था। सैद्धान्तिक रूप से मनसब के कुल 66 ग्रेड होते थे। निम्नतम 10 और उच्चतम 10 हजार होता था, किन्तु व्यवहारिक रूप में केवल 33 ग्रेड ही प्रचलित थे। पाँच हजार से अधिक रैंक सामान्यतः राजकीय व्यक्ति को ही प्रदान किए जाते थे, किन्तु यह प्रतिष्ठा कुछ राजपूत योद्धाओं को भी प्राप्त हुई।

1.2.2.5 जागीरदारी प्रथा

वस्तुतः जागीरदारी पद्धति की स्थापना के पीछे साम्राज्य का एक व्यापक उद्देश्य था, जिसके द्वारा उन राजपूत जमींदारों से भू-राजस्व संग्रह करना सम्भव हो गया, जो सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली थे और जाति, गोत्र के आधार पर विभाजित थे। अकबर मनसबदारों का वेतन नकद में देना चाहता था, किन्तु उस समय के कुलीन वर्ग को भू-

संपत्ति से जबर्दस्त आकर्षण था। इसलिए जागीरदारी प्रथा के अंतर्गत कुछ अधिकारियों को जागीर में वेतन दिया जाता था।

दिल्ली सल्तनत काल में इक्तादारी पद्धति प्रचलित थी और इक्ता के मालिक इक्तादार कहे जाते थे। इक्तादारी पद्धति भी कृषकों से अधिशेष प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण जरिया था किन्तु इक्ता और जागीर में एक महत्वपूर्ण अंतर यह था कि इक्ता में भूमि का आबंटन होता था जबकि जागीर में भू-राजस्व का आबंटन होता था। जागीरदारी व्यवस्था और इकतादारी व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण अंतर यह भी था कि जागीरदारों को केवल भू-राजस्व की वसूली का अधिकार दिया गया था संबंधित क्षेत्र के प्रशासन का नहीं, जागीरदार को राजकीय नियमों के अनुरूप केवल प्राधिकृत राजस्व वसूलने का अधिकार था तथा प्रशासनिक कार्यो के लिए राज्य जिम्मेदार था। यदि भू-राजस्व की वसूली में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित होता, तो जागीरदार उस क्षेत्र के फौजदार से सैनिक सहायता भी प्राप्त कर सकता था। जागीरदारी व्यवस्था के द्वारा प्रशासनिक केन्द्रीकरण का प्रयास हुआ था और नौकरशाही को ग्रामीण समुदाय पर आरोपित कर दिया गया था।

1.2.3 ब्रिटिश प्रशासन

भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कम्पनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। प्रारम्भ में कम्पनी का उद्देश्य व्यापार करना था और मुम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास के बंदरगाहों से होकर शेष भारत से इसका सम्पर्क रहता था। धीरे-धीरे कम्पनी की प्रादेशिक महत्वकांक्षा प्रबल होती गयी और शीघ्र ही वह भारत में एक प्रमुख युरोपीय शक्ति बन गयी। यही कम्पनी आगे चलकर मुगल शासन की उत्तराधिकारी बनी। प्लासी और बक्सर के युद्ध के बाद भारत में कम्पनी की साम्राज्यीय महत्वाकांक्षाऐं प्रबल हुई और 1765 की इलाहाबाद की संधि के द्वारा कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अधिकार प्राप्त हुए, परिणामस्वरूप द्वैध शासन की शुरूआत हुई, जहाँ कि राजस्व संग्रहण का कार्य ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार में था, लेकिन सामान्य प्रशासन की जिम्मेदारी संबंधित प्रान्त में मुगल प्रशासन द्वारा नियुक्त नवाब के जिम्मे होती थी। इस प्रकार कर्त्तव्य नवाब के पास थे लेकिन शक्तियाँ कम्पनी के पास। यद्यपि नवाब की नियुक्ति में भी कम्पनी का हस्तक्षेप होता था और उप-नवाब की नियुक्ति का अधिकार तो कम्पनी के पास ही था। इस प्रकार सारी शक्तियाँ कम्पनी के हाथ में केन्द्रीत हो गयी, लेकिन कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व नहीं, परिणामस्वरूप द्वैध शासन की वजह से अकाल, अव्यवस्था जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ा।

कम्पनी के शासन की शुरूआत होने और उसकी शक्तियों में वृद्धि होने के साथ-साथ ब्रिटिश संसद का भी भारतीय प्रशासन सम्बन्धी मामलों में कम्पनी के माध्यम से अप्रत्यक्ष नियंत्रण प्रारम्भ हुआ, जो कि 1857 की क्रांति के बाद कम्पनी शासन की समाप्ति और भारत में प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन की स्थापना में परिणत हो गया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन की स्थापना के बाद ब्रिटिश संसद ने समय समय पर विभिन्न अधिनियम पारित करके कम्पनी के शासन पर नियंत्रण करने का प्रयास किया, जिनकी संक्षिप्त चर्चा निम्नांकित रूप में की जा सकती है-

1.2.3.1 केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद का विकास

भारतीय संवैधानिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था के विकास में 1773 के रेग्यूलेटिंग एक्ट का विशेष महत्व है। सरकार ने कम्पनी के आर्थिक, प्रशासनिक एवं सैनिक कार्यों पर संसद के आंशिक नियंत्रण के लिए यह अधिनियम

पारित किया था। इस अधिनियम के द्वारा बंगाल के गवर्ननर को कम्पनी के भारतीय प्रदेशों का गर्वनर जनरल बनाया गया तथा इसकी सहायता के लिए चार सदस्यों की एक परिषद की स्थापना की गयी। इस कानून में मुम्बई और मद्रास के प्रेसीडेंसी को कलकत्ता प्रेसीडेंसी बंगाल के अधीन कर दिया गया, साथ ही भारतीय मामलों में संसद का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप आरम्भ हुआ। परिणामस्वरूप इस कानून से भारत में प्रशासन के केन्द्रीकरण का कार्य शुरू हुआ।

1784 में पिट्स इंडिया एक्ट के माध्यम से गवर्नर जनरल की कौंसिल में सदस्यों की संख्या चार से घटाकर तीन कर दी गयी, साथ ही मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेंसियों पर गवर्नर जनरल के निरीक्षण एवं नियंत्रण के अधिकार अधिक स्पष्ट कर दिए गये। इस अधिनियम का उद्देश्य कम्पनी पर ब्रिटिश क्राउन का नियंत्रण बढ़ाना था। अतः ब्रिटेन में छः सदस्यों के 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' की स्थापना की गयी। 1786 के अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल को परिषद् से अधिक शक्तियाँ प्रदान की गयी और उसे मुख्य सेनापति बनाया गया।

1793 के अधिनियम से गवर्नर जनरल को अपनी कौंसिल की अनुशंसा को रद्द करने का अधिकार दिया गया। 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा भारत में ब्रिटिश कम्पनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया, लेकिन भू-राजस्व प्रशासन एवं भारतीय प्रशासन का कार्य कम्पनी के अधीन रहने दिया गया। 1833 के चार्टर अधिनियम से बंगाल का गवर्नर भारत का गवर्नर जनरल कहलाने लगा। बंबई एवं मद्रास प्रेसीडेंसी को पूर्णतः बंगाल के अधीन कर दिया गया। सम्पूर्ण भारत के लिए विधि निर्माण का एकाधिकार गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद को प्रदान किया गया तथा बंबई और मद्रास प्रेसीडेंसी से विधि निमार्ण के अधिकार छीन लिए गये। अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल की काउंसिल में एक चौथा सदस्य फिर से जोड़ा गया, जिसे विधि सदस्य का नाम दिया गया। इस प्रकार इस अधिनियम से भारत में केन्द्रीकृत प्रशासन की स्थापना हुई।

1858 के अधिनियम द्वारा भारत पर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के स्थान पर ब्रिटिश संसद के शासन की स्थापना हुई। भारत सचिव के पद का सृजन किया गया। तथा समस्त संवैधानिक, प्रशासनिक तथा वित्तीय शक्तियाँ भारत सचिव तथा उसकी 15 सदस्यीय परिषद में केन्द्रित हो गयी। भारत में सत्ता का केन्द्रीकरण गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद में निहित हो गया। गवर्नर जनरल को वायसराय कहा जाने लगा।

1861 के अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गये। पहली बार प्रान्तीय विधायिकाओं की स्थापना हुई। यद्यपि इनके कई अधिकार सीमित थे। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद तथा विधायिका का पुनर्गठन किया गया। अधिनियम की व्यवस्था द्वारा कार्यकारिणी के महत्व में कमी एवं गवर्नर जनरल के प्रभाव में वृद्धि हुई। गवर्नर जनरल को इस बात के लिए अधिकृत किया गया कि वह प्रशासनिक व्यवस्था हेतु विधि बनाए। कैनिंग के द्वारा विभागीय व्यवस्था की शुरूआत की गयी। अधिनियम के द्वारा मद्रास और बंबई प्रेसीडेंसी को पुनः विधिक निर्माण के अधिकार तथा अन्य प्रान्तों में ऐसी ही विधायिकाओं की स्थापना की व्यवस्था करके विधि-निर्माण में विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया की नींव पड़ी।

1892 के भारतीय परिषद अधिनियम के अन्तर्गत विधायिकाओं की सदस्य संख्या और शक्ति में वृद्धि हुई तथा प्रतिनिधि संस्थाओं की सिफारिशें पर मनोनीत किया जाने लगा। 1909 के मार्ले-मिन्टो सुधारों द्वारा विधायिकाओं की सदस्य संख्या में वृद्धि हुई परन्तु बहुमत सरकारी सदस्यों का ही बना रहा। अधिनियम में अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति को अपनाया गया अर्थात् केन्द्रीय विधान परिषद में विभिन्न प्रान्तों से सदस्य चुनकर आने थे। इस अधिनियम का सबसे बड़ा दोष पृथक निर्वाचन व्यवस्था थी।

1919 में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार द्वारा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों को स्थान दिया गया। केन्द्रीय स्तर पर द्वि-संदनीय व्यवस्थापिका की स्थापना हुई। अधिनियम के द्वारा केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया। आरक्षित विषयों का प्रशासन गवर्नर को अपने पार्षदों की सहायता से करना था तथा हस्तांतरित विषयों का प्रशासन निर्वाचित मंत्रियों की सहायता से किया जाना था।

सन् 1919 से स्वतंत्रता तक, प्रशासनिक व्यवस्था '1935 के भारत सरकार अधिनियम' का भारत के संवैधानिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इस अधिनियम ने भारत में संघात्मक व्यवस्था का सूत्रपात किया। इस संघ का निर्माण ब्रिटिश भारत के प्रान्तों, देशों राज्यों और कमिश्नरी के प्रशासनिक क्षेत्र को मिलाकर किया जाना था। संघ स्तर पर 'द्वैध शासन-प्रणाली' को अपनाया गया और आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना करने का प्रावधान किया गया। संघीय कार्यपालिका, संघीय विधान मण्डल तथा संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी। प्रान्तों में प्रान्तीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकार की कार्यपालिका शक्ति समस्त प्रान्तीय विषयों तक स्थापित हो गयी। प्रान्तों से द्वैध शासन-प्रणाली का अन्त कर दिया गया, किन्तु व्यवहार में गवर्नर की शक्ति अब भी बनी रही। गवर्नर की शक्तियों को तीन भागों में विभाजित किया गया, पहला- स्वेच्छा से काम में आने वाली शक्तियाँ, दूसरा- व्यक्तिगत शक्तियाँ और तीसरा- विधायिका के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों की सलाह से काम में आने वाली शक्तियाँ। इस अधिनियम का सबसे विवादास्पद पहलू धारा- 93 थी, जिसके अनुसार गवर्नर विशेष परिस्थितियों में प्रान्तीय प्रशासन को अपने नियंत्रण में ले सकता था। इसी शक्तियों का प्रयोग कर 1939 में विभिन्न प्रान्तों में गवर्नर ने शासन कार्य अपने हाथ में ले लिया। भारतीय स्वतंत्रता तक इसी अधिनियम के अनुसार भारतीय प्रशासन का संचालन किया जाता रहा। स्वतंत्रता के बाद भारतीय प्रशासन स्वतंत्र भारत के संविधान द्वारा प्रारम्भ हुआ।

1.2.3.2 केन्द्रीय सचिवालय का विकास

स्वतंत्र भारत में केन्द्रीय सचिवालय औपचारिक रूप से 30 जनवरी, 1948 को स्थापित हुआ, लेकिन मूल रूप से केन्द्रीय सचिवालय अन्य प्रशासनिक संस्थाओं की भाँति ब्रिटिश शासनकाल की देन है। ब्रिटिश काल में इसे "इंपीरियल सेक्रेटेरिएट" कहा जाता था। ब्रिटिश साम्राज्य के समय भारत में प्रशासनिक एकता स्थापित करने में केन्द्रीय सचिवालय की विशेष भूमिका थी। समय के परिवर्तन के साथ जैसे जैसे सरकार का कार्यभार बढ़ता गया, विभागों की संख्या भी बढ़ती गयी। 1919 से 1947 तक का काल केन्द्रीय सचिवालय में विभिन्न सुधारों के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहा। सन् 1919 की लिविलियन स्मिथ कमेटी के सुझाव पर-

- विभागीय विषयों को पुनर्गठित किया गया।
- लिखित आलेखों की प्रथा प्रारम्भ की गयी।
- केन्द्रीकृत भर्ती की व्यवस्था आरम्भ हुई।
- सचिवालय में प्रतिनियुक्ति व्यवस्था को सुदृढ़ किया गया।

1919 में पुनर्गठित सचिवालय में कुल 11 विभाग थे।

सन् 1936-37 में नियुक्त होने वाली व्हीलर समिति और मैक्सवेल समिति (संगठन तथा प्रक्रिया समिति) ने केन्द्रीय सचिवालय के संगठन और कार्य-पद्धति में सुधार हेतु और भी सुझाव प्रस्तुत किए। आजादी के उपरान्त गठित सरकार को कुछ ऐसी विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ा, जिनके परिणामस्वरूप केन्द्रीय सचिवालय का कार्यभार अत्यधिक हो गया। ये समस्याऐं निम्नांकित थीं-

- देश का विभाजन होने के कारण पाकिस्तान से आए शरणार्थियों को भारत में बसाना।

- जम्मू-कश्मीर में बाह्य आक्रमण की समस्या।
- रियासतों का भारतीय संघ में एकीकरण।
- आंतरिक सुरक्षा की समस्या।
- आवश्यक वस्तुओं के अभाव की समस्या।
- प्रशासनिक अधिकारियों की संख्या में भारी मात्रा में कमी।

कल्याणकारी राज्य की स्थापना से प्रेरित होने के कारण भी सरकार के कार्यभार में अत्यधिक मात्रा में बढोत्तरी हुई, परिणामस्वरूप केन्द्रीय सचिवालय का कार्यभार बढ़ा 15 अगस्त, 1947 को जब सत्ता का हस्तांतरण हुआ तो केन्द्रीय सचिवालय में 19 विभाग थे, जिनका फिर से पुनर्गठन एवं सुधार करने के लिए स्वतंत्र भारत की सरकार ने सर गिरिजा शंकर बाजपेयी की अध्यक्षता में सचिवालय पुनर्गठन समिति की स्थापना की। कालांतर में विभागों की संख्या बढ़ी जैसे 1978 में 69 विभाग और 2001 में 81 विभाग।

1.2.3.3 वित्तीय प्रशासन का विकास

भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासक स्थापित होने के बाद प्रान्तों को वित्त के सम्बन्ध में बहुत अधिक सीमा तक स्वतंत्रता दी गयी, किन्तु 1833 के चार्टर अधिनियम के द्वारा वित्त का केन्द्रीकरण कर दिया गया। अधिनियम के द्वारा यह निश्चित किया गया कि किसी प्रान्तीय सरकार को नए पद तथा नए वेतन भत्ते की स्वीकृति का अधिकार नहीं होगा, जब तक कि गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति न मिल जाए।

1833-1870 तक प्रान्तीय सरकारें केन्द्र सरकार के अभिकर्त्ता के रूप में ही कार्य करती रहीं, उन्हें कर लगाने अथवा उसे खर्च करने का कोई अधिकार नहीं था। सर्वप्रथम 1870 में वित्तीय विकेन्द्रीकरण की दिशा में लार्ड मेयो की सरकार द्वारा एक निश्चित योजना को अपनाया गया।

- जिसके अन्तर्गत जेलें, रजिस्ट्रेशन, पुलिस, शिक्षा, सड़कें, चिकित्सा सेवाऐं, छपायी आदि के व्यय की मदों तथा उनसे प्राप्त होने वाले राजस्व को प्रान्तीय सरकारों के नियंत्रण में हस्तांतरित कर दिया गया।
- प्रान्तों को कुछ निश्चित वार्षिक अनुदान देने की व्यवस्था की गयी।

1877 में स्ट्रेची द्वारा प्रस्तावित नवीन योजना के अन्तर्गत भूमि कर, स्थानीय चुंगी, स्टाम्प, स्टेशनरी, कानून व न्याय और सामान्य प्रशासन की कुछ व्यय मदें प्रान्तीय सरकारों के नियंत्रण में हस्तांतरित कर दी गयी। वित्तीय विकेद्रीकरण की दिशा में 1882 में प्रस्तावित नई योजना के अनुसार राजस्व के समस्त साधनों को तीन भागों में विभक्त किया गया। केन्द्रीय, प्रान्तीय व विभाजित।

केन्द्रीय मदों से प्राप्त होने वाले राजस्व को केन्द्रीय नियंत्रण में तथा प्रान्तीय राजस्व को प्रान्तीय नियंत्रण में रखा गया। विभाजित मदों से प्राप्त होने वाली आय को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बीच बराबर-बराबर बांटने का निश्चय किया गया। विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में 1907 में चार्ल्स हॉब हाऊस की अध्यक्षता में एक शाही आयोग नियुक्त किया गया। आयोग ने सिफारिश की, कि गवर्नर जनरल को प्रान्तीय राजस्व में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। 1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय बजट केन्द्र सरकार से बिल्कुल पृथक कर दिए गये और प्रान्तीय सरकारों को अपने बजट के निमार्ण का पूर्ण अधिकार दिया गया। प्रान्तों को पहली बार प्रान्तीय या स्थानीय प्रकृति के कर लगाने का अधिकार मिला। 1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय स्वायत्ता की व्यवस्था की गयी और संघीय सरकार तथा प्रान्तों के बीच तीन सूचियों के आधार पर न केवल कार्यों का वर्गीकरण किया गया, बल्कि वित्तीय साधनों

का भी विभाजन किया गया। संघ सरकार तथा राज्यों के पृथक-पृथक आय साधन रखे गये । कुछ सीमा में प्रान्तों को उधार लेने का अधिकार भी दिया गया। प्रान्तों को अपना घाटा पूरा करने के लिए केन्द्र सरकार की ओर से निमेंयर रिपोर्ट के अनुसार वित्तीय सहायता प्रदान की गयी। निमेंयर रिपोर्ट की इस बात को स्वीकार कर लिया गया, कि आयकर की भी आधी धनराशि प्रान्तों में बांट दी जाए।

1.2.3.4 पुलिस प्रशासन का विकास

मुगल साम्राज्य के विघटन के उपरान्त भारत में कानून-व्यवस्था की स्थिति बगड़ती गयी। पुलिस शक्ति क्षेत्रीय जमीदारों के हाथ आ गयी। जब क्लाइव ने बंगाल की दीवानी प्राप्त की तो उसने प्रचलित प्रशासनिक व्यवस्था को बनाए रखा। वारेन हेस्टिंग्स ने भी पुलिस व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया। सर्वप्रथम कार्नवालिस ने एक संगठित पुलिस व्यवस्था की शुरुआत की। उसने थाना व्यवस्था का आधुनिकीकरण किया तथा प्रत्येक क्षेत्र में एक पुलिस थाने की स्थापना कर उसे एक दरोगा के अधीन रखा। जिला स्तर पर जिला पुलिस अधीक्षक के पद का सृजन किया गया। ग्राम स्तर पर चौकीदारों को पुलिस शक्ति दी गयी। इस तरह आधुनिक पुलिस व्यवस्था की शुरुआत हुई।

सक्षम पुलिस व्यवस्था ने बहुत सारे उद्देश्य पूरे किए। मध्य भारत में ठगों का दमन, क्रांतिकारी षड्यंत्रों का पर्दाफाश तथा राष्ट्रीय आंदोलन को इसी पुलिस व्यवस्था के द्वारा कुचला गया। इसने भारतीय जनता के साथ क्रूर व्यवहार भी किया। 1813 ईस्वी में संसद की एक समिति ने रिपोर्ट दी कि पुलिस ने भारतीय जनता को डाकुओं की तरह प्रताड़ित किया है। वस्तुतः महत्वपूर्ण पदों पर भारतीयों की नियुक्ति के मामले में ब्रिटिश कम्पनी सतर्क रही। कार्नवालिस ने तो स्पष्ट रूप से भारतीयों को भ्रष्ट मान लिया एवं उन्हें उत्तरदायी पदों से दूर रखा। कुछ छोटे-छोटे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति अवश्य की गयी, जैसे- अमीन एवं दरोगा। 1793 ईसवीं के बाद आधिकारिक नीति भारतीयों को महत्वर्पूण पदों से वंचित करने की रही।

1.2.3.5 न्याय व्यवस्था का विकास

मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद मुगलकालीन न्याय व्यवस्था टूट गयी। मुगलकाल के उत्तरार्द्ध में भूमि सुपुर्दगी प्रथा से समृद्ध भू-स्वामियों के हाथों में आ गयी। न्यायिक शक्तियाँ भी भू-स्वामियों के हाथों में आ गयी। बंगाल की दीवानी प्राप्त करने के बाद क्लाइव ने प्रचलित व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। न्याय व्यवस्था में सुधार की दृष्टि से वारेन हेंस्टिंग्स का काल महत्वपूर्ण है। भारत में ब्रिटिश न्याय प्रणाली की स्थापना इसी काल में हुई ब्रिटिश न्याय प्रशासन भारतीय और ब्रिटिश प्रणालियों तथा संस्थाओं का सम्मिश्रण था। कानून के शासन तथा न्याय पालिका की स्वतंत्रता इस प्रणाली की विशेषता थी। वारेन हेसिटंग्स ने सिविल तथा फौजदारी मामलों के लिए अलग-अलग अदालतें स्थापित की। उसने न्याय सुधार में मुगल व्यवस्था को ही आधार बनाया।

सर्वप्रथम वारेन हेंस्टिंग्स ने सिविल अदालतों की शृंखला स्थापित की। सबसे नीचे मुखिया, फिर जिले में जिला दीवानी अदालत तथा सबसे ऊपर कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत थी। इसी तरह फौजदारी अदालतों का पुनर्गठन किया गया। प्रत्येक जिले में एक फौजदारी अदालत स्थापित की गयी जो काजी, मुफ्ती एवं मौलवी के अधीन होती थी। इसके ऊपर कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत थी।

कार्नवालिस के द्वारा उपरोक्त व्यवस्था में सुधार किए गये। उसके सुधारों में यूरोपीय तत्व प्रबल थे। कार्नवालिस ने शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के अन्तर्गत लगान प्रबन्ध से दीवानी प्रशासन को पृथक कर दिया। 1793 में कार्नवालिस संहिता द्वारा कलेक्टर से न्यायिक एवं फौजदारी शक्तियाँ ले ली गयी। जिला अदालतों के लिए श्रेणी निर्धारित की गयी तथा दीवानी अदालतों का पुनर्गठन हुआ। फौजदारी अदालतों की भी नई शृंखला बनाई गयी।

इसके अतिरिक्त विचारधारा से प्रेरित होने के कारण दण्ड-संहिता में परिवर्तन किया। विलियम बैंटिक के शासनकाल में उपयोगितावादी विचारधारा से प्रेरित होने के कारण दण्ड विधान की कठोरता को कम करने का प्रयत्न किया गया। कुछ महत्वपूर्ण न्यायिक पदों पर भारतीयों को नियुक्त किया गया। 1859 से 1861 के बीच दण्ड विधि, सिविल कार्य विधि तथा दण्ड प्रक्रिया पारित की गयी। इन सुधारों में सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही विधि प्रणाली लागू की गयी। 1861 मे भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम पारित हुआ तथा कलकत्ता एवं मद्रास में उच्च न्यायालय की स्थापना की गयी। आगे लाहौर, पटना आदि स्थानों पर भी उच्च न्यायालय स्थापित हुए।

1935 के भारत शासन अधिनियम के आधार पर एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी । इस न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश तथा सरकार द्वारा नियुक्त अन्य न्यायाधीश होते थे। न्यायालय के क्षेत्र में प्रारम्भिक एवं अपीलीय तथा परामर्श सम्बन्धी विषय थे। प्रान्तीय न्यायालयों को दीवानी, आपराधिक, वसीयती, गैर-वसीयती और वैवाहिक क्षेत्राधिकार मौलिक एवं अपीलीय दोनों प्रकार के प्राप्त थे।

अभ्यास प्रश्न-

1. रेग्यूलेटिंग एक्ट कब पारित हुआ?
2. पिट्स इंडिया एक्ट कब पारित हुआ?
3. ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारतमें आगमन कब हुआ?
4. 1919 के अधिनियम को किस नाम जाना जाता है?
5. केन्द्रीय स्तर पर द्विसंदनीय व्यवस्थापिका की स्थापना किस अधिनियम से हुई?
6. अशोक ने किस शिलालेख में घोषणा की कि “सारी प्रजा मेरी संतान है”?
7. अर्थशास्त्र के लेखक कौन हैं?
8. मेगस्थनीज की पुस्तक का क्या नाम है?

1.3 सारांश

इस प्रकार उपरोक्त अध्ययन के पश्चात आप यह जानने और समझने में सक्षम हो गये होंगे कि किस प्रकार से भारतीय प्रशासन प्राचीन मौर्य काल से अपनी विकास की यात्रा शुरु करके मुगल काल से होते हुए ब्रिटिश काल तक की यात्रा पूर्ण की है। इस अध्ययन में आप ने यह देखा कि मौर्य साम्राज्य का स्वरूप राजतंत्रात्मक था जिसमें शासन का प्रधान राजा होता था। राजपद एक महत्वपूर्ण पद हो गया और इस पद की शक्ति एवं अधिकार बढ़ गये। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियाँ भी थी। राजा की खुशी प्रजा की खुशी पर निर्भर करती थी। जनकल्याण पर राजा का कल्याण आश्रित था। राज्य में रहने वाले लोगों के हितों का सम्पादन ही राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था। प्रशासन के शीर्ष पर बादशाह होता था। वह सभी प्रकार के सैनिक एवं असैनिक मामलों का प्रधान होता है था। बादशाह मुगल साम्राज्य के प्रशासन की धुरी था और बादशाह की उपाधि धारण करता था, जिसका आशय था कि राजा अन्य किसी भी सत्ता के अधीन नहीं है। वह समस्त धार्मिक तथा धर्मोत्तर मामलों में अंतिम निर्णायक व अंतिम सत्ताधिकारी है। वह सेना, राजनीतिक, न्याय आदि का सर्वोच्च पदाधिकार है। वह सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र है तथा खुदा का प्रतिनिधि है। इसके बाद भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कम्पनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य का भारतीय प्रशासन के विविध पक्षों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

1.4 शब्दावली

राजतंत्र- राजतंत्र वह शासन है जिसमें शासन का प्रधान राजा होता है। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियाँ निहित हों।

सद्र-उस-सूद्र- यह बादशाह का मुख्य धार्मिक परामर्शदाता होता था। यह धार्मिक अनुदानों को नियंत्रित करता था। साथ ही यह धार्मिक मामलों से संबंधित मुकद्दमे भी देखता था।

मुख्य काज- मुगल काल में यह न्याय विभाग का प्रधान होता था।

जागीरदारी प्रथा- मुगल काल में राजपूत जमींदारों के माध्यम से भू-राजस्व संग्रह करने की प्रथा, जो सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली थे और जाति, गोत्र के आधार पर विभाजित थे। अकबर मनसबदारों का वेतन नकद में देना चाहता था, किन्तु उस समय के कुलीन-वर्ग को भू-संपत्ति से जबर्दस्त आकर्षण था। इसलिए जागीरदारी प्रथा के अन्तर्गत कुछ अधिकारियों को जागीर में वेतन दिया जाता था।

इक्तादारी और जागीरदारी प्रथा- दिल्ली सल्तनत काल में इक्तादारी पद्धति प्रचलित थी और इक्ता के मालिक इक्तादार कहे जाते थे। इक्तादारी पद्धति भी कृषकों से अधिशेष प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण जरिया था किन्तु इक्ता और जागीर में एक महत्वपूर्ण अंतर यह था कि इक्ता में भूमि का आबंटन होता था, जबकि जागीर में भू-राजस्व का आबंटन होता था। जागीरदारी व्यवस्था और इक्तादारी व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण अंतर यह भी था कि जागीरदारों को केवल भू-राजस्व की वसूली का अधिकार दिया गया था, संबंधित क्षेत्र के प्रशासन का नहीं।

1.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1773, **2.** 1784, **3.** 1600, **4.** मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड, **5.** मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड, **6.** धौली शिलालेख, **7.** कौटिल्य, **8.** इंडिका

1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।

2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया।

3. भारतीय लोक प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

1.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी0डी0 बसु।

2. भारतीय लोक प्रशासन- एस0सी0 सिंहल।

1.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश काल में भारतीय प्रशासन के विकास पर निबंध लिखिये।

2. मुगल प्रशासन,केन्द्रीय प्रशासन था, स्पष्ट कीजिये।

3. मौर्य प्रशासन में राजा पर कर्त्तव्य का अंकुश था, व्याख्या कीजिये।

इकाई-2 भारतीय प्रशासन की विशेषताऐं

इकाई की संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदायी कारण
2.3 भारतीय प्रशासन की विशेषताऐं
    2.3.1 गतिशील प्रशासन
    2.3.2 विकास प्रशासन
    2.3.3 उत्तरदायी प्रशासन
    2.3.4 नौकरशाही एवं लालफीताशाही
    2.3.5 प्रशासन की तटस्थता
    2.3.6 सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ
    2.3.7 प्रशासन की बढ़ती हुई शक्तियाँ
    2.3.8 प्रशासन का लक्ष्य सामाजिक-आर्थिक न्याय
    2.3.9 समन्वित प्रशासन
2.4 सारांश
2.5 शब्दावली
2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.9 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

प्रथम इकाई के अध्ययन के पश्चात आप यह जानने और समझने में सक्षम हो गये होंगे कि किस प्रकार से भारतीय प्रशासन प्राचीन मौर्य काल से अपनी विकास की यात्रा शुरु करके मुगल काल से होते हुए ब्रिटिश काल तक की यात्रा पूर्ण की है। भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कम्पनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य का भारतीय प्रशासन के विविध पक्षों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

इस इकाई में हम भारतीय प्रशासन की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। जिसमें हम स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदाई कारणों का अध्ययन करते हुए संसदीय लोकतंत्र, संघात्मक शासन, स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन की बदलती प्रकृति (प्रशासन के लक्ष्यों और उद्देश्यों में परिवर्तन) का अध्ययन करेंगे। साथ ही यह भी देखेंगे कि किस प्रकार भारतीय संविधान, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है और अंततः हम यह अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार भारतीय प्रशासन गतिशील प्रशासन है, विकास प्रशासन है, उत्तरदायी प्रशासन है और राजनीतिक उथल-पुथल से अपने को अलग रखते हुए सामाजिक-आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समन्वित रूप से कार्य कर रहा है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदायी कारणों को जान सकेंगे।
- भारतीय प्रशासन की विशेषताओं को जान सकेंगे।
- संसदीय लोकतंत्र की स्थापना के उद्देश्यों को जान सकेंगे।
- संघात्मक शासन और उसकी स्थापना के कारणों को जान सकेंगे।

2.2 स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदायी कारण

जैसाकि हम जानते है कि 15 अगस्त 1947 को हमारे देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। देश को आजादी मिलाने के साथ ही उन सपनों को साकार करने के लिए भी प्रयास शुरू किये जाने लगे, जिनको लक्ष्य मानकर आजादी के दीवानों ने संघर्ष किया था। लेकिन उन सपनों को साकार करने के लिए यह आवश्यक था कि उसके अनुरूप प्रशासनिक तंत्र का निर्माण किया जाए साथ ही साथ इस नवनिर्मित प्रशासनिक तंत्र के लक्ष्य भी स्पष्ट किये जाए। स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई कारण उत्तरदाई थे, जो निम्नलिखित हैं-

2.2.1 संसदीय लोकतंत्र की स्थापना

स्वतंत्रता के पश्चात देश में संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की गयी। आजादी के पूर्व कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थी, वह केवल ब्रिटिश आकाओं के प्रति ही उत्तरदायी थी। परन्तु संसदीय लोकतंत्र की स्थापना के साथ ही कार्यपालिका को विधायिका के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। कार्यपालिका का अर्थ मंत्री-मण्डल से है, जबकि विधायिका का तात्पर्य कानून निर्माण करने वाली संस्था 'संसद' से है। कार्यपालिका का गठन संसद के सदस्यों में से किया जाता है और कार्यपालिका के गठन का अवसर उस दल को मिलाता है, जिसे संसद के निम्न सदन में बहुमत प्राप्त होता है और संसद के निम्न सदन में जनप्रतिनिधि होते हैं जो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनकर आते है। इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि कार्यपालिका अपने अस्तित्व के लिए जनप्रतिनिधियों के बहुमत के साथ समर्थन पर निर्भर करती है और ये जनप्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार अब प्रशासन ,ब्रिटिश शासन के विपरीत,जनता के प्रति उत्तरदायी हैं।

2.2.2 संघात्मक शासन की स्थापना

ब्रिटिश शासन के समय हमारे देश में एकात्मक शासन था जिसमे एक केन्द्र से शासन संचालित किया जाता था। जब कि हमारे देश में भौगोलिक ,सामाजिक और सांस्कृतिक भिन्नताऐं पायी जाती हैं, इन भिन्नताओं के साथ इनकी समस्याऐं भी भिन्न प्रकृति की होती हैं, इसलिये इनका स्थानीय आधार पर बेहतर समाधान किया जा सकता है। शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के आधार संघात्मक शासन की स्थापना की गयी जो सामाजिक और सांस्कृतिक भिन्नताओं को बनाए रखने के साथ ही उनकी समस्याओं के स्थानीय स्तर पर समाधान संभव हो सका।

2.2.3 प्रशासन की प्रकृति में परिवर्तन (प्रशासन के लक्ष्यों और उद्देश्यों में परिवर्तन)

जैसा कि यह सर्वविदित है कि भारतीय संविधान में उन लक्ष्यों और उद्देश्यों का स्पष्ट प्रावधान किया गया है, जिनकी सिद्धि के लिए प्रशासन को करना है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि स्वतंत्रता के पहले हमारे देश का प्रशासन नियामकीय प्रकृति का था, दूसरे शब्दों में प्रशासन के कार्य मुख्यतःनियामकीय थे, अर्थात प्रशासन का मुख्य कार्य क़ानून और व्यस्था बनाये रखना था, जिससे अंग्रेज शासन को अपने लक्ष्यों की सिद्धि में अनवरत सहूलियत बनी रहे।

परन्तु स्वतंत्रता के उपरान्त संविधान निर्माताओं ने स्पष्ट रूप से उन लक्ष्यों का प्रावधान किया जिनको ध्यान में रखकर प्रशासन को संचालित किया जाना था। पहले प्रशासन जनता पर अपना दबाव बनाकर कार्य करता था, जनता के कोई मौलिक अधिकार नहीं थे, जनता का यह दायित्व था की प्रशासन के निर्देशों का पालन करता रहे। किन्तु आजादी के बाद अब प्रशासन जनता के लिए काम करता है, क्योंकि जिसकी हम आप को ऊपर बता चुके हैं कि हमारे देश में संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की गयी, जिसमें सरकार जनता द्वारा निर्वाचित होती है और जनता के लिए काम करती है, इसलिए अब प्रशासन जनता के दबाव में काम करता है। संविधान के द्वारा मौलिक अधिकारों का प्रावधान किया गया। ये वे अधिकार हैं, जो राज्य और व्यक्तियों के विरूद्ध प्रदान किये गये हैं। अर्थात इन अधिकारों के उल्लंघन होने पर चाहे वे व्यक्ति के द्वारा हों या राज्य के द्वारा हों, व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अनुच्छेद- 32 के अनुसार सर्वोच्च न्यायलय और अनुच्छेद- 226 के तहत उच्च न्यायलय में जा सकता है।

इसी के साथ-साथ संविधान के भाग- 4 में नीति-निदेशक तत्वों का उपबन्ध भी करके राज्य को कुछ कल्याणकारी दायित्व भी सौंपे गये , जिनको लागू करने की जिम्मेदारी प्रशासन की है।

2.2.4 समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राज्य

हमारे मूल संविधान में समाजवादी और 'पंथनिरपेक्ष' शब्द का समावेश नहीं किया गया था। 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा इनका समावेश संविधान किया गया। इन शब्दों के समावेश से प्रशासन के लक्ष्यों में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए इनके अर्थ को भी स्पष्ट करना आवश्यक है। समाजवाद का तात्पर्य है कि राज्य लोगों के बीच आय की असमानताओं को न्यूनतम करने प्रयास करेगा। पंथनिरपेक्ष का अर्थ है कि राज्य का अपना कोई राजधर्म नहीं होगा, इसका तात्पर्य यह भी है कि राज्य सभी धर्मों के साथ सामान बर्ताव करेगा, किसी के साथ किसी भी प्रकार का पक्षपातपूर्ण व्यवहार नहीं करेगा। यद्यपि इन शब्दों के संविधान में समावेश के पूर्व भी ऐसे लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उपबन्ध थे। इन उपबन्धों से प्रशासन की जिम्मेदारी में आमूलचूल परिवर्तन आया है।

2.3 भारतीय प्रशासन की विशेषताऐं

इस प्रकार से स्वतंत्रता के उपरान्त भारतीय प्रशासन के उद्देश्यों और लक्ष्यों में अभूतपूर्व परिवर्तन आया है। इस परिवर्तन के कारण भारतीय प्रशासन में निम्नलिखित विशेषताऐं दिखाई पड़ती हैं, जो इस प्रकार हैं-

2.3.1 गतिशील प्रशासन

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं कि आजादी के बाद प्रशासन के उद्देश्यों और लक्ष्यों में आमूलचूल परिवर्तन देखने को मिल रहा है। आज प्रशासन जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बन गया है। समय के बदलाव के साथ नित्य नई आवश्यकताऐं और समस्याऐं पैदा होती रहती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति और समस्याओं के समाधान हेतु प्रशासन को निरन्तर तत्पर रहना होता है और बदलती परिस्थितियों के अनुरूप अपने ढालते रहना है, क्योंकि अब प्रशासन जनता के स्वामी के रूप में नहीं वरन सेवक के रूप में कार्य कर रहा है।

2.3.2 विकास प्रशासन

विकास प्रशासन एक परिवर्तनशील अवधारणा है जो निरन्तर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों को लाने के लिए प्रयत्नशील है, साथ ही इन परिवर्तनों को सकारात्मक दिशा देने का भी कार्य कर रहा है। इसका सम्बन्ध योजना के निर्माण, इसके निर्माण हेतु आवश्यक पूर्वाश्यक्ताओं की पूर्ति से भी सम्बन्ध रखता है।

विकास प्रशासन का सम्बन्ध नीतियों के कार्यान्वियन से है, इसलिए सरकार के जनकल्याणकारी और सशक्तिकरण सम्बन्धी नीतियों के क्रियान्वयन की जिम्मेदारी भी इसी पर होती है।

2.3.3 उत्तरदायी प्रशासन

संसदीय शासन की एक प्रमुख विशेषता, उत्तरदायी शासन की स्थापना। चूँकि हमारे देश में संसदीय शासन में निम्न सदन(लोक सभा) के सदस्यों का चुनाव जनता के द्वारा, प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है। मंत्री-परिषद का गठन संसद के सदस्यों में से ही किया जाता है। मंत्री-परिषद के सदस्य सम्बंधित विभाग के अध्यक्ष (राजनीतिक प्रमुख) होते हैं। इसलिए अपने विभाग के कार्यों के लिए वे जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

2.3.4 नौकरशाही एवं लालफीताशाही

हमारे देश में नौकरशाही का एक विस्तृत ढ़ाँचा विद्यमान है, जो नीति-निर्माण में सहयोगी भूमिका से लेकर, नीति के क्रियान्वयन तक के कार्यों में सक्रिय रहती है। परन्तु यह नौकरशाही अपने दायित्वों के निर्वहन में नियम-कानून और प्रक्रिया पर ज्यादा जोर देती दिखायी देती है, जिससे ये नियम-कानून और प्रक्रिया पर ज्यादा जोर देना ही साध्य के रूप में दिखायी देने लगता है, जिससे लालफीताशाही का दोष प्रशासन में उभरकर सामने आता है।

2.3.5 प्रशासन की तटस्थता

भारतीय प्रशासन की एक और महत्वपूर्ण विशेषता इसकी राजनीतिक तटस्थता। अर्थात लोक सेवक अपने सार्वजनिक जीवन में राजनीतिक अभिव्यक्तियों अर्थात राजनीतिक विचारों और व्यवहारों से सर्वथा दूर रखता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रशासनिक अधिकारी बिना किसी दलीय निष्ठा के पूर्वाग्रह से मुक्त होकर अपने दायित्वों का निर्वहन करता है। सरकार चाहे किसी भी दल की हो, उसका सम्बन्ध केवल नीतियों के निष्पक्ष क्रियान्वयन से होता है न कि दलीय भावना से। इस तरह के राजनीतिक तटस्थता के लिए लोक सेवकों हेतु भारतीय संविधान में उपबंध किये गये हैं।

2.3.6 सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ

आजादी के बाद सामान्य रूप से प्रशासन में सामान्यज्ञों की नियुक्ति होती थी, किन्तु उसके बाद के समय में विभिन्न प्रकार की जरूरतों को पूरा करने के लिए विशेषज्ञों की भी नियुक्ति की जाने लगी। जैसे डॉक्टर, इंजीनीयर, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, कृषि वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री,विधिवेत्ता आदि।

2.3.7 प्रशासन की बढ़ती हुई शक्तियाँ

स्वतन्त्रता के पूर्व प्रशासन की प्रकृति नियामकीय थी, जिसका प्रमुख लक्ष्य कानून और व्यवस्था बनाए रखना था। परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की गयी, जिसमे सरकार जनता की भलाई के लिए कार्य करती है न कि अपने लाभ के लिए, जैसा कि अंग्रेज शासन काल में हुआ करता था। स्वतन्त्रता के पश्चात संविधान निर्माताओं ने मूलभूत सामजिक आर्थिक लक्ष्यों की घोषणा की है। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नियोजन प्रक्रिया प्रारम्भ की गयी। इस कारण से प्रशासन की शक्तियों में अभूतपूर्व वृद्धि कर दी है। नित्य नवीन कल्याणकारी योजनाऐं लागू की जा रही हैं, इनको लागू करने की जिम्मेदारी प्रशासन पर ही होती है। इसके साथ ही साथ अब तो सशक्तिकरण से सम्बंधित नीतियां भी लागू की जा रही हैं, जिससे समाज में अब तक हासिए पर रहे समुदायों को भी समाज की मुख्य धारा से जोड़ा जा सके। यदि इन सब बातों को हम संक्षेप में कहें तो यह है कि व्यक्ति के जन्म से पूर्व माँ के स्वास्थ्य, जन्मोपरान्त जन्म प्रमाण-पत्र, बच्चे के स्वास्थ्य, पोषण, नाना प्रकार के टीके, जनगणना, उसकी शिक्षा, रोजगार, विवाह पंजीकरण, बृद्धावस्था में उनके हित में विभिन्न प्रकार के सामाजिक

सुरक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम और अंततः मृत्यु पंजीकरण और इसी प्रकार से अन्य जो भी लोकहित में आवश्यक कार्य हों प्रशासन के द्वारा ही किये जाते हैं। लोकतंत्र में प्रशासन की बढती जिम्मेदारियों ने उसकी शक्तियों में भी अभूतपूर्व बृद्धि कर दी है।

2.3.8 प्रशासन का लक्ष्य सामाजिक-आर्थिक न्याय

लंबे संघर्ष के पश्चात देश को आजादी मिली थी, जिसका उद्देश्य देशवासियों को उन सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों से सुसज्जित करना था, जिनसे अभी तक वे वंचित रहे हैं, क्योंकि परम्परागत भारतीय समाज में कुछ सामाजिक और आर्थिक निर्योग्यताऐं प्रचलित थीं। जैसे अश्पृश्यता(छुआ-छूत), व्यवसाय की निर्योग्यताऐं आदि। हमारे संविधान में एक तरफ तो इन निर्योग्यताओं को समाप्त किया गया तो दूसरी तरफ संविधान के द्वारा देशवासियों को विभिन्न प्रकार के सामाजिक और आर्थिक अधिकार प्रदान किये गये, जिससे वे सम्मान पूर्वक अपना जीवन यापन कर सकें। इस प्रकार के व्यापक उपबंध हमारे संविधान भाग-3 में मूलाधिकार और भाग-4 के नीति-निदेशक तत्वों में किये गये हैं।

2.3.9 समन्वित प्रशासन

हमारे देश में भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विविधताऐं हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए संविधान निर्माताओं ने संघात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया। जिसकी मुख्य विशेषता- लिखित, निर्मित और कठोर संविधान, संघ सरकार और राज्य सरकार के बीच शक्तियों का विभाजन, संविधान की व्याख्या, नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा और संघ सरकार और राज्य सरकार के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों का निराकरण करने के लिए स्वतन्त्र, निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायलय की स्थापना। इसके साथ ही साथ मजबूत केन्द्र की स्थापना के लिए एकात्मक शासन के मुख्य प्रावधानों को भी सम्मिलित किया गया। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि देश, स्वतंत्रता के समय दुखद विभाजन को देख चुका था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए संघ और राज्य के लिए सम्मिलित सेवाओं का प्रावधान किया गया, जिसे अखिल भारतीय सेवा कहते हैं। जिसमें तीन अखिल भारतीय सेवाऐं हैं, पहला- भारतीय प्रशासनिक सेवा, दूसरा- भारतीय पुलिस सेवा और तीसरा- भारतीय वन सेवा। इन सेवाओं का उद्देश्य केन्द्र और राज्य के बीच सहयोग को निरंतर प्रोत्साहित करना, जिससे राष्ट्र निर्माण का कार्य सफलता पूर्वक किया जा सके और कल्याणकारी और सशक्तिकारक नीतियों को भी सफलतापूर्वक लागू किया जा सके। यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि केन्द्र सरकार के पास अपना कोई अलग प्रशासनिक तंत्र नहीं है, अपितु केन्द्र की नीतियों को भी सफलतापूर्वक लागू करने में राज्य के प्रशासनिक तंत्र से सहयोग लिया जाता है।

भारतीय प्रशासन की उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही साथ इसके कुछ अन्य पक्षों का भी अध्ययन करना आवश्यक होगा जो कि इनमें प्रायः दिखाई देता है-

- पिछले कुछ वर्षों में यह तथ्य उभरकर सामने आया है की प्रशासनिक अधिकारियों के अपने दायित्वों के निर्वहन में राजनीतिक हस्तक्षेप दिखाई दे रहा है, परिणामस्वरूप प्रशासकों में निराशा की भावना प्रबल होती दिखाई देती है। राजनीति में अपराधीकरण बहुत ही चिंता का विषय है। इसके निराकरण हेतु कोई संस्थागत उपाय और उन उपायों का समुचित क्रियान्वयन का प्रबंध करना उपयोगी होगा।
- कल्याणकारी योजनाओं, विकास कार्यों और सशक्तिकारक नीतियों के क्रियान्वयन में जनता की सक्रीय भागीदारी नहीं हो पाती है, जिसके फलस्वरूप नीतियों और कार्यक्रमों की सफलता संदिग्ध हो जाती है। इसका प्रमुख कारण प्रशासन के द्वारा जनता को साथ लेकर न चलने की प्रबृत्ति है। इस लिए आवश्यकता इस बात की है प्रशासन को जनता के प्रति संवेदनशील बनाया जाये और प्रशासकों के लिए भी नियत

अंतराल पर नियमित प्रशिक्षण कार्यक्रम संचालित किये जाते रहें। साथ ही जिस क्षेत्र और जिस समुदाय विशेष के लिए नीति का निर्माण किया जाना है, उसकी भी नीति-निर्माण में भागीदारी सुनिश्चित करने के उपाय किये जाने चाहिए।

- देश को आजाद हुए छः दशक से अधिक हो चुके हैं,परन्तु आज भी समाज का ढ़ाँचा सामंतवादी ही दिखाई देता है, फलस्वरूप बहुत से कार्यक्रमों का लाभ आम आदमी तक नहीं पहुँच पाता है। जिसकी चर्चा हमारे एक पूर्व प्रधानमन्त्री कर चुके हैं, जिसमें उन्होंने यहाँ तक कहा कि गाँव के लिए भेजे गये एक रुपये में, मात्र 15 पैंसे ही उन तक पहुँच पाता है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इस तरह की सुविधाऐं देश के आम आदमी तक पहुँचे। इसके लिए सामाजिक अंकेक्षण जैसे उपायों के साथ इस प्रकार के अन्य उपायों को भी अपनाने पर जोर दिया जाना चाहिए।
- वोहरा समिति (1955) ने अपने प्रतिवेदन में राजनीतिज्ञों, प्रशासकों और माफियाओं के बीच संबंधों को उजागर करके यह स्पष्ट कर दिया कि अधिकतर योजनाएं आम आदमी के नाम से संचालित तो हो रही हैं, परन्तु उनका वास्तविक लाभ लक्षित व्यक्ति और समूह तक नहीं पहुँच पा रहा है।

अभ्यास प्रश्न-

1. 15 अगस्त 1947 को हमारे देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। सत्य/असत्य
2. संसद के निम्न सदन के जनप्रतिनिधि, जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनकर आते हैं। सत्य/असत्य
3. शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के आधार संघात्मक शासन की स्थापना की गयी है। सत्य/असत्य
4. मूल अधिकारों के उल्लंघन होने पर व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अनुच्छेद- 32 के अनुसार सर्वोच्च न्यायलय और अनुच्छेद- 226 के तहत उच्च न्यायलय में जा सकता है। सत्य/असत्य
5. संविधान के भाग-4 में नीति निदेशक तत्वों का उपबंध किया गया है। सत्य/असत्य
6. 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा समाजवादी, पंथनिरपेक्ष और अखण्डता का समावेश संविधान में किया गया। सत्य/असत्य
7. संविधान के भाग-3 में मूल अधिकारों का प्रावधान किया गया है। सत्य/असत्य

2.4 सारांश

इस इकाई में हमने स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदाई कारणों का अध्ययन किया जिसमें संसदीय लोकतंत्र, संघात्मक शासन, स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन की बदलती प्रकृति (प्रशासन के लक्ष्यों और उद्देश्यों में परिवर्तन) का अध्ययन किया है। साथ ही यह भी अध्ययन किया कि किस प्रकार भारतीय संविधान, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है और अंततः हमने यह अध्ययन किया कि किस प्रकार भारतीय प्रशासन, गतिशील प्रशासन है, विकास प्रशासन है, उत्तरदायी प्रशासन है और राजनीतिक उथल-पुथल से अपने को अलग रखते हुए सामाजिक-आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समन्वित रूप से कार्य कर रहा है। साथ ही यह भी देखा कि किस प्रकार से प्रशासन में लालफीताशाही के दुर्गुण उभरे हैं, जिसमें सामाजिक-आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपनायी जाने वाली प्रक्रिया को इतना महत्व देते दिखाई देते हैं कि, लक्ष्य गौण हो जाते हैं।

परन्तु बावजूद इसके स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय प्रशासन ने सामाजिक-आर्थिक न्याय की स्थापना के मार्ग पर चलने का अच्छा प्रयास किया है, किन्तु बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालकर जन-आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

2.5 शब्दावली

संसद- भारत में कानून निर्माण की सर्वोच्च संस्था है जो राष्ट्रपति, राज्य सभा और लोक सभा से मिलकर बनती है।

संघात्मक शासन- स्थानीय स्वायत्तता के साथ राष्ट्रीय एकता और सुरक्षा को ध्यान में रखकर स्थापित की जाने वाली शासन व्यवस्था है।

समाजवादी- भारत के सन्दर्भ में इसका अर्थ यह है कि राज्य लोगों के बीच आर्थिक असमानताओं को न्यूनतम करने का प्रयास करेगा।

पंथनिरपेक्ष- इसका अर्थ है कि राज्य का अपना कोई राजधर्म नहीं होगा और वह सभी धर्मों को सामान रूप से संरक्षण प्रदान करेगा।

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य, **6.** सत्य, **7.** सत्य

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया।
2. भारतीय लोक प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

2.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी0डी0 बसु।
2. भारतीय लोक प्रशासन- एस0सी0 सिंहल।

2.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय प्रशासन के विशेषताओं की विवेचना कीजिये।
2. स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय प्रशासन की प्रकृति में परिवर्तन के कारणों को स्पष्ट कीजिये।

इकाई-3 भारतीय प्रशासन का सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीति, आर्थिक और संवैधानिक पर्यावरण

इकाई की संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 भारतीय प्रशासन का पर्यावरण
3.2.1 भारतीय प्रशासन सांस्कृतिक पर्यावरण
3.2.2 भारतीय प्रशासन सामाजिक पर्यावरण
3.2.3 भारतीय प्रशासन राजनीतिक पर्यावरण
3.2.4 भारतीय प्रशासन आर्थिक पर्यावरण
3.2.5 भारतीय प्रशासन संवैधानिक पर्यावरण
3.3 सारांश
3.4 शब्दावली
3.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.8 निबंधात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

पर्यावरण दो शब्द 'परि' और 'आवरण' से मिलकर बना है। जिसका शब्दिक अर्थ हैं चारों ओर घिरा हुआ। समाजिक विज्ञान में पर्यावरण का स्वरूप प्राकृतिक विज्ञान के जैविकीय एवं अजैविकीय संघटनों से भिन्न है। यद्यपि लोक प्रशासन में पर्यावरण या परिवेश अथवा परिस्थिति के अध्ययन का विचार वनस्पति विज्ञान से ग्रहण किया गया है। परन्तु तात्विक रूप से दोनों में भिन्नता है।

डॉ0 एम0पी0 शर्मा के अनुसार किसी भी सामाजिक व्यवस्था में पर्यावरण का अर्थ होता है संस्थान, इतिहास, विधि, आचारशास्त्र, दर्शन, धर्म, शिक्षा, परम्परा, विश्वास, मूल्य, प्रतीक, पौराणिक गाथाऐं आदि जिसमें भौतिक एवं अभौतिक नाचने-गाने तथा अन्य प्रकार के मनोरंजन और कलाऐं सम्मिलित हैं।

जबकि जीव विज्ञान में पर्यावरण से तात्पर्य सृष्टि के छोटे बड़े सभी जीवधारियों और प्रकृति के समस्त अजैविक तत्वों का समाहार है, जो जीवित प्राणीयों के अस्तत्व जीवन ओर पुनरूत्पादन को प्रभावित करते है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारतीय प्रशासन में पर्यावरण का क्या तात्पर्य है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन सांस्कृतिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन सामाजिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन राजनीतिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन आर्थिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन संवैधानिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

3.2 भारतीय प्रशासन का पर्यावरण

सन् 1961 में एफ0डी0 रिग्स की पुस्तक 'द इकोलॉजी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक ने इस क्षेत्र में तहलका मचा दिया। इस पुस्तक में लोक प्रशासन तथा पर्यावरण के बीच परस्पर क्रिया को तुलनात्मक ढंग से समझने का प्रयास किया गया था। रिग्स के अतिरिक्त जॉन एम0 ग्रास, संवर टफल, रास्को पार्टिन आदि विद्वानों ने लोक प्रशासन में पर्यावरण के अध्ययन को व्यापक विस्तृत बनाया है। आज जब राज्य का स्वरूप प्रशासनिक हो गया है। किसी भी संस्थान या संगठन के विस्तृत विवेचन हेतु पर्यावरण का अध्ययन एवं विवेचन आवश्यक हो गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि लोक प्रशासन कई तत्वों से प्रभावित होता है जैसे सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिवेश। लोक प्रशासन समाज विज्ञान के अन्तर्गत है। इसे समझने के लिए देश में चारों ओर होने वाली घटनाओं का अध्ययन आवश्यक है। अब लोक प्रशासन के विषय के अन्तर्गत यहाँ भारतीय प्रशासन के सन्दर्भ पर्यावरण की चर्चा करेंगे।

3.2.1 भारतीय प्रशासन का सांस्कृतिक पर्यावरण

संस्कृति शब्द मूल रूप से संस्कृत भाषा का शब्द है। संस्कृति अंग्रजी भाषा के 'Culture' शब्द का रूपान्तरण है। कलचर शब्द लैटिन भाषा के कलचुरा तथा कोलियर शब्द से बना है जिसका अर्थ है उत्पादन और परिष्कार। अतः संस्कृति के अन्तर्गत समुदाय के रहन सहन, खानपान, जीवन शैली, बौद्धिक उपलब्धियों एवं जीवन दर्शन आते हैं। जी0ई0 ग्लैडन ने अपनी पुस्तक 'डायनामिक ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' में लोक प्रशासन और संस्कृति पर्यावरण के संबंधों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि यदि प्रशासनिक संस्कृति, रूपान्तरण के कारण हुई प्रगति से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती है तो सामाजिक असंतोष और हिंसा से सामाजिक ढ़ाँचा अंततः ध्वस्त हो जायेगा। सामाजिक संस्कृति की अनुकूल क्षमता ही प्रशासन में लोक सामंजस्य और व्यवस्था बनाये रखने में प्रमुख भूमिका निभाती है।

भारतीय संस्कृति के विषय में एक चिर-परिचित और प्रिय उक्ति है। 'भारतीय संस्कृति में अनेकता में एकता का समावेश है'। भारतीय संस्कृति की धारा का मूल स्रोत वैदिक धर्म है। यही सनातन धर्म के नाम से विख्यात है। यह भी सत्य है कि वैदिक आर्य और उनकी संस्कृति अपनी पूर्ववर्ती सिन्धु संस्कृति से भी प्रभावित रही है। कालान्तर में विकसित हिन्दू संस्कृति में कई अवैदिक तत्वों का समावेश किया गया है। जैसे शिव महादेव की कल्पना। पीपल की पूजा, पशुओं की देव वाहन के रूप में कल्पना आदि। भारतीय संस्कृति की धारा में निरन्तरता प्रवाहता सदैव बनी रही। मध्यकाल में इस्लामिक संस्कृति आगमन व ईसाई संस्कृति इसे अवरूद्ध ना कर सकी। बल्कि इसकी अपनी अमरता ने परिष्कृत ही किया है। मध्यकाल के भक्ति आंदोलन और आधुनिक काल के नवजागरण इसके प्रमाण है। भारत अनेक जातियों, धर्मों और भाषाओं का जमघट है। भारत के राजनैतिक इतिहास में अनेक जातियों के प्रवेश किया है। उनकी न केवल भाषाओं बल्कि धर्म, विश्वास, परम्परा भिन्न रही है। 15 अगस्त 1947 के बाद में भारत अपनी अखण्डता अक्षुणता को अवश्य बनाये हुए है, परन्तु एक राष्ट्र राज्य के रूप में अभी बहुत कुछ

किया जाना बाकी है। इसकी सांस्कृतिक भिन्नताऐं इसमें अवरोध उत्पन्न करती है। प्रशासनिक सन्दर्भ में तो भिन्नताऐं बहुत अधिक पीड़ादायक सिद्ध हुई।

सहिष्णुता जहाँ एक नैतिक आदर्श प्रस्तुत करके सामाजिक जीवन को सरल, सुगम दर्शन प्रदान करते हैं, वहीं प्रशासनिक दृष्टिकोण से यही चीजें कठिनाईयां प्रस्तुत करती हैं। प्रशासन मानव जीवन को सुखमय और संघर्ष रहित बनाने के लिए होता है। परन्तु महज सांस्कृतिक भिन्नता के कारण भिन्न समुदायों के लिए भिन्न-भिन्न कार्यक्रमों का निर्माण करना और उनको क्रियान्वित करना थोड़ा कठिन होता है। यद्यपि प्रशासनिक श्रेष्ठता या हीनता का यह एक मात्र कारण नहीं है। यदि संस्कृति में कुछ और गुण विद्यमान हों तो यह दुर्गुण प्राकृतिक गुण में बदल सकता है। भारतीय प्रशासन के माध्यम से जब सामाजिक बुराईयों को दूर करने एवं प्रगतिशील व उन्नत कार्यक्रम चलाये जाते हैं तो सांस्कृतिक परम्पराओं के कारण उसका विरोध किया जाता है। जब कभी कोई सामाजिक लक्ष्य प्राप्त करने की चेष्ठा की जाती है तो भारतीय समाज के विभिन्न वर्ग सिर्फ सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों के कारण उसका विरोध करते हैं। अतः लोकतांत्रिक पृष्ठभूमि के कारण प्रशासन अवसादग्रस्त हो जाता है। स्वतन्त्रता के पश्चात राष्ट्रीय भाषा का निधारर्ण परिवार नियोजन के सम्बन्ध में कानून और अनुच्छेद- 44 का क्रियान्वयन इसके उदाहरण है।

सांस्कृतिक भिन्नता के कारण भारतीय समाज में सांस्कृतिक वैमनस्य को जन्म देता है। जिसके करण पुलिस प्रशासन पर अत्यधिक दबाव रहता है। धर्म एवं जातिगत भिन्नता के कारण उनमें आपस में खानपान, वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाते। परन्तु जब कभी शिक्षित युवा लड़के-लड़कियां प्रेम सम्बन्धों या वैवाहिक सम्बन्धों के कारण एक-दूसरे के नजदीक आते हैं, तो जाति धर्म की भिननता उनके आड़े आती है। उत्तर भारत के कुछ राज्यों हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार में ऐसे सम्बन्धों का अभिभावक कड़ा विरोध करते हैं, जिनका परिणाम कभी-कभी 'ऑनर किलिंग' जैसे अपराधों में दृष्टिगत होता है।

भाषाई आधार पर प्रदेशों का निर्माण और प्रान्तों के बीच असहयोगपूर्ण बर्ताव सांस्कृतिक भिन्नता की पृष्ठभूमि पर आधारित है। प्रान्तों का बँटवारा भौगोलिक एवं प्रशासनिक सुविधा पर होना अधिक श्रेष्ठ है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था और प्रशासन के लिए एक दु:खद सत्य है कि प्रान्तों के नेता चाहे वे सत्ता में हों या विपक्ष में राष्ट्रीय आदर्शों के प्रेरणा नहीं होते। वे मन के अनुकूल अधिक क्षेत्रीय या प्रान्तीय विभाजन चाहते हैं।

भारतीय जीवन धर्म तत्व से अनुप्राणित रहा है। धर्म शब्द स्वजातिक है और इसका अनुवाद मजहब या रिलिजन नहीं हो सकता। यहाँ धर्म का अर्थ कत्तव्यों का पालन करना है। समग्र सृष्टि को अच्छी प्रकार से धारण एवं परिपालन करने वाले तत्वों की समष्टि को ही धर्म कहते हैं। अर्थात वे तत्व जिनके रहने से समाज है और जिनके न होने पर यह समाज नष्ट हो जाता है, धर्म के अन्तर्गत आते हैं। जैसे धैर्य, क्षमा, उदारता, संतोष, ईमानदारी, पवित्रता, ज्ञान, प्रेम, दया, अहिंसा, ममता, परोपकार, सहयोग तथा अपनी भाँति दूसरों की चिन्ता करना आदि। श्रेष्ठ जीवन मूल्यों की समष्टि को ही भारतीय शास्त्रों में धर्म कहा गया है। इन तत्वों को धारण करने वाले व्यक्ति आध्यात्मिक शांति को प्राप्त कर समाज को व्यवस्थित एवं गतिमान बनाने में सहयोगी बनते हैं। चूँकि आज सत्ता धर्म के बिना सम्भव नहीं, अतः धर्म के तत्वों की रक्षा में सक्रिय होना समाज के प्रत्येक विचारशील नागरिक का पवित्र कर्तव्य बन जाता है। भारतीय जीवन में धर्म एक अग्रणी तत्व रहा। धर्म एकान्त में रहकर जीवन यापन करने वाले मनुष्यों का प्रेरक नहीं है। धर्म सामाजिक जीवन का सद्-गुण है। भारतीय राजनीतिक दर्शन में धर्म और राज्य में विरोधी संबंधों की कोई कल्पना नहीं की गयी है। आदर्श राज्य में धर्म आत्मा के सदृश्य राज्य रूपी शरीर में विद्यमान

व्यक्ति का राजकीय जीवन, धार्मिक जीवन का पर्याय माना गया है। राम, कृष्ण, विदूर, भीष्म, मन, युधिष्ठिर, चाणक्य, गाँधी और अनगिनत राजर्षि इसके उदाहरण है। भारतीय नागरिकों में कोई हिन्दू हैं और वे लोग अधार्मिक हैं जो किसी पन्थ या सम्प्रदाय से नहीं जुड़े हैं। यह बात उतनी ही असत्य है, जितना की यह कहना कि सूर्य पृथ्वी का चक्कर लगाता है। भारतीय समाज यदि पूर्णतया धार्मिक होता तो इसके सामाजिक, राजनीतिक जीवन में इतनी बुराईयां ना होती। अधिकांश भारतीय धार्मिक होने का दावा करते हैं, परन्तु वे आचरण में धर्म की अभिव्यक्ति नहीं करते। आज की भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों का जो ह्रास देखा जा रहा है उसके आधार पर राजनीतिक एवं प्रशासनिक जीवन के आदर्श का प्रतिनिधित्व भारतीय कर पायेंगे, इसमें संदेह है। यह सच है कि भारतीय समाज मानव जीवन के विभिन्न कृत्यों को ईश्वरीय छाया से निष्पादित मानते हैं, परन्तु वे व्यवहारिक जीवन में उसे स्वीकार नहीं करते।

धर्म को जीवन और आचरण में पूर्णता से उतार लेने के लिए और व्यक्ति के आत्मिक विकास के लिए भारत में विभिन्न दर्शनों, समुदायों का विकास हुआ है। भारत के ऐसे अनेक संप्रदाय हैं, जिनमें अद्वैत, वैष्णौ, शाक्त, जैन, बौद्ध, सिख आदि प्रमुख हैं। इन विभिन्न सम्प्रदायों की उपासना पद्धतियों में भले ही भिन्नता हो परन्तु लक्ष्य सभी का परम् सत्य और धर्म ही है। अर्थात धर्म साध्य है, जबकि सम्प्रदाय साधन। भारतीय समाज सहिष्णुता के कारण अनेक उप-सम्प्रदायों को भी जन्म देता है। बौद्धौं में महायान, हीनयान, जैन में श्वेताम्बर, दिगाम्बर आदि हैं। यद्यपि ये भिन्नताऐं प्रशासनिक दृष्टिकाण से बहुत महत्व नहीं रखती। राजनीतिक और साम्प्रदायिक षड़यंत्रों के कारण देश का वातावरण बहुधा विषाक्त हो जाया करता है।

हिन्दू समाज की सहिष्णुता अनुपम है। भारतीय संस्कृति किसी दूसरे धर्म में हस्तक्षेप नहीं करती है। हमारे इतिहास में ऐसे विभिन्न उदाहरण देखने को मिलते हैं, जिनमें हमारे मनुष्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सत्य को प्राप्त करने के अनेक मार्ग है।

हमारे पूर्वजों का दृष्टिकोण सदैव अन्तर्राष्ट्रीय ही रहा है। मानव एक ही ईश्वर की संतान है। यह संकल्पना सदैव उपस्थित रही है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श आज से चार हजार वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का नारा था। हिन्दू संस्कृति ने अनेक संस्कृतियों को अपना कर अपनी ताकत बढ़ाई। है। यहाँ तक की इस्लाम जो अपने व्यक्तित्व को स्वतंत्र रखने का मनसूबा लेकर चला था, वह भी भारत में आकर बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। आज भारतीय मुसलमान सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय है।

3.2.2 भारतीय प्रशासन का सामाजिक पर्यावरण

एफ0डब्लू0 रिग्स ने अपनी पुस्तक 'इकॉलॉजी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेसन' में कहा है कि किसी समुदाय का सामाजिक परिवेश उसके संस्थानों, संस्थागत नमूनों, जात सम्बन्धों, परम्पराओं, धर्म मूल्यों की व्यवस्था, विश्वास आदि पर आधारित होता है। ये समस्त तत्व प्रशासन पर बड़ा गहरा प्रभाव डालते हैं। लोक प्रशासन में मानवीय तत्व विशेष का प्रभाव होता है। इसलिए लोक प्रशासन का मानवीय तत्व समाज विशेष की ऊपज होता है। विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाऐं और संस्थाऐं लोक कर्मचारियों के चरित्र की रचना करती हैं। भारत में आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक आदि आधारों पर अनेक वर्ग बन जाते हैं। समाज के इन वर्गों को पहचानना तथा उनमें जो वर्ग पिछड़ा और कमजोर है, उसे विशेष सुविधा देकर ऊपर उठाना, प्रशासन का महत्वपूर्ण दायित्व बन जाता है। प्रशासन को केवल कानूनी न्याय के आदर पर नहीं चलाया जा सकता। बल्कि प्रशासन के संचालन के लिए आज सामाजिक न्याय अधिक आवश्यक बन गया है। इसके साथ समाजिक संस्थाओं का लोक प्रशासन की नौकरशाही

से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। सामाजिक संस्थाओं का प्रशासन पर निरन्तर दबाव रहता है। इस सामाजिक दबाव के कारण लोक प्रशासन सतर्क एवं उत्तरदायी बना रहता है। दूसरी ओर सामाजिक जागरूकता भी प्रशासनिक व्यवहार को जनोपयोगी बनाने में सहायता करती है। इससें स्पष्ट है कि प्रशासन को सामाजिक पर्यावरण के अनुसार संचालित होना पड़ता है। समाज प्रशासन के अनुसार कभी कभी ही क्रियाशील होता है। भारतीय समाज की विशेषता है कि वह बहुलवादी समाज है। जिसमें विविध सम्प्रदायों के अनुयायी भाषाभाषी एवं जाति, धर्म वाले लोग रहते हैं। भारत में हिन्दू, मुस्लिम, सिख, जैन, बौध, परसी आदि धर्माबलम्बी रहते हैं। भाषाओं की संख्या तो अनगिनत है, फिर भी संविधान की आठवीं सूची में 22 भाषाओं को रखा गया है। भारत में 74% हिन्दू, 22% मुस्लिम, 2.5% ईसाई और 2% सिख है । बहुसंख्यक हिन्दू के सामाजिक जीवन का आधार पुरातन काल से स्थापित वर्णाश्रम व्यवस्था है। यद्यपि वर्ण व्यवस्था अपनी पूर्व अवस्था में नहीं रह गयी, परन्तु अभी भी अघोषित रूप में समाजिक जीवन को इसी सिद्धान्त पर चिह्नित किया जाता है। वर्ण-व्यवस्था का सूत्रपात श्रम और व्यवसायिक वर्गों के विभाजन से हुआ था, जो कालान्तर में जन्म पर आधारित बन गया। वर्ण व्यवस्था का सबसे हानिकारक पक्ष है, पिछड़ी जातियों के प्रति अस्पृश्यता का व्यवहार। उच्च वर्ग में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग की स्थिति सम्मानित और गौरवशाली हुआ करती थी। परन्तु सूद्र वर्ग समाज में गरीब और शोषित वर्ग हुआ करता था। स्वतंत्रता के पश्चात वर्ण-व्यवस्था को अवैध एवं गैर-कानूनी घोषित किया गया और योग्यता के आधार पर व्यवसायों के चयन को प्रमाणित माना गया। परन्तु भारत के कुछ राज्यों में भूमि पर उच्च वर्गों का एकाधिकार अभी भी स्थापित है। बिहार, पंजाब, राजस्थान, जैसे राज्यों में भू-आबंटन लागू ही नहीं हो पाया और कुछ राज्यों में लगभग ही क्रियान्वित हो सका। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में ठाकुर, राजपूत, जाट, गुर्जर भूमि पर अधिकार रखते हैं। बिहार में भूमिहार, ब्राह्मण, कायश्थ, कोयरी और राजस्थान में जाट और ब्राह्मण जबकि आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी, कम्मा और बेलगा भूमि पर अधिपत्य कायम किये हुए हैं।

भारत की राजनीति संरचना और प्रक्रियाऐं लोकतांत्रिक प्रक्रिया को प्रभावित करता है। पंचायती राज के तीनों स्तरों पर जो अलोकतांत्रिक एवं सामंती मानसिकता का प्रदर्शन होता है, वह इस समाज की अलोकतांत्रिक मानसिकता परिलक्षित होती है। यह भारतीय राजनीतिक जीवन की सच्चाई है। भारतीय राजनीति अपराधियों, कानून भंजकों और बेईमान लोगों का व्यापार बन गया। यहाँ पर भारतीय समाज के कुछ विशेष मुद्दों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

1. **जाति-** भारतीय समाज की संचार का आधार जाति और उपजातियां हैं। भारतीय प्रशासन सदियों पुरानी समाजिक विषमता को ठीक करने में व्यस्त है। अनुसूचित जनजातियों, अनुसूचित जातियों और पिछड़ी जातियों के लिए शिक्षा एवं सेवाओं में आरक्षण का प्रावधान भारतीय समाज की एकरूपता एवं समरसता प्रदान करने का विवादित प्रयास है। आरक्षण की व्यवस्था आर्थिक पीछड़ेपन पर आधारित न होकर जाति पर आधारित है। दूसरे मूल संविधान में इसे दस वर्षों तक जारी रखने का प्रावधान था, परन्तु संसद द्वारा इसे समय समय पर बढ़ाया जाता रहा। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण बहुत हद तक उचित है। परन्तु पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान राजनीतिक स्वार्थों से प्रेरित है। राजनीतिक दल वोट बैंक के लिए पिछड़ी जातियों के आरक्षण का समर्थन करते हैं।

   प्रशासनिक स्तर पर जाति भावना एक गंभीर समस्या है। समजात वर्ग के अधिकारी एवं कर्मचारी एक-दूसरे के लिए अवैध और अनुचित कार्यों को करने के लिए तैयार रहते हैं। परन्तु विजातीय लोगों के लिए

उचित एवं वैध कार्यों के लिए टालमटोल करते हैं। जिस प्रकार से राजनीतिक स्तर पर जातियों को संगठित कर एक संगठित बोट बैंक के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है, लगभग उसी प्रकार राजनेताओं द्वारा प्रशासनिक अधिकारियों का इस्तेमाल अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए किया जाता है। राज्यों के विधान सभा के उपचुनाव में इस जाति भावना का प्रशासन खुल कर प्रयोग होता है। आम जनमानस में प्रायः देखा और सुना जाता है कि समान जाति है तो एसे में अजीब आशा और विश्वास का संचार होता है। परन्तु जब वह विजातीय अधिकारी या कर्मचारी के पास जाते हैं, तो उनमें भय और शंका का समावेश होता है।

2. **भारतीय समाज का निम्न नैतिक स्तर-** राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में भारत के नेताओं ने नैतिक मूल्यों एवं आदर्श मानवीय गुणों का जो उद्-घाटन किया था विश्व स्तर पर भारत के ब्रिटिश आधिपत्य को असंगत प्रमाणित किया था। विश्व के अनेक विद्वानों ने कहा, भारत को सभ्य बनाने का अधिकार ब्रिटेन को नहीं है। भारतीय पुर्नजागरण और स्वतंत्रता के काल तक भारत के नैतिक मूल्यों, आदर्शों के कारण भारत एक आध्यात्मिक गुरू के रूप में उभर रहा था। परन्तु पिछले साठ वर्षो से भारतीय समाज का नैतिक पतन बड़ी तीव्र गति से हो रहा था। भारतीय समाज ने मानवीय बुराईयों को फैशन बना लिया है और समान्य जनता इन वर्गो की बुराईयों को अनुयायी बनकर अपनाती जा रही है। उच्च-वर्ग में भ्रष्टाचार, बेईमानी कत्तव्यहीनता, मिथ्या, दंभ, बड़े होने और सभ्य होने के प्रमाण माने जाते हैं। अर्थ का लाभ भारतीय समाज को उसके आदर्शों से पदच्यूत कर रहा है। राजनेता जितना बड़ा आर्थिक घोटाला करते हैं, उतना ही उनके राजनैतिक कद का प्रमाण माना जाता है। समाज में नैतिक मूल्यों का पतन इतनी गहराई तक पहुँच गया है कि लोग सामाजिक, प्रशासनिक बुराईयों को मौन स्वीकृति प्रदान कर देते हैं।

   भारतीय प्रशासन, भारतीय समाज के नैतिक पजन का प्रतिबिम्ब भारत के 90 प्रतिशत अधिकारी और कर्मचारी भ्रष्ट और चरित्रहीन होते हैं। यह सच है कि उन्हें भ्रष्ट होने और रिश्वत खोर होने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद सभी नीतियों का इस्तेमाल प्रशासनिक-वर्ग और राजनीतिक-वर्ग द्वारा ही किया जाता है। भ्रष्टाचारमुक्त भारत सदगुणी व्यक्तियों के लिए अभी भी एक सपना है। प्रशासन के सभी विभागों में रिश्वत खोर, दलालों का जमघट होता है। पुलिस प्रशासन, स्वास्थ, शिक्षा, और राजस्व विभाग का निर्माण जैसे लोककल्याण के लिए नहीं बल्कि जनता के उत्पीड़न के लिए हुआ है।

3.2.3 भारतीय प्रशासन का आर्थिक पर्यावरण

'अर्थ' वह भौतिक तत्व जिस पर व्यक्ति के जीवन की गति निर्धारित होती है। राज्य की आर्थिक दशा और अर्थ के वितरण की व्यवस्था उसके सामाजिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक ढ़ाँचे का स्वरूप तय करता है। प्रशासन के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ समय पहले राजनीतिक परिस्थितियों को ही अधिक महत्व दिया जाता था। परन्तु पिछले कुछ वर्षो से आर्थिक विकास के अनुसार ही प्रशासन की सफलता एवं असफलता के अध्ययन को भी सम्मिलित किया जाने लगा है।

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की आर्थिक स्थिति का वहाँ के लोक प्रशासन के स्वरूप, संगठन और कार्यो पर प्रभाव पड़ता है। प्रायः सभी विकासशील देशों में तीब्र आर्थिक विकास एवं आधुनिकीकरण के लिए प्रशासनिक सुधारों को अनिवार्य समझा जाता है। आज आर्थिक विकास के लिए प्रशासनिक विकास की भी आवश्यकता है। प्रशासन को आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जाता है और इसके लिए समय समय पर प्रशासनिक

सुधार किये जाते हैं। किसी भी देश की योजना को लागू करने का दायित्व प्रशासन का होता है। अतः देश की प्रशासनिक प्रणाली वहाँ के आर्थिक जीवन को नियमित करती है। आज की प्रशासनिक व्यवस्था सिर्फ कानून और व्यवस्था के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि प्रशासन व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलु को अधिकाधिक खुशहाल बनाने के लिए लोक कल्याणकारी बन गया है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था अपनी विशाल जनसंख्या के भार से दबी हुई है। आर्थिक प्रगति के बावजूद गरीबी, भुखमरी, कुपोषित जीवन जीने वालों की संख्या में वृद्धि हुई है। भारतीय राजनीतिक नेतृत्व व प्रशासन दोनों के लिए भारतीय समाज का समावेशी विकास एक दुसाध्य लक्ष्य बना हुआ है। लोक प्रशासन अनेक प्रकार से देश के जीवन को नियंत्रित करता है। जैसे एक बाजार व्यवस्था तभी सुचारू रूप से कार्य कर सकती है, जब उसके ऊपर विभिन्न प्रकार के नियंत्रण लगाये जाए तथा प्रशासन द्वारा अनेक सुविधाऐं उपलब्ध करायी जाये। प्रशासन ही वह यंत्र है, जो अल्प आर्थिक संसाधनों को अपने कौशल से अधिक उपयोगी और कल्याणकारी बना सकता है और यदि प्रशासन तंत्र भ्रष्ट और लुटेरा हो तो विश्व के समस्त संसाधनों से दरिद्रता नहीं दूर की जा सकती। प्रशासन में भ्रष्टाचार का मूल आधार आर्थिक है। यदि हम प्रशासन को पवित्र और भ्रष्टाचार रहित बनाना चाहते हैं, तो आर्थिक विषमताओं को दूर करना आवश्यक है। इसी प्रकार अकुशल प्रशासन निम्न आर्थिक स्तर का एक दुष्चक्र होता है। जब किसी राज्य की आर्थिक स्थिति खराब होती है तो वहाँ योग्य तथा कुशल कर्मचारी उपलब्ध नहीं हो पाते। फिर भी मैं कहूँगा कि भारतीय प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार न तो आर्थिक असमानता व दरिद्रता का परिणाम है और ना ही भारत की विकास योजनाओं की, बल्कि यह नैतिक और चारित्रिक समस्या है।

स्वाधीनता के बाद देश का औद्योगीकीकरण एक पूंजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया। पूँजीवादी औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया ने कई तरह की बुराईयाँ उत्पन्न कर दी। उनसे अर्थव्यवस्था की पूराने ढ़ाँचे को समाप्त कर दिया गया। किन्तु किसी नये ढ़ाँचे का निर्माण नहीं किया गया। पूँजी अपने निवेश के लिए उन्हीं क्षेत्रों को चुनती है, जो उसे प्रारम्भिक सुविधाऐं प्रदान करते हैं। चूँकि ये सुविधाऐं पहले से मौजूद शहरी क्षेत्रों में प्राप्त होती हैं। अतः नये उद्यम और व्यवसायिक प्रतिष्ठान समान्यतः शहरों तथा शहरों के उपनगरीय क्षेत्रों में शुरू किये जाते हैं। इससे अनेक समस्याऐं उत्पन्न हुई। जैसे- आर्थिक विषमता, असन्तुलित आर्थिक विकास आदि।

स्वाधीनता के बाद भारत ने विकसीत देशों से उधार ली गयी अत्यधिक पूँजी प्रदान टेकनोलॉजी को अपनाया। भारी उद्योगों के निमार्ण के लिए विदेशी सहायता लेनी पड़ी और देश की अर्थ व्यवस्था विदेशी निगमों के शिकंजे में फँसने लगी। आज देश की अर्थ व्यवस्था पर बड़े औद्योगिक घरानों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता है। राजनीतिज्ञ, प्रशासक, सलाहाकार संस्थान, सामान्य जन के कल्याण की उपेक्षा करके पूंजीपतियों के हितों की पैरवी करते नजर आते हैं। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के आर्थिक पर्यावरण को निम्न विशेषताओं के सन्दर्भ में समझा जा सकता है-

1. **कृषि की प्रधानता-** भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता कृषि व्यवसाय की प्रधानता है। यहाँ की कुल कार्यशील जनसंख्या का 56% कृषि व्यवसाय में तथा 32% उद्योग व सेवाओं में लगा हुआ है।
2. **ग्रामीण अर्थव्यवस्था-** भारतीय अर्थव्यवस्था ग्रामीण है। यहाँ लगभग 72.2% जनसंख्या गावों में निवास करती है। यह प्रतिशत अन्य देशों की तुलना में बहुत ज्यादा है। उदाहरण के लिए अमेरिका में 24% जापान में 22% व आस्ट्रेलिया में 15% जनसंख्या गावों में निवास करती हैं ।

3. **प्रतिव्यक्ति निम्न आय-** भारतीय अर्थवयवस्था की एक विशेषता यह है कि यहाँ प्रति व्यक्ति आय बहुत निम्न है। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो भारत की प्रति व्यक्ति आय जहाँ 460 डालर है, वहीं विश्व की औसत प्रति व्यक्ति आय 5159 डालर है। भारत में प्रति व्यक्ति आय कम होने से गरीबी व्याप्त है। लेकिन यह गरीबी आँकड़ों से भी और अधिक है। क्योंकि एक अनुमान के अनुसार 20% जनसंख्या को केवल एक ही समय भोजन मिल पाता है। वह 37.4% जनसंख्या को कम पौष्टिक भोजन मिलता है और वे कुपोषित जीवन जीते हैं।
4. **व्यापक बेरोजगारी-** भारत में व्यापक बेरोजगारी है और यह निरन्तर बढ़ रही है। वर्तमान में 8 करोड़ व्यक्ति बेरोजगार है। इनमें से अधिकांश पाकेटमारी, चोरी, डकैती करते हैं। परन्तु सफेदपोश अपराधियों और सभ्य डाकुओं की अपेक्षा ये बेरोजगार चोर, पाकेटमारी, समाज का नुकसान कम ही करते हैं।
5. **परम्परावादी समाज-** भारतीय अर्थव्यवस्था का एक लक्षण यह है कि यहाँ का समाज रूढ़िवादी, भाग्यवादी और ढोंगी है। यही कारण है कि यहाँ बहुत सी कुरीतियां हैं। जैसे मृत्युभोज व अनेक सामाजिक परम्पराऐं हैं, जिनमें काफी धन व्यय कर दिया जाता है। ऐसी परम्पराओं और रीति-रिवाजों के कारण यहाँ का समाज सुखी जीवन व्यतीत नहीं कर पाता और अपने परिवार का जीवन स्तर नहीं उठा पाता।

भारत के आर्थिक परिवेश में प्रशासन के समक्ष अनेक चुनौतियां उपस्थित हो जाती हैं। पंचायती शासन के माध्यम से विकास योजनाओं का क्रियान्वयन आर्थिक संसाधनों के बंदरबांट का ज्वलंत उदाहरण है। प्रशासन को भारत की आर्थिक, समाजिक समस्याओं का समाधान खोजना और एक स्वास्थ समाज का निर्माण करना है।

3.2.4 भारतीय प्रशासन का संवैधानिक पर्यावरण

किसी भी देश का प्रशासन संवैधानिक व्यवस्था के अनुरूप ही होता है। जहाँ संविधान का शासन है, वहाँ प्रशासन का स्रोत भी संविधान ही होता है। भारतीय प्रशासनिक संस्थाओं और उसकी कार्यप्रणाली का विस्तृत विवरण संविधान के अनुच्छेदों में विस्तार से है। इन संस्थाओं में निर्वाचन आयोग, लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग आदि संवैधानिक संस्थाऐं हैं। भारतीय संविधान की कुछ विशिष्ट विशेषताऐं प्रशासन की प्रकृति, रूपरेखा व कार्यप्रणाली आदि का निर्धारण करती है। जैसे- संसदीय शासन व्यवस्था प्रशासन में अनुचित राजनीतिक हस्तक्षेप की भूमिका तय करता है। दूसरी ओर मंत्रियों की अनभिज्ञता उन्हें प्रशासनिक कार्यों के प्रति उदासीन बनाती है और नौकरशाही का प्रभुत्व प्रशासन पर स्थापित हो जाता है। संविधान का लिखित होना प्रशासन के उद्देश्य एवं दिशा का निर्धारण करता है। नागरिकों के मौलिक अधिकार एवं राज्यों के नीति-निदेशक तत्व इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। संघात्मक शासन के कारण प्रशासन के दो स्तर- केन्द्रीय एवं प्रान्तीय होते हैं। इस परिस्थिति में दोनों स्तरों में पर्याप्त सहयोग एवं सामंजस्य की आवश्यकता होती है। कभी-कभी सुरक्षा सम्बन्धी मामलों में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय प्रशासनीक संस्थाओं में अन्तरविरोध देखा जाता है। उदाहरणार्थ बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड में नक्सली समस्याओं के सम्बन्ध में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सुरक्षा एजेन्सियों में सहयोग का अभाव दिखाता है।

संविधान में प्रशासकों के चयन प्रक्रिया को योग्यता पर आधारित और निष्पक्ष बनाने के लिए संघ लोक सेवा आयोग, राज्य लोक सेवा आयोग जैसी संस्थाओं का प्रावधान किया गया है। स्वतंत्र न्यायपालिका के द्वारा लोक सेवकों के पदच्यूति को भी न्यायिक प्रक्रिया का विषय बना दिया गया है। जिससे लोक सेवक बिना किसी भय के

निष्पक्ष होकर कार्य कर सकें। प्रशासनिक अधिकारियों एवं कर्मचारियों के अवैध कार्यों के विरूद्ध मुकद्दमा चलाने का अधिकार पीड़ितों को दिया गया है।

निःसंदेह भारतीय संविधान में जनता के कल्याण और मानव सम्मान व अन्य प्रतिष्ठा को ध्यान में रखा गया है। परन्तु अभी तक कुछ गिने-चुने लोगों तक यह सीमित है। गरीबों और कमजोर लोगों के लिए 'अधिकार' 'न्याय' 'कानून' केवल शब्द मात्र हैं। स्वतंत्र न्यायिक व्यवस्था जनहित के मुकद्दमें, जनसूचना का अधिकार की उपलब्धता, न्याय एक दुर्लभ बस्तु बन गया है। उत्कृष्ट संविधान कानून और संस्थाओं के होते हुए भी समाज की उन्नति नहीं हो पा रही है। स्वतंत्रता के समय भारत की जनता समझती थी कि आजादी मिलने पर भारत एक नये युग में प्रवेश करेगा। परन्तु 60-65 वर्षों के उपरान्त औद्योगिक, तकनीकी व आर्थिक प्रगति के बावजूद भारत की सामाजिक प्रगति और सामान्य जनता की स्थिति के सम्बन्ध में संशय है, जो देश अपने 60% जनसंख्या के लिए रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था ना कर सका उसके लिए आर्थिक प्रगति, औद्योगिक उन्नति जैसे शब्द बेईमानी लगती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. पर्यावरण किन दो शब्दों से मिलकर बना है?
2. 'द इकोलॉजी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' के लेखक कौन हैं?
3. 'डायनामिक ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन'के लेखक कौन हैं?
4. भारत की लगभग कितने प्रतिशत जनसंख्या गावों में निवास करती है?

3.3 सारांश

उपरोक्त अध्ययन से आप समझ सके होंगे कि किस प्रकार देश का प्रशासन देश के संवैधानिक पर्यावरण की सीमाओं में रहकर ही कार्य करता है। भारतीय प्रशासन और संवैधानिक पर्यावरण को समझने के लिए भारतीय संविधान की विशेषताऐं निर्मित, लिखित, लोकप्रिय सम्प्रभुता, लोककल्याण कार्य, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष राज्य, संसदीय व्यवस्था, स्वतंत्र न्यायपालिका, मूल अधिकारों की व्यवस्था, आदि को समझना आवश्यक है।

साथ ही अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ होगा कि देश विशेष की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, संवैधानिक और सांस्कृतिक परिस्थितियां प्रशासन को न केवल प्रभावित करती हैं, अपितु कार्यप्रणाली एवं ढ़ाँचे को नया रूप प्रदान करती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रशासन और पर्यावरण में घनिष्ट सम्बन्ध है।

3.4 शब्दावली

पर्यावरण- पर्यावरण दो शब्द 'परि' और 'आवरण' से मिलकर बना है। जिसका शब्दिक अर्थ है 'चारों ओर घिरा हुआ।' समाजिक विज्ञान में पर्यावरण का स्वरूप प्राकृतिक विज्ञान के जैविकीय एवं अजैविकीय संघटनों से भिन्न है। यद्यपि लोक प्रशासन में पर्यावरण या परिवेश अथवा परिस्थिति के अध्ययन का विचार वनस्पति विज्ञान से ग्रहण किया गया है। परन्तु तात्विक रूप से दोनों में भिन्नता है।

संस्कृति- संस्कृति के अन्तर्गत समुदाय के रहन-सहन, खानपान, जीवन शैली, बौद्धिक उपलब्धियों एवं जीवन दर्शन आते हैं।

3.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 'परि' और 'आवरण', **2.** एफ0डी0 रिग्स, **3.** जी0 ई0 ग्लैडन, **4.** 72.2%

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया।
3. भारतीय लोक प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

3.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी0डी0 बसु
2. भारतीय लोक प्रशासन- एस0सी0 सिंहल

3.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय प्रशासन के पर्यावरण पर निबंध लिखिये।
2. स्वतन्त्रता के बाद भारतीय प्रशासन के पर्यावरण में किस प्रकार का परिवर्तन आया है? स्पष्ट कीजिये।

इकाई- 4 भारतीय संविधान की विशेषताऐं

इकाई की संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 भारतीय संविाधान की प्रस्तावना
4.3 भारतीय संविधान की विशेषताऐं
4.4 विभिन्न स्रोतों से लिए गये उपबंध
4.5 लोक कल्याणकारी राज्य
4.6 सारांश
4.7 शब्दावली
4.8अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.11 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

इकाई एक में हमने भारतीय संविधान के निमार्ण में विदेशी संविधान के प्रभावों का अध्ययन किया साथ ही भारतीय संविधान के महत्वपूर्ण पक्षों का भी अध्ययन किया है।

इस इकाई में भारतीय संविधान की विशेषताओं का विस्तृत अध्ययन किया जायेगा। जिससे भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को समझने में और सुविधा हो सके। यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि भारतीय संविधान में विश्व के संविधानों के उन्हीं पक्षों को शामिल किया गया है, जो हमारे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप है। चाहे वह संसदीय शासन हो चाहे संघात्मक शासन हो या एकात्मक शासन हो। भारत ने ब्रिटेन के संसदीय शासन को अपनाया गया, किन्तु उसके एकात्मक शासन को नहीं अपनाया गया।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारतीय संविधान इतना विस्तृत क्यों हुआ, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- भारतीय संविधान में संसदीय तत्व क्यों अपनाये गये, इसकी जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- भारतीय संविधान में संघात्मक उपबन्ध क्यों किये गये, इसकी जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- संसदीय शासन के बाद भी संविधान की सर्वोच्चता हैं, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

4.2 भारतीय संविधान की प्रस्तावना

प्रत्येक देश का संविधान उसके देश-काल की आवश्यकताओं के अनुरूप तैयार किया जाता है। चूँकि प्रत्येक देश की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियां भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिए संविधान निर्माण के समय उन सभी पक्षों को शामिल किया जाता है। इस भिन्नता के कारण यह संभव है कि किसी देश में कोई

व्यवस्था सफल हो तो वह अन्य देश में उसी स्वरूप में न सफल हो या उसे उसी रूप में लागू न किया जा सके। यदि हम देखें तो हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान निर्माण के समय विश्व के प्रचलित संविधानों का अध्ययन किया और उन संविधानों के महत्वपूर्ण प्रावधानों को अपने देश की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप ढालकर अपनाने पर जोर दिया है। जैसे- हमारे देश में ब्रिटेन के संसदीय शासन का अनुसरण किया गया है किन्तु उसके एकात्मक शासन को नहीं अपनाया गया है बल्कि संसदीय के साथ संघात्मक शासन को अपनाया गया है। यहाँ यह स्पष्ट करना नितान्त आवश्यक है कि संसदीय के साथ एकात्मक शासन न अपनाकर संघात्मक शासन क्यों अपनाया गया है? चूँकि हमारे देश में भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक बहुलता पायी जाती है, इसलिए इनकी पहचान को बनाए रखने के लिए संघात्मक शासन की स्थापना को महत्व प्रदान किया गया। परन्तु संघात्मक शासन में पृथक पहचान, पृथकतावाद को बढ़ावा न दे, इसके लिए एकात्मक शासन के लक्षणों का भी समावेश किया गया है, जिससे राष्ट्रीय एकता को खतरा न उत्पन्न हो, क्योंकि आजादी के समय हमारा देश विभाजन के दु:खद अनुभव को झेल चुका था।

यहाँ हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि अन्य देशों के संविधान की भाँति हमारे देश के संविधान का प्रारम्भ भी प्रस्तावना से हुआ है। प्रस्तावना को प्रारम्भ में इसलिए रखा गया है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि इस संविधान के निर्माण का उद्देश्य क्या था? साथ ही वैधानिक रूप से संविधान के किसी भाग की वैधानिक व्याख्या को लेकर यदि स्पष्टता नहीं है, तो प्रस्तावना मार्गदर्शक का कार्य करती है। संविधान की प्रस्तावना के महत्व को देखते हुए सर्वप्रथम प्रस्तावना का अध्ययन करना आवश्यक है-

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मूल संविधान में 'समाजवादी, पंथनिरपेक्ष और अखण्डता' शब्द नहीं था। इसका भारतीय संविधान में समावेश 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा किया गया है।

अब हम प्रस्तावना में प्रयोग में लाये गये महत्वपूर्ण शब्दों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे-

1. **हम भारत के लोग-** इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय संविधान का निर्माण किसी विदेशी सत्ता के द्वारा नहीं किया गया है, बस भारतीयों ने किया है। प्रभुत्व शक्ति का स्रोत स्वंय जनता है और अन्तिम सत्ता का निवास जनता में है।
2. **सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न-** इसका तात्पर्य परम सत्ता या सर्वोच्च सत्ता से है, जो निश्चित भू-क्षेत्र अर्थात भारत पर लागू होती है। वह परम सत्ता किसी राजे-महाराजे या विदेशी के पास न होकर स्वंय भारतीय जनता के पास है और भारतीय शासन अपने आंतरिक प्रशासन के संचालन और परराष्ट्र संबंधों के संचालन में पूरी स्वतंत्रता का उपयोग करेगा। यद्यपि भारत राष्ट्रमंडल का सदस्य है, परन्तु इससे उसके सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
3. **पंथ निरपेक्ष-** यह शब्द मूल संविधान में नहीं था, वरन् इसका समावेश संविधान में 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा किया गया है। इसका तात्पर्य है कि- राज्य किसी धर्म विशेष को 'राजधर्म' के रूप में संरक्षण नहीं प्रदान करेगा, वरन् वह सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार करेगा और उन्हें समान रूप से संरक्षण प्रदान करेगा।
4. **गणराज्य-** इसका तात्पर्य है कि भारतीय संघ का प्रधान, कोई वंशानुगत राजा या सम्राट ना होकर के निर्वाचित राष्ट्रपति होगा। ब्रिटेन ने वंशानुगत राजा होता है, जबकि अमेरिका में निर्वाचित राष्ट्रपति है। इसलिए भारत, अमेरिका के समान गणराज्य है।

5. **न्याय-** हमारा संविधान नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की गारण्टी देता है। न्याय का तात्पर्य है कि राज्य का उद्देश्य सर्वजन का कल्याण और सशक्तिकरण है, न कि विशेष लोगों का। सामाजिक न्याय का तात्पर्य है कि अब तक हासिये पर रहे वंचित समुदायों को भी समाज की मुख्यधारा में लाने वाले प्रावधान किये जायें तथा उनका क्रियान्वयन भी सुनिश्चित किया जाए। आर्थिक न्याय का तात्पर्य है कि प्रत्येक नागरिक को अपनी न्यूनतम आवश्यकता को वस्तुओं की उपलब्धता सुनिश्चित करने का अवसर प्रदान किये जाए। राजनीतिक न्याय का तात्पर्य है कि प्रत्येक नागरिक को धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान का भेदभाव किये बिना उसे अपना प्रतिनिधि चुनने और स्वंय को प्रतिनिधि चुने जाने का अधिकार होना चाहिए।
6. **एकता और अखण्डता-** मूल संविधान में एकता शब्द ही था। पर 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा अखण्डता शब्द का समावेश किया गया। जिसका तात्पर्य यह है कि धर्म, भाषा, क्षेत्र, प्रान्त, जाति आदि की विभिन्नता के साथ एकता के आदर्श को अपनाया गया है। इसके साथ अखण्डता शब्द को जोड़कर ‘अखण्ड एकता’ को साकार करने का प्रयास किया गया है। इसके समर्थन में भारतीय संविधान में 16वॉं संवैधानिक संशोधन भी किया गया है।

4.3 भारतीय संविधान की विशेषताऐं

भारतीय संविधान की विशेषताऐं निम्नलिखित हैं-

1. **लोकप्रिय प्रभुसत्ता पर आधारित संविधान-** संविधान के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है, प्रभुसत्ता अर्थात सर्वोच्च सत्ता का स्रोत जनता है। प्रभुसत्ता का निवास जनता में है। इसको संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट किया गया है कि ‘हम भारत के लोग ....।’
2. **विश्व में सर्वाधिक विस्तृत संविधान-** हमारा संविधान विश्व में सबसे बड़ा संविधान है। जिसमें 22 भाग, 395 अनुच्छेद और 12 अनुसूचियॉं हैं। जबकि अमेरिका के संविधान में 7 अनुच्छेद, कनाडा के संविधान में 147 अनुच्छेद है। भारतीय संविधान के इतना विस्तृत होने के कई कारण है। जो निम्नलिखित हैं-
    - हमारे संविधान में संघ के प्रावधानों के साथ-साथ राज्य के शासन से सम्बन्धित प्रावधानों को भी शामिल किया है। राज्यों का कोई पृथक संविधान नहीं है केवल जम्मू-कश्मीर को छोड़कर। जबकि अमेरिका में संघ और राज्य का पृथक संविधान है।
    - जातीय, सांस्कृतिक, भौगोलिक व सामाजिक विविधता भी संविधान के विशाल आकार का कारण बना, क्योंकि इसमें अनुसूचित जातियों, जनजातियों, आग्ल भारतीय, अल्पसंख्यक आदि के लिए पृथक रूप से प्रावधान किये गये हैं।
    - नागरिकों के मूल अधिकारों का विस्तृत उल्लेख करने के साथ ही साथ नीति-निदेशक तत्वों और बाद में मूल-कर्तव्यों का समावेश किया जाना भी संविधान के विस्तृत होने का आधार प्रदान किया है।
    - नवजात लोकतन्त्र के सुचारू रूप से संचालन के लिए कुछ महत्वपूर्ण प्रशासनिक एजेन्सियों से सम्बन्धित प्रावधान भी किये गये हैं। जैसे- निर्वाचन आयोग, लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग,

भाषा आयोग, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, महिला आयोग, अल्पसंख्यक आयोग, अनुसूचित जाति आयोग, अनुसूचित जनजाति आयोग आदि। संघात्मक शासन का प्रावधान करने के कारण केन्द्र राज्य सम्बन्धों का विस्तृत उपबन्ध संविधान में किया गया है।

3. **सम्पूर्ण प्रमुख सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य-** जैसा कि हम ऊपर प्रस्तावना में स्पष्ट कर चुके हैं कि अन्तिम सत्ता जनता में निहित है। भारत अब किसी के अधीन नहीं है। वह अपने आन्तरिक और वाह्य मामले पूरी तरह से स्वतन्त्र है। संघ का प्रधान कोई वंशानुगत राजा न होकर निर्वाचित राष्ट्रपति है, न कि ब्रिटेन की तरह सम्राट।
4. **पंथ निरपेक्ष-** भारतीय संविधान के द्वारा भारत को एक पंथ-निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है। यद्यपि इस शब्द का समावेश संविधान में 42वें संविधान संशोधन 1976 के द्वारा किया है, किन्तु इससे सम्बन्धित प्रावधान संविधान के विभिन्न भागों में पहले से विद्यमान है। जैसे- मूल अधिकार में और इसी प्रकार कुछ अन्य भागों में भी। पंथनिरपेक्षता का तात्पर्य है कि राज्य का अपना कोई राजधर्म नहीं है। सभी धर्मों के साथ वह समान व्यवहार करेगा और समान संरक्षण प्रदान करेगा।
5. **समाजवादी राज्य-** इस शब्द को निश्चित रूप से परिभाषित करना आसान कार्य नहीं है, परन्तु भारतीय सन्दर्भ में इसका तात्पर्य है कि राज्य विभिन्न समुदायों के बीच आय की असमानताओं को न्यूनतम करने का प्रयास करेगा।
6. **कठोरता और लचीलेपन का समन्वय-** संविधान में संशोधन प्रणाली के आधार पर दो प्रकार के संविधान होते हैं। पहला- कठोर संविधान, दूसरा- लचीला संविधान। कठोर संविधान वह संविधान होता है, जिसमें संशोधन कानून निर्माण की सामान्य प्रक्रिया से नहीं किया जा सकता है। इसके लिए विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, जैसा कि अमेरिका के संविधान में है। अमेरिका के संविधान में संशोधन तभी सम्भव है जब कांग्रेस के दोनों सदन(सीनेट, प्रतिनिध सभा) दो तिहाई बहुमत से संशोधन प्रस्ताव पारित करें और उसे अमेरिकी संघ के 50 राज्यों में से कम से कम तीन चौथाई राज्य उसका समर्थन करें। अर्थात न्यूनतम राज्य।

   लचीला संविधान वह संविधान है, जिसमें सामान्य कानून निर्माण की प्रक्रिया से संशोधन किया जा सके। जैसे ब्रिटेन का संविधान। क्योंकि ब्रिटिश संसद साधारण बहुमत से ही यातायात कर लगा सकती तो वह साधारण बहुमत से ही क्राउन की शक्तियों को कम कर सकती है।

   किन्तु भारतीय संविधान न तो अमेरिका के संविधान के समान कठोर है और न ही ब्रिटेन के संविधान के समान लचीला है। भारतीय संविधान में संशोधन तीन प्रकार से किया जा सकता है-

   - पहला- कुछ अनुच्छेदों में साधारण बहुमत से संशोधन किया जा सकता है।
   - दूसरा- संविधान के ज्यादातर अनुच्छेदों में संशोधन दोनों सदनों के अलग-अलग बहुमत से पारित करके साथ ही यह बहुमत उपस्थित सदस्यों का दो तिहाई है।
   - तीसरा- भारतीय संविधान में कुछ अनुच्छेद, जो संघात्मक शासन प्रणाली से सम्बन्धित हैं, उपरोक्त क्रम दो के साथ (दूसरे तरीका) कम से कम आधे राज्यों के विधान मण्डलों के द्वारा स्वीकृति देना भी आवश्यक है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि भारतीय संविधान कठोरता और लचीलेपन का मिश्रिण होने का उदाहरण पेश करता है। भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरू ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा था कि- 'हम संविधान को इतना ठोस और स्थायी बनाना चाहते हैं, जितना हम बना सकें। परन्तु सच तो यह है कि संविधान तो स्थायी होते ही नहीं हैं। इनमें लचीलापन होना चाहिए। यदि आप सब कुछ कठोर और स्थायी बना दें तो आप राष्ट्र के विकास को तथा जीवित और चेतन लोगों के विकास को रोकते हैं। हम संविधान को इतना कठोर नहीं बना सकते कि वह बदलती हुई दशाओं के साथ न चल सके।

7. **संसदीय शासन प्रणाली-** हमारे संविधान के द्वारा ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह संसदीय प्रणाली को न केवल संघ में वरन राज्यों में भी अपनाया गया हैं।

   इस प्रणाली की कुछ विशेषताऐं हैं-

   - नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में भेद- नाममात्र की कार्यपालिका, संघ में राष्ट्रप्रति और राज्य में राज्यपाल होता है जबकि वास्तविक कार्यपालिका, संघ और राज्य दोनों में मंत्री-परिषद होती है।
   - राष्ट्रपति (संघ में) राज्यपाल (राज्य में) केवल संवैधानिक प्रधान होते हैं।
   - मंत्री-परिषद (संघ में) लोक सभा के बहुमत के समर्थन पर ही अपने अस्तित्व के लिए निर्भर करती है। राज्य में मंत्री-परिषद अपने अस्तित्व के लिए विधान सभा के बहुमत के समर्थन पर निर्भर करती है। लोक सभा और विधान सभा दोनों निम्न सदन हैं, जनप्रतिनिधि सदन है। इनका निर्वाचन जनता प्रत्यक्षरूप से करती है।
   - कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, क्योंकि कार्यपालिका का गठन व्यवस्था के सदस्यों में से ही किया जाता है।

8. **एकात्मक लक्षणों के साथ संघात्मक शासन-** यद्यपि भारत में ब्रिटेन के संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। किन्तु उसके साथ वहाँ के एकात्मक शासन को नहीं अपनाया गया है। क्योंकि भारत में सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक बहुलता पायी जाती है। इस लिए इनकी अपनी सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक अस्मिता की रक्षा के लिए संघात्मक शासन प्रणाली अपनाया गया है। लेकिन संघात्मक शासन के साथ राष्ट्र की एकता और अखण्डता की रक्षा के लिए संकटकालीन स्थितियों से निपटने के लिए एकात्मक तत्वों का भी समावेश किया गया है। इस क्रम में हम पहले भारतीय संविधान में संघात्मक शासन के लक्षणों को जानने का प्रयास करेंगे। जो निम्नलिखित हैं-

   - लिखित निर्मित और कठोर संविधान।
   - केन्द(संघ) और राज्य की शक्तियों का विभाजन (संविधान द्वारा)।

- स्वतन्त्र, निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायालय जो संविधान के रक्षक के रुप में कार्य करेगी। संविधान के विधिक पक्ष में कही अस्पष्टता होगी तो उसकी व्याख्या करेगी। साथ ही साथ नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करेगी।

किन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि भारतीय संघ हेतु, कनाडा के संघ का अनुसरण करते हुए संघीय सरकार (केन्द्र सरकार) को अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। भारतीय संविधान के द्वारा यद्यापि संघात्मक शासन तो अपनाया गया है, किन्तु उसके साथ मजबूत केन्द्र की स्थापना हेतु, निम्नलिखित एकात्मक तत्वों का भी समावेश किया गया है-

- केन्द्र और राज्य में शक्ति विभाजन केन्द्र के पक्ष में हैं, क्योंकि तीन सूचियों (संघ सूची, राज्य सूची, समवर्ती सूची) के माध्यम से शक्ति विभाजन किया गया है। संघ सूची में संघ सरकार को, राज्य सूची पर राज्य सरकार को और समवर्ती सूची पर संघ और राज्य दोनों को कानून बनाने का अधिकार होता है, किन्तु दोनों के कानूनों में विवाद होने पर संघीय संसद द्वारा निर्मित कानून ही मान्य होता है। इन तीनों सूचियों के अतिरिक्त जो अवशिष्ट विषय हों, अर्थात जिनका उल्लेख इन सूचियों में न हो उन पर कानून बनाने का अधिकार भी केन्द्र सरकार का होता है।
- इसके अतिरिक्त राज्य सूची के विषयों पर भी संघीय संसद को कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है जैसे- संकट की घोषणा होने पर दो या दो से अधिक राज्यों द्वारा प्रस्ताव द्वारा निवेदन करने पर, राज्य सभा द्वारा पारित संकल्प के आधार पर।
- इकहरी नागरिकता- संघात्मक शासन में दोहरी नागरिकता होती है एक तो उस राज्य की जिसमें वह निवास करता है दूसरी संघ की। जैसा कि अमेरिका में है। जबकि भारत में इकहरी नागरिकता है, अर्थात कोई व्यक्ति केवल भारत का नागरिक होता है।
- एकीकृत न्यायपालिका- एक संविधान, अखिल भारतीय सेवाऐं, आपातकालीन उपबन्ध, राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति आदि। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय संविधान संघात्मक शासन है, जिसमें संकटकालीन स्थितियों से निपटने हेतु कुछ एकात्मक लक्षण भी पाये जाते हैं।

4.4 विभिन्न स्रोतों से लिए गये उपबंध

जैसा कि हम प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर चुके है कि हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान निर्माण की प्रक्रिया में दुनियॉं में तत्कालीन समय में प्रचलित कई संविधानों का अध्ययन किया और उसमें से महत्वपूर्ण पक्षों को जो हमारे देश में उपयोगी हो सकते थे, उन्हें अपने देश-काल की परिस्थितियों के अनुरुप ढालकर संविधान में उपबन्धित किया।

वे स्रोत निम्नलिखित हैं, जिनका प्रभाव भारतीय संविधान पर पड़ा-

स्रोत	**विषय**
भारतीय शासन अधिनियम 1935	तीनों सूचियां, राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ
ब्रिटिश संविधान	संसदीय शासन
अमरीकी संविधान	प्रस्तावना, मौलिक अधिकार, सर्वोच्च न्यायालय,

	उपराष्ट्रपति का पद, संविधान में संशोधन प्रक्रिया
आयरलैण्ड का संविधान	नीति-निदेशक तत्व, राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचक मण्डल
कनाडा का संविधान	संघात्मक शासन(अवशिष्ट शक्तियाँ, केन्द्र के पास हैं)
आस्ट्रेलिया का संविधान	समवर्ती सूची
दक्षिण अफ्रीका का संविधान	संविधान में संशोधन की प्रक्रिया
पूर्व सोवियत संघ	मूल कर्तव्य

4.5 लोक कल्याणकारी राज्य

लंबे संघर्ष के पश्चात देश को आजादी मिली थी। जिसमें संसदीय लोकतन्त्र को लागू किया गया है। संसदीय लोकतन्त्र में अन्तिम सत्ता जनता में निहित होती है। इसलिए भारतीय संविधान के द्वारा ही भारत को कल्याणकारी राज्य के रुप में स्थापित करने का प्रावधान भारतीय संविधान के विभिन्न भागों में किए गये, विशेष रुप से भाग- 4 के नीति निदेशक तत्व में, मौलिक अधिकारों में, अनुच्छेद- 17 के द्वारा अस्पृश्यता के समाप्ति की घोषणा के साथ इसे दण्डनीय अपराध माना गया है। प्रस्तावना में सामाजिक-आर्थिक न्याय की स्थापना का लक्ष्य घोषित किया गया। मौलिक अधिकार के अध्याय में किसी भी नागरिक के साथ धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान के आधार पर विभेद का निषेध किया गया। साथ ही अब तक समाज की मुख्यधारा से कटे हुए वंचित समुदायों के लिए विशेष प्रावधान किए गये, जिससे वे भी समाज की मुख्यधारा से जुड़कर राष्ट्र के विकास में अपना अमूल्य योगदान दे सकें।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में ब्रिटेन के संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। सत्य/असत्य
2. संसदीय शासन प्रणाली की विशेषता है, नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में भेद। सत्य/असत्य
3. लचीला संविधान वह संविधान है, जिसमें सामान्य कानून निर्माण की प्रक्रिया से संशोधन किया जा सके। सत्य/असत्य
4. भारतीय संविधान के द्वारा भारत को एक पंथ निरपेक्ष राज्य घोषित किया गयाहै। सत्य/असत्य
5. पंथ निरपेक्ष शब्द का समावेश संविधान में 42वें संशोधन 1976 के द्वारा किया है। सत्य/असत्य

4.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के के बाद आप को यह जानने में समर्थ हो पाये कि भारतीय संविधान की क्या विशेषताऐं हैं। जिसमें यह भी जानने का अवसर प्राप्त हुआ कि किन कारणों से यह संविधान इतना विस्तृत हुआ है, क्योंकि हमारा नवजात लोकतंत्र की रक्षा और इसके विकास के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि संभावित सभी विषयों का स्पष्ट रूप से समावेश कर दिया जाए। जैसे मूल अधिकार और नीति-निदेशक तत्वों को मिलाकर संविधान एक बड़ा भाग हो जाता है इसी प्रकार से अनुसूचित जातियों और जनजातियों से सम्बंधित उपबंध संघात्मक शासन अपनाने के कारण केन्द्र-राज्य सम्बन्ध और संविधान के संरक्षण, उसकी व्याख्या और मौलिक अधिकारों के रक्षक

के रूप में स्वतंत्र निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायलाय की स्थापना का प्रावधान किया गया है। जिसकी वजह से संविधान विस्तृत हुआ है। इसके साथ-साथ विभिन्न संवैधानिक आयोगों की स्थापना जैसे निर्वाचन आयोग, अल्पसंख्यक आयोग, अनुसूचित जाति आयोग, अनुसूचित जनजाति आयोग, राजभाषा आयोग आदि कारणों से संविधान विस्तृत हुआ। इसके साथ ही साथ हमने इस तथ्य का भी अध्ययन किया की संविधान निर्माण में संविधान निर्माता किन देशों में प्रचलित किस पक्ष को अपने देश की आवश्कताओं के अनुरूप पाये, जिस कारण से उन्होंने भारतीय संविधान में शामिल किया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमें संसदीय और अध्यक्षीय शासन के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त हुई।

4.7 शब्दावली

लोक प्रभुसत्ता- जहाँ सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित हो, वहाँ लोक प्रभुसत्ता होती है।

धर्म निरपेक्षता- राज्य का कोई धर्म न होना और राज्य के द्वारा सभी धर्मों के प्रति समभाव का होना।

समाजवादी राज्य(भारतीय संन्दर्भ में)- जहाँ राज्य के द्वारा आर्थिक असमानताओं को कम करने का प्रयत्न किया जाये।

संघीय व्यवस्था- केन्द्र और राज्य दोनों संविधान के द्वारा शक्ति विभाजन अपने-अपने क्षेत्र में दोनों संविधान की सीमा में स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करें।

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ0 रूपा मंगलानी।
2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।
3. भारतीय शासन एवं राजनीत- महेन्द्र प्रताप सिंह।

4.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय संविधान- दुर्गादास बसु।

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान की विशेषताओं की विवेचना कीजिये।
2. आप इस बात से कहाँ तक सहमत हैं कि भारतीय संविधान एकात्मक लक्षणों वाले संघात्मक शासन की स्थापना करता है?

इकाई- 5 राष्ट्रपति

इकाई की संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 राष्ट्रपति
5.3 राष्ट्रपति का निर्वाचन
    5.3.1 योग्यता
    5.3.2 निर्वाचन
    5.3.3 राष्ट्रपति द्वारा शपथ
    5.3.4 राष्ट्रपति की पदावधि
    5.3.5 उन्मुक्तियां
    5.3.6 वेतन
    5.3.7 महाभियोग की प्रक्रिया
5.4 राष्ट्रपति की शक्तियाँ
    5.4.1 कार्यपालिका शक्तियाँ
    5.4.2 विधायी शक्तियाँ
    5.4.3 राजनयिक शक्तियाँ
    5.4.4 सैनिक शक्तियाँ
    5.4.5 न्यायिक शक्तियाँ
    5.4.6 आपात कालीन शक्तियाँ
5.5 राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति
5.6 सारांश
5.7 शब्दावली
5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.11 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाइयों के अध्ययन से आप को भारतीय प्रशासन के विभिन्न पक्षों के बारे में जानने में सहायता मिली है। प्रस्तुत इकाई में हम भारत में संघ के कार्यपालिका के प्रमुख, राष्ट्रपति के बारे में जान सकेंगे। इसके अध्ययन से हम राष्ट्रपति के निर्वाचन, उनकी शक्तियों और उनकी संवैधानिक स्थिति तथा वास्तविक स्थिति के बारे में भी जान सकेंगे।

इस इकाई के अध्ययन से हमें आगे की इकाइयों में प्रधानमन्त्री सहित मंत्री-परिषद के वास्तविक कार्यपालिका प्रधान के रुप में समझने में सहायता मिलेगी। साथ ही संसदीय शासन की परम्परा में राष्ट्रपति पद के महत्व को और भी स्पष्ट रुप से समझने में सहायता मिलेगी।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया के बारे में जान सकेंगे।
- राष्ट्रपति की शक्तियों को जान सकेंगे।
- यह जान सकेंगे कि वह कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान ही नहीं है।

5.2 राष्ट्रपति

शासन के तीन अंग होते हैं, जो क्रमशः व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका हैं। व्यवस्थापिका का सम्बन्ध कानून निर्माण से है, कार्यपालिका का सम्बन्ध व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों और नीतियों के क्रियान्वयन से है, जबकि न्यायपालिका का सम्बन्ध न्यायिक कार्यों से है।

संघ की कार्यपालिका के शीर्ष पर राष्ट्रपति होता है। चूँकि राष्ट्रपति संवैधानिक प्रधान है (नाममात्र की कार्यपालिका) फिर भी उनके पद को सत्ता और गरिमा से युक्त किया गया है। वह राज्य के शक्तिशाली शासक हाने की अपेक्षा, भारत की एकता के प्रतीक हैं। उनकी स्थिति वैधानिक अध्यक्ष की है, फिर भी शासन में उनका पद एक धुरी के समान है जो संकट के समय संवैधानिक तंत्र को संतुलित कर सकता है।

5.3 राष्ट्रपति का निर्वाचन

भारतीय संविधान के अनुसार भारत एक गणतन्त्र है। गणतन्त्र में राष्ट्र का अध्यक्ष वंशानुगत राजा न होकर निर्वाचित होता है। राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति से होता है।

5.3.1 योग्यता

राष्ट्रपति पद के निर्वाचन के लिए निम्नलिखित योग्यताऐं आवश्यक हैं -

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,
3. वह लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो,
4. वह संघ सरकार और राज्य सरकारों या स्थानीय सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर न हो,
5. राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल और मन्त्रियों के पद लाभ के पद नहीं माने जाते, इसलिए उन्हें त्याग-पत्र देने की आवश्यकता नहीं होती।

5.3.2 निर्वाचन

अनुच्छेद- 54 के अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल के सदस्य करते है जिसमें-

1. संसद के दोनों सदनों (लोक सभा, राज्य सभा) के निर्वाचित सदस्य।
2. राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होंगे।

राष्ट्रपति के निर्वाचन में संघीय संसद के साथ-साथ राज्यों के विधान सभाओं के सदस्यों को शामिल कर इस बात का प्रयत्न किया गया है, कि राष्ट्रपति का निर्वाचन दलीय आधार पर न हो तथा संघ के इस सर्वोच्च पद को वास्तव में राष्ट्रीय पद का रूप प्राप्त हो सके।

भारतीय संविधान के 71वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि पोण्डेचेरी और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली की विधान सभाओं के सदस्य, राष्ट्रपति के निर्वाचक मंडल में शामिल किये जायेंगे।

1957 के राष्ट्रपति चुनाव में कुछ स्थान रिक्त होने पर राष्ट्रपति के चुनाव की वैधता को चुनौती दी गयी । न्यायालय ने अपने निर्णय में ऐसी स्थिति में भी चुनाव संभव बताया। इस समस्या के निराकरण हेतु 1961 में 11वें संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुच्छेद- 71 में उपबन्ध किया गया है कि निर्वाचक मंडल का स्थान रिक्त होने पर भी चुनाव वैध हैं।

राष्ट्रपति का निर्वाचन ऊपर वर्णित निर्वाचन मण्डल द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा किया जाता है, अनुच्छेद 55(3)। मतदान गुप्त होता है। इस पद्धति में चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रत्याशी को न्यूनतम कोटा प्राप्त करना होता है। न्यूनतम काटा निर्धारण का सूत्र इस प्रकार है-

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{दिये गये मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रत्याशियों की संख्या}} + 1$$

राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचन मण्डल के सदस्यों के मतों का मूल्य समान नहीं होता है। कुछ राज्यों की विधान सभाओं के सदस्य अधिक जनसंख्या का और कुछ कम जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए विधान सभा सदस्य के मत का मूल्य उनकी जनसंख्या के अनुपात में होता है। साथ ही राष्ट्रपति के चुनाव में केन्द्र और राज्य को बराबर की हिस्सेदारी देने के लिए सभी राज्यों और संघीय क्षेत्रों की विधान सभाओं के समस्त सदस्यों के मत मूल्य और संसद के सभी निर्वाचित सदस्यों के मतों के मूल्य बराबर रखने पर जोर दिया जाता है। जिससे राष्ट्रपति का चुनाव दलगत राजनीति का शिकार न हो और वह राष्ट्र का सच्चा प्रतिनिधि हो सके।

मत मूल्य निकालने का तरीका-

$$\text{विधान सभा के एक सदस्य के मत का मूल्य} = \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{कुल विधायकों की संख्या x 100}}$$

$$\text{संसद सदस्य के एक मत का मूल्य} = \frac{\text{सभी राज्यों और संघीय क्षेत्रों विधान सभा सदस्यों के मतों का मूल्य}}{\text{संसद के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या}}$$

राष्ट्रपति के निर्वाचन में उस प्रत्याशी को निर्वाचित घोषित किया जाता है, जो न्यूनतम कोटा अर्थात आधे से अधिक मत प्राप्त करे। राष्ट्रपति के निर्वाचन में जितने प्रत्याशी होते हैं, मतदाता को उतने मत देने का अधिकार होता है। मतदाता अपना मत वरीयता क्रम के आधार पर देता है। जैसे-

	प्रत्याशी	A	B	C	D
मतदाता	P	1	3	2	4
	G	2	1	3	4
	R	4	1	2	3
	S	3	1	2	4
	T	2	3	1	4

इस आरेख में चार प्रत्याशी A, B, C, D, हैं, मतदाता P, G, R, S, T हैं, जिन्होंने अपने मत वरीयता के आधार पर राष्ट्रपति प्रत्याशी को दिये हैं। सर्वप्रथम, प्रथम वरीयता के मत की गणना की जाती है। यदि उसे न्यूनतम कोटा प्राप्त हो जाय तो वह विजयी घोषित होता है। यदि कोटा न प्राप्त हो सके तो द्वितीय वरीयता के मत की गणना होती है। इस द्वितीय दौर में जिस उम्मीदवार को प्रथम वरीयता का सबसे कम मत मिला हो उसे गणना से बाहर कर, उसके द्वितीय वरीयता के मतमूल्य को स्थानान्तरित कर दिया जाता है। यदि द्वितीय दौर की गणना में किसी प्रत्याशी को न्यूनतम कोटा न प्राप्त हो तो तीसरे दौर की मतगणना होती है, जिसमें दूसरे दौर की मतगणना में सबसे कम मतमूल्य पाने वाले प्रत्याशी के तीसरे वरीयता के मतमूल्य को शेष उम्मीदवारों को स्थानान्तरित कर दिया जाता है। यह प्रक्रिया तब तक अपनायी जाती है, जब तक किसी प्रत्याशी को न्यूनतम कोटा न प्राप्त हो जाय।

5.3.3 राष्ट्रपति द्वारा शपथ

राष्ट्रपति अपना पद ग्रहण करने से पूर्व अनुच्छेद- 60 के तहत भारत के मुख्य न्यायाधीश या उनकी अनुपस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश के समक्ष अपने पद की शपथ लेता है।

5.3.4 राष्ट्रपति की पदावधि

संविधान के अनुच्छेद- 56 के अनुसार राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तिथि से, पॉच वर्ष की अवधि तक अपने पद पर बना रहता है। इस पॉच वर्ष की अवधि के पूर्व भी वह उपराष्ट्रपति को वह अपना त्यागपत्र दे सकता है या उसे पॉच वर्ष की अवधि से पूर्व संविधान के उल्लंघन के लिए संसद द्वारा महाभियोग से हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति अपने पॉच वर्ष के कार्यकाल पूर्ण होने के बाद तक अपने पद पर बना रहता है जब तक कि इसके उत्तराधिकारी द्वारा पद ग्रहण न कर लिया जाए।

5.3.5 उन्मुक्तियाँ

राष्ट्रपति अपने कार्यों के लिए व्यक्तिगत रुप से उत्तरदायी नहीं होता है। अपने पद के कर्तव्यों एवं शक्तियों का प्रयोग करते हुए, उनके सम्बन्ध में उसके विरुद्ध न्यायालय में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है।

5.3.6 वेतन

राष्ट्रपति को इस समय 150000 रु0/ माह वेतन है। अनुच्छेद 59(3) अनुसार कार्यकाल के दौरान उनके वेतन और उपलब्धियों में किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकती है।

5.3.7 महाभियोग प्रक्रिया

राष्ट्रपति को अनुच्छेद- 61 के अनुसार महाभियोग प्रक्रिया द्वारा, संविधान के अतिक्रमण के आधार पर हटाया जा सकता है। संसद के जिस सदन में महाभियोग का संकल्प प्रस्तुत किया गया हो, उसके एक-चौथाई सदस्यों द्वारा हस्ताक्षर सहित आरोप-पत्र राष्ट्रपति को 14 दिन पूर्व दिया जाना आवश्यक है। इस सदन में संकल्प को दो तिहाई बहुमत से पारित करके दूसरे सदन को भेजा जाएगा, जो राष्ट्रपति पर लगे इन आरोपों की जाँच करेगा। इस दौरान राष्ट्रपति स्वयं या अपने प्रतिनिधि के द्वारा अपना पक्ष रख सकता है। यदि दूसरा सदन आरोपों को सही पाता है और उसे अपनी संख्या के बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई सदस्यों द्वारा पारित कर दिया जाता है तो राष्ट्रपति पद त्याग के लिए बाध्य होता है ।

अभ्यास प्रश्न- 1

1. राष्ट्रपति के चुनाव में कौन-कौन भाग लेता है?
2. राष्ट्रपति का कार्य काल कितने वर्ष का होता है?
3. राष्ट्रपति पर महाभियोग किस अनुच्छेद के तहत लगाया जाता है?

5.4 राष्ट्रपति की शक्तियाँ

हमारे संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को व्यापक शक्तिया प्रदान की गयी हैं,जो निम्नलिखित हैं-

5.4.1 कार्यपालिका शक्तियाँ

संविधान के अनुच्छेद- 53(1) के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह इस शक्ति का प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा ।

अनुच्छेद- 74 के अनुसार राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्री-परिषद होगी जिसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होगा। राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग करने में मंत्री-मण्डल की सलाह के अनुसार कार्य करेगा। इसके आगे संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम 1978 द्वारा यह जोड़ा गया कि यदि मंत्री-परिषद की सलाह पर राष्ट्रपति पुनर्विचार करने को कह सकेगा, परन्तु राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात दी गयी सलाह के अनुसार कार्य करेगा। राष्ट्रपति की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों में मंत्री-परिषद का गठन महत्वपूर्ण है। संसदीय परम्परा के अनुरुप निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल के नेता को राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करता है तथा प्रधानमन्त्री की सलाह पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। अब तक नियुक्त अधिकांश प्रधानमन्त्री लोक सभा के सदस्य रहे हैं। श्रीमती इन्दिरा गाँधी पहली ऐसी प्रधानमन्त्री थी जो राज्य सभा से मनोनीत सदस्य थी। पूर्व प्रधानमन्त्री डा0 मनमोहन सिंह भी राज्य सभा सदस्य थे। संविधान के 91वें संशोधन 2003 द्वारा अनुच्छेद-75(1क) के अनुसार मन्त्री, राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करते हैं। अनुच्छेद- 75(3) के अनुसार, मंत्री-परिषद के सदस्य सामूहिक रुप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अनुच्छेद- 75(5) के अनुसार, कोई भी मन्त्री, निरन्तर छः मास तक संसद के किसी सदन का सदस्य हुए बिना भी मन्त्री रह सकता है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करना आवश्यक है कि जब लोक सभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिले अथवा लोक सभा में अविश्वास मत के कारण मंत्री-परिषद को त्याग-पत्र देना पड़े, ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति किस व्यक्ति को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करे, इस सम्बन्ध में संविधान मौन है। इस सबन्ध में राष्ट्रपति को स्वविवेकाधिकार प्राप्त है। इस सम्बन्ध में संसदीय परम्परा के अनुरुप सर्वप्रथम सबसे बड़े दल के नेता तथा जो बहुमत सिद्ध कर सकता है, उसे प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करते हैं।

इसके साथ-साथ राष्ट्रपति को संघ के महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति की शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। भारत के महान्यायवादी की नियुक्ति, नियन्त्रक-महालेखक की नियुक्ति, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति, राज्यपाल की नियुक्ति, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति, मुख्य निर्वाचन आयुक्त और निर्वाचन आयोग के अन्य सदस्य की नियुक्ति, अनुसूचित जातियों जनजातियों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति, भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति।

ये सभी नियुक्तियाँ राष्ट्रपति द्वारा मंत्री-परिषद की सलाह पर या संविधान द्वारा निश्चित व्यक्तियों से परामर्श के पश्चात की जाती है। राष्ट्रपति को उपर्युक्त अधिकारियों को हटाने की भी शक्ति प्राप्त है।

5.4.2 विधायी शक्तियाँ

भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। संविधान के अनुच्छेद- 79 के अनुसार राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है। संसद का गठन राष्ट्रपति, लोक सभा और राज्य सभा से मिलकर होता है। इस प्रकार संसद का महत्वपूर्ण अंग होने के नाते राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण विधायी शक्तियाँ प्राप्त हैं। कोई भी विधेयक संसद के दोनों सदनों (लोक सभा और राज्य सभा) द्वारा पारित होने के बाद राष्ट्रपति की स्वीकृति से ही अधिनियम का रुप लेता है।

संसद का अंग होने के नाते राष्ट्रपति को लोक सभा और राज्य सभा का सत्र आहूत करने और उसका सत्रावसान करने की शक्ति है। अनुच्छेद- 85 के अनुसार वह लोक सभा का विघटन कर सकता है। अनुच्छेद-108 के अनुसार वह साधारण विधेयक पर दोनों सदनों में विवाद होने पर संयुक्त अधिवेशन बुला सकता है। अनुच्छेद- 87 के अनुसार राष्ट्रपति प्रत्येक साधारण निर्वाचन के पश्चात प्रथम सत्र के प्रारम्भ पर और प्रत्येक वर्ष के पहले सत्र के प्रारम्भ पर एक साथ संसद के दोनों सदनों में अभिभाषण करता है। इसके अतिरिक्त किसी एक सदन या दोनों सदनों में एक साथ अभिभाषण करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति अनुच्छेद- 80 के अनुसार राज्य सभा में 12 सदस्यों को मनोनीत कर सकता है जो साहित्य, कला, विज्ञान या समाजसेवा के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त हों और अनुच्छेद- 331 के अनुसार लोक सभा में दो सदस्यों को आंग्ल भारतीय समुदाय से मनोनीत कर सकता है।

संविधान के उपबन्धों और कुछ अधिनियमों का अनुपालन करने के लिए राष्ट्रपति का यह कर्तव्य है कि कुछ प्रतिवेदनों को संसद के समक्ष रखवायेगा। इसका उद्देश्य यह है कि संसद को उन प्रतिवेदनों और उस पर की गयी कार्यवाही पर विचार करने का अवसर प्राप्त हो जाएगा। राष्ट्रपति का यह कर्तव्य है कि निम्नलिखित प्रतिवेदनों और दस्तावेजों को संसद के समक्ष रखवाऐं।

- अनुच्छेद- 112 के अनुसार- वार्षिक वित्तीय विवरण (बजट),
- अनुच्छेद- 151 के अनुसार- नियन्त्रक महालेखक का प्रतिवेदन,
- अनुच्छेद- 281 के अनुसार- वित्त आयोग की सिफारिशें,
- अनुच्छेद- 323 के अनुसार- संघ लोक सेवा आयोग का प्रतिवेदन,
- अनुच्छेद- 340 के अनुसार- पिछड़ा वर्ग आयोग का प्रतिवेदन,
- अनुच्छेद- 348 के अनुसार- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग का प्रतिवेदन,

- अनुच्छेद- 94(क) के अनुसार- राष्ट्रपति अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए, भारतीय संविधान के अंग्रेजी भाषा में किए गये प्रत्येक संशोधन का हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रकाशित करायेगा। इसके अतिरिक्त कुछ विषयों पर कानून बनाने के लिए, उस पर राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति आवश्यक है। जैसे-

अनुच्छेद- 3 के अनुसार नये राज्यों के निर्माण या विद्यमान राज्य की सीमा में परिवर्तन से संबंधित विधेयकों पर। अनुच्छेद- 117(1) धन विधेयकों के सम्बन्ध में। अनुच्छेद- 117(3) ऐसे व्यय से संबंधित विधेयक, जो भारत की संचित निधि से किया जाना हो। अनुच्छेद- 304 के अनुसार, राज्य सरकारों के ऐसे विधेयक जो व्यापार और वाणिज्य की स्वतन्त्रता पर प्रभाव डालते हों।

इस बात का हम उल्लेख कर चुके हैं कि संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित कोई भी विधेयक कानून तब तक नहीं बन सकता जब तक कि उस पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति न प्रदान करें। राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति दे सकता है, विधेयक को रोक सकता है या दोनों सदनों द्वारा पुनर्विचार के लिए वापस कर सकता है। यदि संसद पुनर्विचार के पश्चात विधेयक को राष्ट्रपति को वापस करती है, तो वह अपनी स्वीकृति देने के लिए बाध्य है। यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि राष्ट्रपति धन विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस नहीं कर सकता है, क्योंकि धन विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति से ही लोक सभा में रखा जाता है।

2006 में लाभ के पद से संबंधित संसद अयोग्यता निवारण संशोधन विधेयक लोक सभा और राज्य सभा द्वारा पारित होने के पश्चात राष्ट्रपति के समक्ष स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया गया, जिसे राष्ट्रपति ए0पी0जे0 कलाम ने पुनर्विचार के लिए, यह कहते हुए वापस कर दिया कि सांसदों और विधायकों को लाभ के पद के दायरे से बाहर रखने के व्यापक आधार बताए जाऐं। संसद के दोनों सदनों ने इसे पुनः मूल रुप में ही पारित कर दिया। यह पहला अवसर था कि राष्ट्रपति की आपत्तियों पर विचार किए बिना ही विधेयक को उसी रुप में पारित कर दिया गया। राज्य विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि के सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति को विभिन्न शक्तियाँ प्राप्त हैं-

1. राज्य विधान-मण्डल द्वारा पारित ऐसा विधेयक जो उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को प्रभावित करता है तो राज्यपाल उस विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए आरक्षित कर लेगा।
2. वित्तीय आपात काल लागू होने की स्थिति में, राष्ट्रपति यह निर्देश दे सकता है कि राज्य विधान सभा में प्रस्तुत किये जाने से पूर्व सभी धन विधेयकों पर उसकी अनुमति ली जाय।
3. सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए राज्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है।
4. राज्य के अन्दर या अन्य राज्यों के साथ व्यापार पर प्रतिबंध लगानें वाले विधेयकों को विधान सभा में प्रस्तुत करनें से पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक है।
5. **अध्यादेश जारी करने की शक्ति-** जब संसद सत्र में न हो और राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाय कि वर्तमान परिस्थिति में यथाशीघ्र कार्यवाही की आवश्यकता है, तो वे अनुच्छेद- 123 के अनुसार अध्यादेश जारी करते हैं। इस अध्यादेश का प्रभाव संसद द्वारा पारित और राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत अधिनियम के समान ही होता है। किन्तु अधिनियम स्थायी होता है और अध्यादेश का प्रभाव केवल छः माह तक ही रहता है। छः माह के अन्दर यदि अध्यादेश को संसद की स्वीकृति न प्राप्त हो तो वह स्वतः ही समाप्त हो जाएगा।

6. **वीटो (निषेधाधिकार) की शक्ति-** यह कार्यपालिका की शक्ति है, जिसके द्वारा वह किसी विधेयक को अनुमति देने से रोकता है। अनुमति देने से इन्कार करता है या अनुमति देने में विलम्ब करता है। वीटो के कई प्रकार हैं-

- **आत्यंतिक वीटो या पूर्ण वीटो-** यह वह वीटो है, जिसमें राष्ट्रपति संसद द्वारा पारित किसी विधेयक को अनुमति देने से इन्कार कर देता है। पूर्ण वीटो का प्रयोग धन विधेयक के सम्बन्ध में नहीं किया जा सकता, क्योंकि धन विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति से ही लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है।
- **निलम्बनकारी वीटो-** जिस वीटो को सामान्य बहुमत से समाप्त किया जा सकता है, उसे निलम्बनकारी वीटो कहा जाता है। इस प्रकार के वीटो का प्रयोग हमारे राष्ट्रपति उस समय करते हैं जब अनुच्छेद- 111 के अनुसार वे किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस करते हैं।
- **पाकेट वीटो या जेबी वीटो-** संसद द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति न तो अनुमति देता है और न ही पुनर्विचार के लिए वापस करता है, तब वह जेबी वीटो का प्रयोग करता है। हमारे संविधान में यह स्पष्ट उपबन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति कितने समय के भीतर विधेयक को अपनी अनुमति देगा। फलतः वह विधेयक को अपनी मेज पर अनिश्चित काल तक रख सकता है। जेबी वीटो का प्रयोग 1986 में संसद द्वारा पारित भारतीय डाक अधिनियम के सन्दर्भ में राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने किया था।

5.4.3 राजनयिक शक्तियाँ

यहाँ हम स्पष्ट करना चाहते हैं कि 21वीं सदी में भू-मण्डलीकरण की प्रक्रिया चल रही है। इस प्रक्रिया ने एक राष्ट्र के हित को विश्व के अन्य राष्ट्रों के साथ जोड़ दिया है। राष्ट्रों के मध्य आपसी संबंधों का संचालन राजनयिकों के द्वारा होता है। हमारे देश में राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान है। इसलिए अन्य राष्ट्रों के साथ संबंधों के संचालन की शक्ति भी राष्ट्रपति को प्रदान की गयी है और अन्य राष्ट्रों के साथ संबंधों का संचालन भी राष्ट्रपति के नाम से किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मामले में वे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत की ओर से भेजे जाने वाले राजदूत की नियुक्ति भी राष्ट्रपति ही करते हैं। दूसरे देशों से भारत में नियुक्त होने वाले राजदूत और उच्चायुक्त अपना परिचय-पत्र राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। परन्तु इन सभी विषयों में राष्ट्रपति मंत्री-परिषद की सलाह के अनुसार कार्य करता है।

5.4.4 सैनिक शक्तियाँ

जैसा कि हम इस इकाई में पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि संघ की समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित हैं, इसी कारण से वह तीनों सेनाओं का प्रधान सेनापति है। किन्तु हमारे राष्ट्रपति की सैन्य शक्तियाँ अमेरिका के राष्ट्रपति के समान नहीं हैं, क्योंकि ये अपनी शक्तियों के प्रयोग संसद द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार करते हैं। जबकि अमेरिका के राष्ट्रपति पर इस प्रकार के कोई प्रतिबंध नहीं है।

5.4.5 न्यायिक शक्तियाँ

भारतीय संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को व्यापक रुप से न्यायिक शक्तियाँ प्राप्त हैं, जो निम्नलिखित हैं-

1. **न्यायाधीशों की नियुक्ति-** अनुच्छेद- 217 के के अनुसार राष्ट्रपति उच्च न्यायालय और अनुच्छेद- 124 के तहत उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते हैं। उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय वह उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश से परामर्श कर सकते हैं। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करते हैं।
2. **क्षमादान की शक्ति-** राष्ट्रपति को कार्यपालिका और विधायी श्क्तियों के साथ-साथ न्यायिक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं, जिनमें क्षमादान की शक्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो अनुच्छेद- 72 के अनुसार प्राप्त है। वे इस क्षमादान की शक्ति के तहत किसी दोषी ठहराये गये व्यक्ति के दण्ड को क्षमा तथा सिद्ध दोष के निलंबन, परिहार या लघुकरण की शक्ति प्राप्त है। राष्ट्रपति इन शक्तियों का प्रयोग निम्नलिखित परिस्थितियों में करते हैं। सेना द्वारा दिये गये दण्ड के मामले में, जब दण्ड ऐसे विषयों के मामले में दिया गया हो जो संघ के कार्यपालिका क्षेत्र में आते हों, ऐसी परिस्थिति में जब किसी व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया गया हो, क्षमादान की शक्ति का प्रयोग भी वह मंत्री-परिषद की सलाह के अनुसार करता है।
   क्षमादान की इस शक्ति को देने के पीछे सोच यह है कि न्यायाधीश भी मनुष्य होते हैं। इसलिए उनके द्वारा की गयी किसी भूल को सुधारने की गुंजाइस बनी रहे।
3. **उच्चतम न्यायालय से परामर्श लेने का अधिकार-** हमारे संविधान के अनुच्छेद- 143 के अनुसार, यदि राष्ट्रपति को ऐसा कभी प्रतीत होता है कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है या उत्पन्न होने की संभावना है, जो ऐसी प्रकृति और व्यापक महत्व का है तो उस पर उच्चतम न्यायालय से राय माँग सकता है। इस प्रकार की राय राष्ट्रपति पर बाध्यकारी नहीं होती है। इसके साथ-साथ उच्चतम न्यायालय को यदि वह आवश्यक समझे तो अपनी राय देने से इन्कार कर सकता है।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को अन्य अधिकार प्राप्त हैं। जैसे- संविधान के अनुच्छेद- 130 के अनुसार, यदि सर्वोच्च न्यायालय अपना स्थान दिल्ली के बजाय किसी अन्य स्थान पर स्थानान्तरित करना चाहे तो इसके लिए राष्ट्रपति से अनुमति लेना आवश्यक है ।

5.4.6 आपात कालीन शक्तियाँ

हमारे संविधान निर्माता गुलामी की दु:खद घटना और आजादी की लम्बी लड़ाई के पश्चात आजाद हो रहे देश के दु:खद विभाजन से परिचित थे। इसलिए देश में भविष्य में उत्पन्न होने वाली संकटकालीन स्थितियों से निपटने के लिए संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को विस्तृत आपातकालीन शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। हमारे संविधान के भाग-18 के अनुच्छेद- 352 से अनुच्छेद- 360 तक राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों का उपबन्ध किया गया है। ये शक्तियाँ निम्नलिखित तीन प्रकार की हैं-

1. **राष्ट्रीय आपात-** संविधान के अनुच्छेद- 352 में यह उपबन्ध किया गया है कि, यदि राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाय कि युद्ध, वाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण भारत या उसके किसी भाग की सुरक्षा संकट में है या संकट में होने की आशंका है, तो उनके द्वारा आपात की उद्-घोषणा की जा सकती है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मूल संविधान में सशस्त्र विद्रोह की जगह आन्तरिक अशान्ति शब्द था। 1975 में तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी के लोक सभा चुनाव को इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा रद्द किये जाने के पश्चात आन्तरिक अशान्ति के नाम पर प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर राष्ट्रपति ने राष्ट्रीय आपात की घोषणा की।

1977 के लोक सभा के चुनाव में कांग्रेस को पराजय का मुंह देखना पड़ा। जनता पार्टी की सरकार बनी। इस सरकार नें 1979 के 44वें संविधानिक संशोधन के द्वारा आन्तरिक अशान्ति के स्थान पर सशस्त्र विद्रोह शब्द रखा गया। साथ ही यह भी उपबन्ध किया गया कि आपातकाल की घोषणा अब संघ के मंत्री-मण्डल (प्रधानमन्त्री और मंत्री-मण्डल स्तर के अन्य मंत्री) की सिफारिश से राष्ट्रपति द्वारा ही की जाएगी।
राष्ट्रपति द्वारा आपात की घोषणा के एक माह के अन्दर संसद के द्वारा विशेष बहुमत से स्वीकृति आवश्यक है। दूसरे शब्दों में इस घोषणा को लोक सभा और राज्य सभा द्वारा पृथक-पृथक कुल सदस्य संख्या के बहुमत और उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृति आवश्यक है। आपात की घोषणा के समय यदि लोक सभा का विघटन हुआ है, तो एक माह के अन्दर राज्य सभा की विशेष स्वीकृति आवश्यक है। नवगठित लोकसभा के द्वारा उसकी प्रथम बैठक के तीस दिन के अन्दर विशेष बहुमत से स्वीकृति आवश्यक है। आपातकाल को यदि आगे भी लागू रखना है तो उसे प्रत्येक छः माह पश्चात संसद की स्वीकृति आवश्यक है। यदि आपातकाल की घोषणा एक सदन द्वारा की जाय और दूसरा सदन अस्वीकार कर दे, तो यह घोषणा एक माह के पश्चात समाप्त हो जाएगी। इस आपात काल को संसद साधरण बहुमत से समाप्त कर सकती है ।
संविधान के 38वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा यह उपबंध किया गया कि आपात काल की उद्-घोषणा को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। 44वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा इस प्रावधान को समाप्त कर दिया गया। संविधान के प्रारम्भ में यह उपबन्ध था कि अनुच्छेद- 352 के अनुसार आपातकाल को पूरे देश में ही लागू किया जा सकता है, किसी एक भाग में नहीं। परन्तु 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि आपात काल की उद्-घोषणा देश के किसी एक भाग या कई भागों में की जा सकती है।

- अभी तक कुल तीन बार राष्ट्रीय आपात की घोषणा की गयी है। पहली बार, 26 अक्टूबर 1962 से 10 जनवरी 1968 तक चीनी आक्रमण के कारण। दूसरी बार, पाकिस्तान के द्वारा आक्रमण के कारण 03 दिसम्बर 1971 को घोषणा की गयी तथा तीसरी बार, 25 जून 1975 को आन्तरिक अशान्ति के आधार पर आपातकाल की घोषणा की गयी, इनकी समाप्ति 21 मार्च 1977 को की गयी।
- अनुच्छेद- 83(2) के अनुसार, जब आपात की उद्-घोषणा की गयी हो तब लोक सभा अपने कार्यकाल को एक साल के लिए बढा सकती है। किन्तु आपात की उद्-घोषणा के समाप्त होने पर, यह कार्यकाल वृद्धि अधिकतम छः मास तक ही चल सकती है। अनुच्छेद- 250 के अनुसार, आपातकाल की उद्-घोषणा के दौरान संबंधित राज्य में संसद को राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यद्यपि राज्य की विधायी शक्तियाँ राज्य के पास बनी रहती है, किन्तु उन पर निर्णायक शक्ति संसद के पास रहती है।
- हम उपर इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि अनुच्छेद- 73 के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति उन विषयों तक सीमित है, जिन पर संसद को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है, किन्तु आपातकाल की उद्-घोषणा के दौरान केन्द्र सरकार जहाँ आपातकाल लागू है, उस राज्य के

साथ ही साथ देश के किसी भी राज्य को यह निर्देश दे सकता है कि वह अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किस प्रकार करे।

- संविधान के अनुच्छेद- 354 में यह स्पष्ट उल्लेख है कि राष्ट्रपति के आदेश से केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्ध को उस सीमा तक परिवर्तित किया जा सकता है, जिस सीमा तक की स्थिति का सामना करने के लिए आवश्यक हो। राष्ट्रपति के इस प्रकार के आदेश को यथाशीघ्र संसद के समक्ष रखना आवश्यक होता है।
- वाह्य आक्रमण के कारण यदि राष्ट्रीय आपात की घोषणा की गयी है, तो अनुच्छेद- 358 के अनुसार, अनुच्छेद- 19 द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता का अधिकार निलंबित हो जाता है। जबकि अनुच्छेद- 359 के तहत उन्हीं अधिकारों का निलंबन होता है, जो राष्ट्रपति के आदेश में स्पष्ट किया गया हो। इसके बावजूद भी अनुच्छेद- 20 और 21 के तहत प्रदत्त मूल अधिकारों का निलंबन किसी भी स्थिति में नहीं हो सकता है।

2. **राज्यों में संवैधानिक तन्त्र की विफलता-** अनुच्छेद- 355 में यह उपबन्ध है कि संघ सरकार का यह दायित्व है कि वह राज्यों की वाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति से रक्षा करे। साथ ही यह भी देखे कि प्रत्येक राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार चल रहा हो। अनुच्छेद- 356(1) के अनुसार, यदि राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाए कि राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार न चलने के कारण संवैधानिक तन्त्र विफल हो गया है तो वह राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है। राष्ट्रपति का यह समाधान राज्यपाल के प्रतिवेदन पर भी आधरित हो सकता है। अनुच्छेद- 365 के अनुसार राष्ट्रपति किसी राज्य की सरकार के विरुद्ध अनुच्छेद- 356 का प्रयोग उस समय भी कर सकता है, जब संबंधित राज्य की सरकार संघ सरकार के निर्देशों का पालन करने में असफल हो जाती है।

   राज्यों में राष्ट्रपति शासन की घोषणा दो माह के लिए होती है, किन्तु यदि घोषणा के पश्चात लोक सभा का विघटन हो जाता है तो नवीन लोक सभा के गठन के बाद प्रथम बैठक के तीस दिन के बाद घोषणा तभी लागू रह सकती है जब कि नवीन लोक सभा उसका अनुमोदन कर दे। इस प्रकार की घोषणा एक बार में छः माह के लिए और अधिकतम तीन वर्ष(पंजाब में पाँच वर्ष तक लागू थी) के लिए लागू की जा सकती है। 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह उपबन्ध किया गया कि एक वर्ष से अधिक समय तक राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए दो आवश्यक शर्तें हैं, पहली- जब सम्पूर्ण देश में या उसके किसी एक भाग में अनुच्छेद- 352 के तहत राष्ट्रीय आपात काल की घोषणा लागू हो और दूसरी- निर्वाचन आयोग इस बात को प्रमाणित करे कि संबंधित राज्य में वर्तमान परिस्थितियों में चुनाव कराना सम्भव नहीं है।

   - **राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने का प्रभाव-** राष्ट्रपति इस बात की घोषणा कर सकता है कि राज्य के कानून निर्माण की शक्ति का प्रयोग संसद करेगी। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अनुच्छेद- 356 की घोषणा के पश्चात यह आवश्यक नहीं है कि विधान सभा का विघटन कर दिया जाय। विधान सभा को केवल निलंवित भी किया जा सकता है। यदि संसद का सत्र न चल रहा हो तो राष्ट्रपति राज्य की संचित निधि में से आवश्यक खर्च की अनुमति दे सकता है। राष्ट्रपति कार्यपालिका सम्बन्धी सभी या आंशिक कृत्यों को अपने हाथों में ले सकता है, उच्च न्यायालय के कार्यों को छोड़कर।

- **अनुच्छेद- 352 और अनुच्छेद- 356 की तुलना-** जैसा कि ऊपर आप देख चुके हैं अनुच्छेद- 352 और 356 का प्रयोग राष्ट्रपति करते हैं, किन्तु दोनों के प्रभावों में अन्तर हैं। जब किसी राज्य में राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा की जाती है तो संसद को समवर्ती-सूची के साथ-साथ राज्य-सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है, किन्तु राज्य विधान सभा और कार्यपालिका का अस्तित्व बना रहता है और वे अपना कार्य भी करती रहती हैं, परन्तु अनुच्छेद- 356 के तहत जब राष्ट्रपति किसी राज्य में संवैधानिक तन्त्र के विफलता की घोषणा करते हैं, तो संबंधित राज्य की विधान सभा निलंबित कर दी जाती है और कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ पूर्णतः या आंशिक रुप से राष्ट्रपति द्वारा ग्रहण कर ली जाती हैं।

अनुच्छेद- 356 के तहत संवैधानिक तन्त्र के विफलता की घोषणा की अधिकतम अवधि तीन वर्ष हो सकती है, जबकि अनुच्छेद- 352 के तहत लागू किया जाने वाला राष्ट्रीय आपातकाल को प्रत्येक छः माह के पश्चात संसद की स्वीकृति आवश्यक है। यह प्रक्रिया तब तक चल सकती है जब तक कि संसद स्वयं के संकल्प से समाप्त न कर दे।

3. **वित्तीय आपात काल-** अनुच्छेद- 360 में यह उपबंध किया गया है कि, यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाए कि भारत में या उसके किसी राज्य क्षेत्र में वित्तीय साख को खतरा उत्पन्न हो गया है तो वह वित्तीय संकट की घोषणा कर सकते हैं। वित्तीय आपात की उद्-घोषणा को भी राष्ट्रीय आपात के समान ही दो माह के अन्दर संसद की स्वीकृति आवश्यक है। यदि दो माह के पूर्व संसद के दोनों सदन अपनी स्वीकृति प्रदान कर दें तो, इसे अनिश्चित काल तक लागू किया जा सकता है, अन्यथा यह उद्-घोषणा दो माह की समाप्ति पर स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। यदि इसी दौरान लोक सभा का विघटन हुआ है तो राज्य सभा की स्वीकृति आवश्यक है। परन्तु नवीन लोक सभा के प्रथम बैठक के तीस दिन के अन्दर लोक सभा की स्वीकृति आवश्यक है, अन्यथा घोषणा स्वतः ही निरस्त हो जाएगी।

    - **वित्तीय आपात की घोषणा का प्रभाव-** संघ और राज्यों के किसी भी वर्ग के अधिकारियों के वेतन में कमी की जा सकती है। इस समय राष्ट्रपति न्यायाधीशों के वेतन में भी कटौती के आदेश दे सकता है। राज्य के समस्त वित्त विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए पेश किये जाने के निर्देश दिये जा सकते हैं। संघीय सरकार, राज्य की सरकार को शासन सम्बन्धी आवश्यक निर्देश दे सकती है। राष्ट्रपति द्वारा संघ और राज्यों के मध्य वित्तीय वितरण के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश दिये जा सकते हैं।

5.5 राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को प्रदान की गयी व्यापक शक्तियों के आधार पर यह धारणा बनी कि राष्ट्रपति कुछ शक्तियों का प्रयोग मंत्री-परिषद के परामर्श के बिना भी कर सकते हैं, जो संसदात्मक व्यवस्था के परम्पराओं के विपरीत है। इसलिए इसके निवारण के लिए 42वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा अनुच्छेद- 74 के स्थान पर इस प्रकार के उपबन्ध किया गया।

राष्ट्रपति को सहायता और परामर्श देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मंत्री-परिषद होगी और राष्ट्रपति अपने कार्यों के संपादन में मंत्री-परिषद के परामर्श के आधार पर कार्य करेगा। इस उपबन्ध से राष्ट्रपति के पद की गरिमा को आघात पहुँचा। इसलिए 44वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा निम्न उपबन्ध किये गये-

राष्ट्रपति को मंत्री-परिषद से जो परामर्श प्राप्त होगा उसके सम्बन्ध में राष्ट्रपति को यह अधिकार होगा कि वह मंत्री-परिषद को इस परामर्श पर पुनर्विचार करने के लिए कहे, लेकिन पुनर्विचार के बाद मंत्री-परिषद जो परामर्श देगी, राष्ट्रपति उसी परामर्श के अनुसार कार्य करेगा।

इस प्रकार राष्ट्रपति के सम्बन्ध में संवैधानिक स्थिति यह नियत करती है कि संसदीय शासन की भावना के अनुरुप राष्ट्रपति, राष्ट्र का संवैधानिक प्रधान है। किन्तु भारतीय राजनीति में उभरती हुई अनिश्चितता के दौर में राष्ट्रपति की भूमिका सक्रिय और अति महत्वपूर्ण होती जा रही है। राष्ट्रपति की इस सक्रियता और महत्ता का कारण, गठबन्धन की राजनीति और प्रधानमन्त्री पद की गरिमा में तेज गिरावट प्रमुख कारण है।

अभ्यास प्रश्न- 2

1. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति किस अनुच्छेद के तहत की जाती है?
2. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति किस अनुच्छेद के तहत की जाती है?
3. राष्ट्रपति राष्ट्रीय आपात की घोषणा किस अनुच्छेद के अनुसार करता है?
4. 1975 में राष्ट्रीय आपात की घोषणा किस आधार पर की गयी थी?
5. राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष चुनाव के द्वारा होता है। सत्य/असत्य
6. राष्ट्रपति के निर्वाचन में केवल लोक सभा और राज्य सभा के सदस्य भाग लेते हैं। सत्य/असत्य
7. राष्ट्रपति पर महाभियोग अनुच्छेद- 63 के तहत लगाया जाता है। सत्य/असत्य
8. राष्ट्रपति को शपथ राज्यपाल दिलाते हैं। सत्य/असत्य
9. राष्ट्रपति, राज्यपाल की सिफारिश से अनुच्छेद- 356 के तहत राष्ट्रीय आपात की घोषणा करते हैं। सत्य/असत्य

5.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से यह स्पष्ट से यह स्पष्ट हो गया है कि राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान होने के साथ ही साथ व्यवस्थापिका का अंग भी है, क्योंकि संसद के द्वारा पारित कोई भी विधेयक तभी कानून बनता है जब राष्ट्रपति उसे अपनी स्वीकृति देते हैं। इस प्रकार संसदीय शासन की जो प्रमुख विशेषता है, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का मिश्रित स्वरुप, वह राष्ट्रपति के पद में स्पष्ट रुप से दिखाई देती है। भारत में संसदीय प्रणाली में राष्ट्रपति कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है, किन्तु ब्रिटेन के सम्राट के समान वह रबर मुहर नहीं है। राष्ट्रपति को कुछ विवेकी शक्तियाँ प्राप्त हैं और कुछ स्थितियों में भारत के राष्ट्रपति ने बड़ी ही समझदारी से कार्य किया है। जब किसी दल को लोक सभा में बहुमत नहीं मिलता है तो राष्ट्रपति स्वविवेक से उसे सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करता है, जिसे वह समझे कि वह सदन में अपना बहुमत सिद्ध कर सकता है। इसके साथ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 1984 में इन्दिरा गाँधी की हत्या के उपरान्त प्रधानमन्त्री का पद रिक्त न हो, राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने राजीव गाँधी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए राष्ट्रपति के द्वारा लौटाया जाना भी अपने आप में गम्भीर विषय माना जाता है। इस प्रकार जैसा उपर उल्लेख किया गया है, राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान होने के नाते व्यापक रुप से नियुक्तियाँ करने और पदच्युत करने का भी अधिकार है, साथ

ही क्षमादान की महत्वपूर्ण शक्ति भी प्राप्त है। विधायन के क्षेत्र में जब संसद का सत्र न चल रहा हो तो राष्ट्रपति की अध्यादेश निकालने की शक्ति भी महत्वपूर्ण है। इस प्रकार से यह पद भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

5.7 शब्दावली

संसद- राष्ट्रपति + राज्य सभा + लोक सभा

औपचारिक प्रधान- जिसके नाम से समस्त कार्य किये जाते है, परन्तु वह स्वयं उन शक्तियों का प्रयोग न करता हो।

गणतन्त्र- राज्य का प्रधान निर्वाचित हों, वंशानुगत राजा नहीं।

कोटा- जीत के लिए आवश्यक न्यूनतम मत (समस्त का 51 प्रतिशत)

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न-1 **1.** लोक सभा, राज्य सभा और सभी राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य, **2.** 5 वर्ष, **3.** अनुच्छेद 61

अभ्यास प्रश्न-2 **1.** अनुच्छेद 124, **2.** अनुच्छेद 217 **3.** अनुच्छेद 352, **4.** आन्तरिक अशान्ति, **5.** असत्य, **6.** असत्य, **7.** असत्य, **8.** असत्य, **9.** असत्य

5.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ0 रूपा मंगलानी- भारतीय शासन एवं राजनीति (2009), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
2. त्रिवेदी एवं राय- भारतीय सरकार एवं राजनीति।
3. महेन्द्र प्रताप सिंह- भारतीय शासन एवं राजनीति(2011), ओरियन्टल ब्लैक स्वान, नई दिल्ली।
4. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी(2011), लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारत का संविधान- ब्रज किशोर शर्मा (2008), प्रेन्टिस हाल ऑफ इंडिया, नई दिल्ली।
2. भारत में लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया(2010), साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. The Constitution of India- J.C. Johari(2004) Sterling Publishers Private Limited, New Delhi

5.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रपति कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान से अधिक है, स्पष्ट कीजिये।
2. राष्ट्रपति के चुनाव प्रक्रिया की विवेचना कीजिये।
3. राष्ट्रपति के आपातकालीन शक्तियों की समीक्षा कीजिये।

इकाई- 6 प्रधानमन्त्री और मंत्री-परिषद

इकाई की संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 प्रधानमन्त्री
    6.2.1 प्रधानमन्त्री की नियुक्ति
    6.2.2 प्रधानमन्त्री और मंत्री-मण्डल के बीच सम्बन्ध
    6.2.3 प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध
    6.2.4 प्रधानमन्त्री और संसद के बीच सम्बन्ध
6.3 सारांश
6.4 शब्दावली
6.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.8 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

पिछली इकाई में भारतीय प्रशासन में राष्ट्रपति की स्थिति के बारे में अध्ययन किया है और पाया कि भारत का राष्ट्रपति ब्रिटेन के सम्राट से अधिक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण स्थिति में है, क्योंकि एक तरफ वह राष्ट्र की एकता और गरिमा का प्रतीक है तो उसे कुछ स्वविवेकि शाक्तियाँ प्रदान कर राजव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान की गयी है।

इस इकाई में हम देखेंगे कि राष्ट्रपति के नाम से जिन शक्तियों का प्रयोग मंत्री-परिषद करती है, उसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होता है। प्रधानमन्त्री का पद हमारे देश में संसदीय शासन प्रणाली होने के नाते बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होने के नाते इस कारण से सदन का नेता होने के कारण और अन्ततः दलीय अनुशासन के कारण से शासन व्यवस्था को नेतृत्व प्रदान करता है। किन्तु यही शक्तिशाली प्रधानमंत्री की स्थिति, गठबंधन सरकार होने पर अत्यन्त कमजोर हो जाती है, फिर भी वह केन्द्रीय सत्ता की धुरी होता है।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- जान सकेंगे कि संसदीय शासन में प्रधानमन्त्री कितना महत्वपूर्ण है।
- सरकार के गठन में प्रधानमन्त्री की महत्वपूर्ण भूमिका के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- प्रधानमन्त्री निम्न सदन (लोक सभा) का नेता भी होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- प्रधानमन्त्री अपने दल का अत्यधिक प्रभावशाली होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

- मंत्री-परिषद के विघटन की भी प्रधानमन्त्री की महत्व पूर्ण शक्ति होती है, इस सम्बन्ध में जान सकेंगे।

6.2 प्रधानमन्त्री

भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। इस शासन में प्रधानमन्त्री का पद, शासन व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु होता है। इसमें नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में भेद पाया जाता है। नाममात्र की कार्यपालिका राष्ट्रपति होता है और वास्तविक कार्यपालिका मंत्री-परिषद होती है, जिसका नेतृत्व प्रधानमन्त्री करता है। राष्ट्रपति के नाम से समस्त कार्यपालिका शक्तियों प्रयोग, प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मंत्री-परिषद करती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 74(1) के अनुसार राष्ट्रपति को अपने कार्यों में सहायता तथा मन्त्रणा के लिए एक मंत्री-मण्डल होगा, जिसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होगा। इसके आगे अनुच्छेद-75(1) में कहा गया है कि, प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री के परामर्श पर करेगा। संसदीय लोकतन्त्र की परम्परा के अनुसार राष्ट्रपति लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हमारे संविधान में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति बहुमत दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करने को बाध्य हो।

अनुच्छेद- 75(5) के अनुसार के कोई भी व्यक्ति संसद का सदस्य हुए बिना छः माह तक मन्त्री पद पर रह सकता है। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रधानमन्त्री का नियुक्ति निम्न सदन (लोक सभा) से ही हो। उदाहरण स्वरुप- इन्दिरा गान्धी को जब पहली बार 1966 प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया तो उस समय वे उच्च सदन (राज्य सभा) की सदस्य थीं। ब्रिटेन की संसदीय परम्पराओं के अनुसार प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति ने कभी अपने विवेक का प्रयोग नहीं किया बल्कि बहुमत प्राप्त दल के नेता, किसी दल को बहुमत न मिलने की स्थिति में सबसे बड़े दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया।

संविधान के उपबन्धों और गत 64 वर्ष के व्यावहारिक अनुभवों से प्रधानमन्त्री के पद और स्थिति की जानकारी के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं पर विस्तृत विचार करना आवश्यक है -

6.2.1 प्रधानमन्त्री की नियुक्ति

इस बात का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं कि संसदीय परम्परा के अनुरुप राष्ट्रपति लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल के नेता को, प्रधानमन्त्री नियुक्त करता है। 1946 की अन्तरिम सरकार में जवाहर लाल नेहरु को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया। 1952, 1957 और 1962 के लोक सभा के आम चुनाव में कांग्रेस को सफलता मिली और नेहरु जी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता रहा। 1964 में इनकी मृत्यु के उपरान्त कांग्रेस के वरिष्ठतम सदस्य गुलजारी लाल नन्दा को अस्थायी रुप से प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया। इसके पश्चात कांग्रेस अध्यक्ष कामराज की कुशलता से लाल बहादुर शास्त्री को स्थायी प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया।

1966 में शास्त्री जी की आकस्मिक मृत्यु के उपरान्त एक बार पुनः नेता के चुनाव के प्रश्न पर मतभेद उभरा, क्योंकि काग्रेस अध्यक्ष कामराज इन्दिरा गाँधी को चाहते थे, जबकि कांग्रेस के वरिष्ठतम सदस्य मोरारजी देसाई भी दावेदारी कर रहे थे। फलस्वरुप दल के चुनाव में श्रीमती गाँधी 169 के मुकाबले 355 मतों से विजयी रहीं। दल में इस विभाजन के कारण 1967 के चुनाव में कुछ राज्यों में भारी पराजय का सामना करना पड़ा। कांग्रेस, लोक सभा के 1962 के चुनाव में 361 स्थानों पर विजयी हुई थी, जबकि 1967 में यह संख्या घटकर 283 हो गयी। 1967 के चुनाव के उपरान्त इन्दिरा गाँधी सर्वसम्मति से प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त की गयी। दूसरे गुट के सदस्य मोरारजी देसाई को उप-प्रधानमन्त्री और गृहमन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया। फिर भी मोरारजी देसाई को असन्तोष था

और उन्होंनें इन्दिरा गाँधी के प्रगतिशील आर्थिक नीतियों का, जैसे- बैंकों के राष्ट्रीयकरण का विरोध किया। 1969 के राष्ट्रपति के चुनाव में तो यह विरोध और भी मुखर होकर सामने आ गया। कांग्रेस के अधिकृत उम्मीदवार नीलम संजीव रेड्डी के खिलाफ श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने निर्दलीय प्रत्याशी वी0वी0 गिरी को राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित करवाया, फलस्वरुप कांग्रेस का विभाजन हो गया। इन्दिरा गुट अल्पमत में आ गयी। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की सिफारिश पर राष्ट्रपति ने लोक सभा का विघटन कर दिया। 1971 के पूर्वार्द्ध में लोक सभा के प्रथम मध्यावधि चुनाव हुए। इन्दिरा गुट को भारी सफलता प्राप्त हुई और राष्ट्रपति ने इन्दिरा गाँधी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। इस सफलता ने श्रीमती गाँधी को एक शक्तिशाली नेता के रुप में राजनीतिक मंच पर स्थापित कर दिया।

इन्दिरा गाँधी की चुनावी सफलता और समाजवाद के चमत्कारिक नारे ने उनके प्रभाव में ऐसी बृद्धि की कि कांग्रेस के सर्वमान्य नेता के रुप में स्थापित हुई। 1977 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस की पराजय हुई और जनता पार्टी को सफलता मिली। मोरारजी देसाई को, राष्ट्रपति ने, प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया।

जनता पार्टी के सरकार बनाने के समय से ही उसके विभिन्न घटक दलों में मतभेद थे, जो 1977 तक बहुत बढ गये। इस स्थिति को देखते हुए जुलाई 1977 में विपक्ष अविश्वास प्रस्ताव ले आया और मोरारजी देसाई ने बिना सामना किये ही प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके पश्चात सरकार बनाने की विभिन्न संभावनाओं पर विचार करते हुए. चौधरी चरण सिंह को तीन महीने में बहुमत सिद्ध करने की शर्त के साथ सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। परन्तु कांग्रेस पार्टी ने चरण सिंह से अपना समर्थन वापस ले लिया। यह समर्थन चरण सिंह द्वारा लोक सभा में बहुमत सिद्ध करने की तिथि के पहले ही ले लिया गया, परिणामस्वरुप चौधरी चरण सिंह ने लोक सभा का सामना किये बिना ही त्यागपत्र देते हुए राष्ट्रपति से लोक सभा विघटित करने की सिफारिश की। तत्कालीन राष्ट्रपति ने लोक सभा का विघटन करते हुए. चौधरी चरण सिंह को कार्यवाहक प्रधानमन्त्री के रुप में रहने दिया।

1980 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस पार्टी को एक बार पुनः आश्चर्यजनक सफलता मिली और श्रीमती गाँधी एक बार पुनः प्रभावशाली प्रधानमन्त्री के रुप में स्थापित हुई। किन्तु श्रीमती गाँधी की दुर्भाग्यपूर्ण हत्या(31 अक्टूबर 1984) हो गयी। तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने कांग्रेस संसदीय बोर्ड की सिफारिश पर राजीव गाँधी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। चूँकि श्रीमती गाँधी की हत्या के कारण राजीव गाँधी के साथ जनता की बहुत सहानुभूति थी, इसलिए 1984 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस को अब तक सर्वाधिक सीटें प्राप्त हुई। इस सफलता के केन्द्र में राजीव गाँधी थे, इसलिए राजीव गाँधी का प्रधानमन्त्री बनना तय था। भारतीय राजव्यवस्था और प्रधानमन्त्री पद के लिए 1989 का लोक सभा चुनाव एक विभाजक चुनाव था। इस चुनाव ने एकदलीय प्रभुत्व का अन्त किया क्योंकि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। जनता दल के वी0पी0 सिंह भाजपा सहित अन्य दलों के समर्थन से प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किये गये, किन्तु नवम्बर 1990 में भाजपा के समर्थन वापस लेने की वजह से वी0पी0 सिंह सरकार का पतन हो गया। वी0पी0 सिंह सरकार के पतन के साथ ही जनता दल का विभाजन हो गया। चन्द्रशेखर सिंह ने कांग्रेस के समर्थन से प्रधानमन्त्री पद प्राप्त किया। कांग्रेस के समर्थन वापस लेने कारण चन्द्रशेखर सरकार का भी अल्पायु में ही, जून1991 में पतन हो गया। 1991 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस सबसे बड़े दल के रुप में उभरी। मई 1991 राजीव गाँधी की हत्या हो गयी। इस राजनीतिक वातावरण में पी0वी0 नरसिंहराव को राष्ट्रपति ने प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया।

1996 के लोक सभा चुनाव में भी किसी दल को बहुमत नहीं मिला। तेरह दलों का सहयोग प्राप्त कर भाजपा के अटलबिहारी वाजपेयी को राष्ट्रपति ने प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया, किन्तु इस सरकार का कार्यकाल मात्र तेरह दिन ही रहा। इसके पश्चात एच0डी0 देवगौड़ा और इन्द्र कुमार गुजराल की कांग्रेस समर्थित सरकारें बनीं जो, अल्पकालिक ही रहीं। 1998 के लोक सभा चुनाव में के पश्चात भाजपा और उसके सहयोगी दलों के नेता अटल विहारी वाजपेयी पुनः प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त हुए। किन्तु यह सरकार भी स्थायी नहीं रही और पुनः 1999 में लोक सभा के चुनाव में किसी भी दल को बहुमत नहीं प्राप्त हुआ। अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा सहित पन्द्रह दलों की गठबंधन सरकार का गठन किया गया। इस गठबंधन सरकार में मंत्री-मण्डल के सदस्यों का चयन प्रधानमन्त्री की इच्छा पर निर्भर न होकर, घटक दलों की इच्छा और उनकी सौदेबाजी की स्थिति पर आधारित था।

इसी प्रकार 2004 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस के नेतृत्व में ग्यारह दलों के औपचारिक समर्थन और आठ दलों के बाहर से समर्थन से गठबंधन सरकार का गठन हुआ। इस सरकार ने अपना कार्यकाल पूरा किया। 2009 के 15वीं लोक सभा चुनाव में पुनः कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार का गठन हुआ। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि गठबंधन सरकार में मंत्री-परिषद के गठन में प्रधानमन्त्री पूरी तरह से स्वतंत्र नहीं होते हैं, क्योंकि क्षेत्रीय दल, सरकार को समर्थन अपने हितों की सिद्धि के लिए करते हैं। ऐसे सौदेबाजी के वातावरण में प्रधानमन्त्री की स्थिति बहुत मजबूत एवं निर्णायक नहीं हो सकती।

6.2.2 प्रधानमन्त्री और मंत्री-मण्डल के बीच सम्बन्ध

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 75(1) के अनुसार राष्ट्रपति मंत्रियों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री की मंत्रणा से करता है। भारत में भी इग्लैण्ड के समान संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। संसदीय परम्परा का अनुसरण करते हुए भारत में भी मंत्री पद का चयन प्रधानमन्त्री करते हैं, राष्ट्रपति की स्वीकृति एक औपचारिकता होती है। प्रधानमन्त्री मंत्रियों के चयन में उस समय शक्तिशाली होता था और उसके निर्णय निर्णायक भी होते थे, जब एक दल बहुमत के आधार पर सरकार का गठन करता था। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में स्थिति काफी हद तक बदल गयी है, क्योंकि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पा रहा है। सरकार के गठन और उसकी स्थिरता के लिए, विभिन्न क्षेत्रीय दलों के सहयोग की आवश्यकता होती है। ये क्षेत्रीय दल सहयोग के बदले में मंत्री पद प्राप्त करने की सौदेबाजी करते हैं। मंत्रियों को विभागों का बंटवारा भी प्रधानमन्त्री का विवेकाधिकार होता है, परन्तु मंत्री-परिषद का गठन करते समय उन्हें जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र तथा सहयोगी क्षेत्रीय दलों की निम्न सदन (लोक सभा) में सफल सदस्यों की सख्या को महत्व देना पड़ता है।

6.2.3 प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध

भारतीय प्रशासन में प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के बीच का सम्बन्ध अति महत्वपूर्ण है, क्योंकि भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। संसदीय शासन प्रणाली में राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका होता हैं, जिनके नाम से सभी कार्य किये जाते हैं। जबकि मंत्री-परिषद वास्तविक कार्यपालिका होती है। प्रधानमन्त्री , मंत्री-परिषद को नेतृत्व प्रदान करते हैं। मूल संविधान में यह उपबन्ध था कि राष्ट्रपति, मंत्री-परिषद के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं थे, किन्तु 42वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा यह उपबन्ध किया गया कि राष्ट्रपति, मंत्री-परिषद की सिफारिस मानने के लिए बाध्य है। 44वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा पुनः पूर्व स्थिति को बहाल कर दिया गया।

राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के बीच सम्बन्ध मुख्यतः दो बातों पर निर्भर करता है, पहला- राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के बीच का दलीय सम्बन्ध, यदि दोनों एक ही दल के हैं तो दलीय अनुशासन के कारण, सम्बन्ध सामान्य बने रहेंगे। जैसा कि1977 तक स्पष्ट रुप से दिखाई देता है। दूसरा- राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व और उनके राजनीतिक प्रभाव भी दोनों के बीच के सम्बन्ध को प्रभावित करते हैं। यदि राष्ट्रपति के चुनाव में प्रधानमन्त्री की भूमिका है तो दोनों के बीच के सम्बन्ध काफी हद तक सामान्य रहे हैं। जैसा कि जाकिर हुसैन, वी0वी0 गिरि, फखरुद्दीन अली अहमद और ज्ञानी जैल सिंह के मामले में हुआ है। किन्तु 31अक्टूबर 1984 को श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या हो गयी। इसके पश्चात राजीव गाँधी को राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। 1986 तक तो सम्बन्ध अच्छे रहे, किन्तु 1987 के प्रारम्भ से दोनों के बीच के संबंधों में कड़वाहट शुरु हुई और ऐसा लगने लगा कि राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह, प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी को पद से हटाकर लोक सभा का विघटन कर देंगे। संविधान लागू होने के पश्चात ऐसा सर्वप्रथम हुआ कि एक ही दल का होने के बावजूद राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री में गम्भीर मतभेद उभर कर सामने आये।

6.2.4 प्रधानमन्त्री और संसद के बीच सम्बन्ध

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। भारत में प्रधानमन्त्री की नियुक्ति निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल की जाती है। यद्यपि उच्च सदन से प्रधानमन्त्री की नियुक्ति को लेकर कोई कानूनी बन्धन नहीं हैं। हमारे देश में सर्वप्रथम 1966 में श्रीमती इन्दिरा गाँधी को राज्य सभा के सदस्य के रुप में प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया। इसके पश्चात प्रधानमन्त्री डॉ0 मनमोहन सिंह भी राज्य सभा सदस्य रहे। प्रधानमन्त्री लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होता है, इसलिए सदन का भी नेता होता है। सदन का नेता होने के नाते विपक्ष के अधिकारों के रक्षा की और सदन की कार्यवाही में उनकी भागीदारी हेतु अवसर प्रदान करेंगे। इस हेतु वे विपक्ष से परामर्श करते हैं और उनकी शिकायतों का निराकरण करने का प्रयत्न भी करते हैं।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 75(3) के अनुसार मंत्री-मण्डल सामूहिक रुप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मंत्री-मण्डल का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि उसे लोक सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है। किन्तु व्यावहारिक स्थिति कुछ और ही है, क्योंकि दलीय अनुशासन के कारण, लोक सभा में बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल, मंत्री-मण्डल के विरुद्ध नहीं जा पाता है। संसदीय परम्परा के अनुसार प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति से सिफारिश करके लोक सभा का विघटन करवा सकता है। इस अधिकार के कारण प्रधानमन्त्री लोक सभा को नियंत्रित करने में काफी हद तक सफल रहता है। प्रथम लोक सभा के गठन से आज तक 59 वर्षों में कई बार लोक सभा का विघटन समय से पूर्व करते हुए मध्यावधि चुनाव कराये गये।

किस प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर राष्ट्रपति ने विघटन किया-

श्रीमती इन्दिरा गाँधी	1970
श्रीमती इन्दिरा गाँधी	1977
चौधरी चरण सिंह	1979
राजीव गाँधी	1984
चन्द्रशेखर सिंह	1991
अटल बिहारी वाजपेयी	1998
अटल बिहारी वाजपेयी	1999

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जब किसी एक दल को निरपेक्ष बहुमत रहा है तो लोक सभा पर प्रधानमन्त्री का नियंत्रण बहुत ही प्रभावशाली रहा है। परन्तु जब गठबंधन सरकारें रहीं हैं। जैसे- 1977, 1989, 1991, 1996, 1998, 1999, 2004 और 2009 में, तब लोक सभा पर नियंत्रण की बात तो दूर की रही, वे स्वयं ही अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हुए दिखाई देते रहे थे।

अभ्यास प्रश्न-

1. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति की जाती है या निर्वाचित होता है?
2. निम्न सदन का नेता कौन होता है?
3. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति कौन करता है?
4. भारत की प्रथम प्रधानमन्त्री जो राज्य सभा सदस्य थीं?
5. कोई मंत्री बिना संसद सदस्य रहे कितने माह मंत्री रह सकता है?

6.3 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम संसदीय शासन में प्रधानमन्त्री की नियुक्ति हेतु अपनायी जाने वाली प्रक्रिया के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई। साथ ही यह भी देखा की किस प्रकार से प्रधानमन्त्री इस शासन व्यवस्था में बहुत ही शक्तिशाली होकर उभरता है। यहाँ यह भी देखने को मिला कि प्रधानमन्त्री मंत्री-परिषद और राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करता है और समय-समय पर मंत्री-परिषद द्वारा लिए गये निर्णयों की जानकारी भी राष्ट्रपति को देता है।

उपरोक्त अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो गया कि किस प्रकार से इस शासन व्यस्था में सम्पूर्ण शासन व्यस्था के केन्द्र में प्रधानमन्त्री होता है।

6.4 शब्दावली

मंत्री-परिषद- मंत्री-मण्डल, राज्यमंत्री, उप-मंत्री, निम्न सदन- लोक सभा, उच्च सदन- राज्य सभा

6.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. नियुक्ति, **2.** प्रधानमन्त्री, **3.** राष्ट्रपति, **4.** श्रीमती इन्दिरा गाँधी , **5.** छः माह

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ रूपा मंगलानी।
2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।
3. भारतीय शासन एवं राजनीति- महेन्द्र प्रताप सिंह।

6.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान - ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फाड़िया।

6.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत के प्रधानमन्त्री की पद एवं स्थिति की विवेचना कीजिये।
2. प्रधानमन्त्री की सदन के नेता और सरकार के मुखिया के रूप में महत्व की व्याख्या कीजिये।
3. गठबन्धन सरकारों के युग में प्रधानमन्त्री कमजोर हुआ है या मजबूत, समीक्षा कीजिये।

इकाई- 7 संसद- लोक सभा और राज्य सभा

इकाई की संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 भारतीय संसद
7.3 संसद का संगठन
7.4 राज्य सभा
7.4.1 अवधि
7.4.2 योग्यता
7.4.3 पदाधिकारी
7.4.4 राज्य सभा के कार्य एवं शक्तियाँ
7.4.5 राज्य सभा के विशेषाधिकार
7.5 लोक सभा
7.5.1 योग्यता
7.5.2 कार्यकाल
7.5.3 संरचना
7.5.4 निर्वाचन
7.5.5 कार्यकाल
7.5.6 अधिवेशन
7.5.7 पदाधिकारी
7.5.8 अध्यक्ष को पद से हटाया जाना
7.5.9 लोक सभा की शक्तियाँ
7.6 संसद की शक्तियाँ
7.7 सारांश
7.8 शब्दावली
7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
7.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
7.12 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने यह अध्ययन किया है कि राष्ट्रपति के नाम से जिन शक्तियों का प्रयोग मंत्री-परिषद करती है। उस मंत्री-परिषद का प्रधान प्रधानमन्त्री होता है। प्रधानमन्त्री का पद हमारे देश में संसदीय शासन प्रणाली होने के नाते बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होने के नाते इस कारण से सदन का नेता होने के कारण और अन्ततः दलीय अनुशासन के कारण से शासन व्यवस्था को नेतृत्व प्रदान करता है।

किन्तु यही शक्तिशाली प्रधानमन्त्री की स्थिति, गठबंधन सरकार होने पर अत्यन्त कमजोर हो जाती है फिर भी वह केन्द्रीय सत्ता की धुरी होता है।

इस इकाई में हम संसद के संगठन, कार्यों और शक्तियों का अध्ययन करेंगे। जिसमें हम यह अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार से राष्ट्रपति संसद का अंग है और उसके पद में संसदीय शासन की प्रमुख विशेषता का समावेश किया गया है, क्योंकि संसदीय शासन की मुख्य विशेषता, व्यस्थापिका और कार्यपालिका का मिश्रित स्वरूप है, क्योंकि कार्यपालिका के सभी सदस्यों के लिए व्यवस्थापिका का सदस्य होना अनिवार्य होता है और राष्ट्रपति के पद में ये दोनों विशेषताऐं पायी जाती हैं, क्योंकि एक तरफ वह कार्यपालिका का प्रमुख होता है तो दूसरी तरफ वह संसद का अंग होता है और कोई भी विधेयक तब तक कानून का रूप नहीं लेता है, जब तक कि उसे राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति नहीं प्रदान कर देता है।

इसके साथ ही साथ हम यह भी अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार कानून निर्माण में राज्य सभा को, लोक सभा के सामान शक्तियाँ न होते हुए भी वह महत्वपूर्ण है।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- संसद के संगठन के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- राज्य सभा की शक्तियों को जान सकेंगे।
- लोक सभा की शक्तियों को जान सकेंगे।
- अंततःकानून निर्माण में लोक सभा के सापेक्ष राज्य सभा की शक्तियों को जान सकेंगे।

7.2 भारतीय संसद

जैसा कि हम पहले की इकाइयों में स्पष्ट कर चुके हैं कि ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए हमारे देश में भी संविधान के द्वारा संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। यह संसदीय प्रणाली संघ और राज्य दोनों ही स्तरों पर अपनायी गयी है। संघीय स्तर के विधान निमात्री संस्था को संसद कहते हैं। राज्य स्तर पर विधान निर्मात्री संस्था को हम विधानमंडल कहते हैं। प्रस्तुत इकाई में सघीय विधायिनी संस्था संसद का ही अध्ययन करेंगे।

संसद का गठन द्विसदनीय सिद्धान्त के आधार पर किया गया है, पहला- उच्च सदन, राज्य सभा और दूसरा- निम्न सदन, लोक सभा (जनप्रतिनिधि सदन)। यहाँ पर यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यहीं दोनों सदन मिलकर ही संसद का गठन नहीं करते हैं बल्कि लोक सभा, राज्य सभा और राष्ट्रपति से मिलकर संसद बनती है। चूँकि संसद का मुख्य कार्य कानून निर्माण है और कोई भी विधेयक तब तक कानून का रुप नहीं ग्रहण करता है, जब तक कि उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति नहीं मिल जाती है। इसलिए राष्ट्रपति संसद का महत्वपूर्ण अंग है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 79 में स्पष्ट रुप से उल्लिखित है कि संघ के लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी, जिनके नाम क्रमशः राज्य सभा और लोक सभा होंगे।

भारतीय संसद के संगठन और उसके कार्यों आदि के सम्बन्ध में भारतीय संविधान के भाग-5 के अध्याय- 2 में अनुच्छेद 79 से 122 तक प्रावधान किया गया है।

यद्यपि हमने ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए संसदीय शासन प्रणाली अपनायी है, परन्तु भारतीय संसद ब्रिटेन की संसद के समान सर्वशक्तिमान नहीं है, क्योंकि उसके सम्बन्ध में एक कहावत प्रचलित है कि वह स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री बनाने के सिवाय सब कुछ कर सकती है।

7.3 संसद का संगठन

भारतीय संविधान के अनुच्छेद-79 के अनुसार संघ के लिए संसद होगी, जो राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी। संसद के अंग- राष्ट्रपति, राज्य सभा और लोक सभा हैं।

राष्ट्रपति संसद का अंग है, जिसकी स्वीकृति के बिना कोई भी विधेयक कानून का रुप नहीं ले सकता है। राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल द्वारा पाँच वर्ष के लिए किया जाता है। निर्वाचक मंडल में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, सभी राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य हैं। राष्ट्रपति का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति से एकल संक्रमणीय मत पद्धति के द्वारा किया जाता है। समय से पूर्व वह उपराष्ट्रपति को त्यागपत्र दे सकता है या साबित कदाचार या संविधान के उल्लंघन के आरोप में महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा पद से हटाया जा सकता है। जिसका उल्लेख संविधान के अनुच्छे- 61 में किया गया है।

7.4 राज्य सभा

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 80 के अनुसार राज्य सभा संसद का उच्च सदन है, जिसकी सदस्य संख्या अधिकतम 250 हो सकती है। (यद्यपि वर्तमान समय में इसमें सदस्य संख्या 245 है।)

250 में से 238 सदस्य राज्यों और संघ-राज्य क्षेत्र से होंगे, जबकि 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होंगे जो साहित्य, कला, विज्ञान, समाज सेवा के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त व्यक्तित्व होंगे। इस उपबन्ध को रखने के पीछे संविधान निर्माताओं की मंशा यह थी कि सदन को समाज के योग्य और अनुभवी लोगों के अनुभव का लाभ प्राप्त हो सके।

भारतीय संविधान की चौथी अनुसूची में राज्य और संघशासित क्षेत्रों से प्रतिनिधियों की 233 संख्या का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार से 233+12 = (राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत) कुल 245 सदस्य राज्य सभा में है। राज्य और संघ-राज्य क्षेत्र में राज्य सभा का प्रतिनिधित्व इस प्रकार है-

राज्य/ संघ राज्य क्षेत्र	स्थानों की संख्या	राज्य/ संघ राज्य क्षेत्र	स्थानों की संख्या
आन्ध्र प्रदेश	10	उत्तर प्रदेश	31
असम	7	उत्तराखंड	3
बिहार	16	पश्चिम बंगाल	16
जम्मू कश्मीर	4	झारखंड	6
गोवा	1	नागालैण्ड	1
गुजरात	11	हिमांचल प्रदेश	3
हरियाणा	5	मणिपुर	1
केरल	9	त्रिपुरा	1
मध्यप्रदेश	11	मेघालय	1
छत्तीसगढ़	5	सिक्किम	1

तमिलनाडु	18	मिजोरम	1
महाराष्ट्र	19	अरूणाचंल प्रदेश	1
कर्नाटक	12	दिल्ली	3
उड़ीसा	10	पाण्डिचेरी	1
पंजाब	7	राजस्थान	10

राज्य सभा स्थायी सदन है। इसके सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रुप से एक निर्वाचक मंडल के द्वारा किया जाता है। राज्यों के प्रतिनिधियों का चुनाव राज्य विधान सभा के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति से एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार किया जाता है। यहाँ हम यह बताते चलें कि संघ शासित क्षेत्रों में केवल दिल्ली और पोंडेचेरी को ही राज्य सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

यद्यपि हमारे देश में संघात्मक शासन प्रणाली अपनायी गयी है, जिसमें उच्च सदन में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है, चाहे वे राज्य छोटे हो या बड़े हों। अमेरिका में 50 राज्य हैं, सभी राज्यों से उच्च सदन (सीनेट) में दो प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। इस प्रकार कुल 100 सदस्य होते हैं, जबकि हमारे यहाँ उच्च सदन (राज्य सभा) में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व न प्रदान कर जनसंख्या के आधार पर प्रदान किया गया है।

7.4.1 अवधि

राज्य सभा एक स्थायी सदन है, जिसका कभी विघटन नहीं होता है। किन्तु इसके एक तिहाई सदस्य दो वर्ष की समाप्ति पर सेवानिवृत्त हो जाते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सदन स्थायी है और इसके सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष का होता है।

7.4.2 योग्यता

राज्य सभा की सदस्यता के लिए निम्नलिखित योग्यताऐं अपेक्षित है-

- वह भारत का नागरिक हो,
- उसकी आयु 30 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो,
- वह किसी लाभ के पद पर न हो,
- वह पागल या दिवालिया न हो,
- भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 102 में स्पष्ट उल्लेख है कि संघ अथवा राज्य के मंत्री पद लाभ के पद नहीं समझे जाऐंगे।

राज्य सभा के सन्दर्भ में दो पक्ष बहुत ही महत्वपूर्ण हैं, पहला- राज्य सभा के लिए वह देश के किसी भी प्रदेश का हो, किसी भी प्रदेश में लड़ सकता है और दूसरा- राज्य सभा के लिए मतदान खुला और पारदर्शी होगा।

7.4.3 पदाधिकारी

राज्य सभा में एक सभापति और एक उप-सभापति होता है। उप-राष्ट्रपति ही राज्य सभा के सभापति होते है। अनुच्छेद- 89 और राज्य सभा अपने सदस्यों में से ही उप-सभापति का चुनाव करती है। उप-सभापति, सभापति की अनुपस्थिति में सभापति के रुप में कार्य करते हैं।

(अनुच्छेद- 91 के अनुसार) सभापति और उप-सभापति को वेतन भारत के संचित निधि से प्रदान किया जाता है। राज्य सभा की गणपूर्ति सदन के सम्पूर्ण सदस्यों की संख्या का 10 प्रतिशत। चूँकि वर्तमान में 245 सदस्य हैं, इसलिए इसकी गणपूर्ति संख्या 25 है।

राज्य सभा के सभापति को सदन को सुचारु संचालन हेतु व्यापक अधिकार प्राप्त होते हैं। जब सभापति और उप-सभापति दोनों अनुपस्थित हों तो राज्य सभा के सभापति के कार्यों का निर्वहन राज्य सभा का वह सदस्य करेगा, जिसे राष्ट्रपति नामित करेगा।

7.4.4 राज्य सभा के कार्य एवं शक्तियाँ

राज्य सभा के कार्य एवं शक्तियाँ निम्नलिखित हैं-

1. **विधायी शक्तियाँ-** राज्य सभा, लोक सभा के साथ मिलकर कानून निर्माण का कार्य करती है। साधारण विधेयकों(अवित्तीय विधेयकों) के सम्बन्ध में राज्य सभा को लोक सभा के समान शक्तियाँ प्राप्त हैं। साधारण विधेयक दोनों सदनों में से किसी में भी पहले पेश किया जा सकता है। दोनों सदनों द्वारा पारित होने के पश्चात राष्ट्रपति के पास उनकी स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। यद्यपि अधिकांश विधेयकों को लोक सभा में ही पहले प्रस्तुत किया जाता है। यदि विधेयक एक सदन द्वारा स्वीकार कर लिया जाए और दूसरा सदन छः माह तक अपनी स्वीकृति नहीं देता है, तो राष्ट्रपति दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन आहूत करता है। इस संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता लोक सभा के अध्यक्ष करते हैं। इसमें निर्णय बहुमत से होता है। सैद्धान्तिक रुप से तो दोनों सदनों को समान शक्तियाँ हैं। परन्तु व्यवहारतः लोक सभा के सदस्यों की संख्या अधिक होती है, इसलिए लोक सभा का निर्णय ही निर्णायक होता है।
2. **संविधान संशोधन की शक्ति-** संविधान संशोधन हेतु दोनों सदनों को समान शक्तियाँ प्राप्त हैं, क्योंकि संविधान संशोधन विधेयक भी संसद के दोनों सदनों में से किसी में भी पेश किया जा सकता है। वे तभी पारित माने जाऐंगे, जब दोनों सदनों ने अलग-अलग संविधान में उल्लिखित रीति से पारित किया हो, अन्यथा नहीं, क्योंकि संविधान संशोधन विधेयक के सन्दर्भ में दोनों सदनों में विवाद की स्थिति में किसी प्रकार से संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था नहीं है। इस प्रकार यदि राज्य सभा संशोधन से असहमत है तो वह संशोधन विधेयक गिर जाएगा।
3. **वित्तीय शक्तियाँ-** वित्तीय शक्तियों के सन्दर्भ में राज्य सभा की स्थिति, लोक सभा के समक्ष अत्यन्त निर्बल है, क्योंकि कोई भी वित्तीय विधेयक केवल लोक सभा में ही पेश किया जा सकता है। जब कोई वित्त विधेयक लोक सभा द्वारा पारित होने के पश्चात राज्य सभा में पेश किया जाता है तो राज्य सभा अधिकतम 14 दिन तक उस विधेयक पर विचार करते हुए अपने पास रोक सकती है। उसके विचार को लोक सभा माने या न माने यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। यदि राज्य सभा के विचार को लोक सभा न माने तो 14 दिन की समाप्ति पर विधेयक उसी रुप में पारित समझा जाएगा, जिस रुप में उसे लोक सभा ने पारित किया था।
4. **कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ -** जैसा कि हम ऊपर देख चुके है कि भारत में संसदीय शासन प्रणाली प्रचलित है। इसमें कार्यपालिका, निम्न सदन (लोक सभा) के प्रति सामूहिक रुप से उत्तरदायी होती है, न कि राज्य सभा के प्रति। इसलिए राज्य सभा के सदस्य विभागीय मंत्रियों से प्रश्न, पूरक प्रश्न, तारांकित और अतारांकित प्रश्न पूछ सकते हैं, परन्तु मंत्री-परिषद के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव नहीं ला सकते हैं।

इस प्रकार की शक्ति केवल लोक सभा के पास है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कार्यपालिका शक्तियों के सन्दर्भ में राज्य सभा, लोक सभा से बहुत ही निर्बल है।

5. **अन्य शक्तियाँ-** ऊपर हमने राज्य सभा की शक्तियों का अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य शक्तियाँ भी राज्य सभा के पास हैं-
   - राष्ट्रपति के निर्वाचन में राज्य सभा के निर्वाचित सदस्य भाग लेते हैं।
   - उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन में राज्य सभा के सभी सदस्य (निर्वाचित+मनोनीत) 233+12 भाग लेते हैं।
   - राज्य सभा लोक सभा के साथ मिलकर बहुमत से उप-राष्ट्रपति को पदच्युत करती है।
   - जब देश में आपातकाल लागू हो, तो उसे एक माह से अधिक और संवैधानिक तन्त्र की विफलता की घोषणा हो तो उसे दो माह से अधिक लागू करने हेतु, लोक सभा के साथ राज्य सभा के द्वारा भी स्वीकृति आवश्यक होती है।
   - लोक सभा के साथ मिलकर राज्य सभा राष्ट्रपति व सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को भी पदमुक्त करती है।

7.4.5 राज्य सभा के विशेषाधिकार

उपरोक्त शक्तियों के अतिरिक्त राज्य सभा की कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं, जिनका प्रयोग वह अकेले करती है, वे निम्नलिखित हैं-

1. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 112 में उल्लिखित है कि, यदि राज्य सभा अपने दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पारित कर दे कि नई अखिल भारतीय सेवा के सृजन किया जाना है, तो तभी अखिल भारतीय सेवा के पद सृजित होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि यदि राज्य सभा इस तरह के प्रस्ताव न पारित करे, तो केन्द्र सरकार नई अखिल भारतीय सेवा का सृजन नहीं कर सकती है।
2. इसी प्रकार भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 249 में उल्लिखित है कि, यदि राज्य सभा के, सदन में उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले दो-तिहाई सदस्य राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर दें, तो उस पर संसद को कानून निर्माण का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार का प्रस्ताव प्रारम्भ में केवल एक वर्ष के लिए ही होता है, परन्तु राज्य सभा की इच्छा से इसे बार-बार एक वर्ष के लिए बढाया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राज्य सभा द्वितीय सदन है तो, साथ ही दूसरे स्तर के महत्व का भी सदन है।

7.5 लोक सभा

जैसा कि हम पहले भी पढ चुके हैं कि लोक सभा संघीय संसद का निम्न सदन है, जिसे लोकप्रिय सदन या जनप्रतिनिधि सदन भी कह सकते हैं, क्योंकि इनका निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रीति से वयस्क मताधिकार (18 वर्ष की आयु के भारतीय) के द्वारा किया जाता है। भारतीय संविधान में इस बात का प्रावधान है कि लोक सभा में राज्यों से अधिकतम 530 सदस्य हो सकते हैं। 20 सदस्य संघ शासित क्षेत्रों से तथा 02 सदस्य आंग्ल-भारतीय समुदाय के राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जा सकते हैं। इस प्रकार लोक सभा में अधिकतम सदस्यों की संख्या 552 हो सकती है।

7.5.1 योग्यता

- वह भारत का नागरिक हो।
- वह भारतीय नागरिक 25 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो।
- संघ सरकार या राज्य सरकार के अधीन, वह किसी लाभ के पद पर न हो।
- वह, पागल या दिवालिया न हो।

इसके अतिरिक्त अन्य योग्यताऐं जिसका निर्धारण समय-समय पर संसद करे।

7.5.2 कार्यकाल

मूल संविधान के अनुसार लोक सभा का कार्यकाल 05 वर्ष था। परन्तु 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा इसका कार्यकाल 06 वर्ष कर दिया गया। परन्तु पुनः 44वें संवैधानिक संशोधन 1978 के द्वारा लोक सभा के कार्यकाल को घटाकर 05 वर्ष कर दिया गया। अब इसका कार्यकाल 05 वर्ष का होता है। किन्तु समय से पूर्व भी लोक सभा का विघटन किया जा सकता है। इस प्रकार 1970, 1977, 1979, 1990, 1997, 1999 और 2004 में समय पूर्व लोक सभा विघटन किया गया।

राष्ट्रपति लोक सभा का अधिवेशन बुलाते हैं। यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि लोक सभा की दो बैठकों के बीच अन्तराल अर्थात बैठक की अन्तिम तिथि और दूसरी बैठक की प्रथम तिथि के बीच अन्तराल 06 मास से अधिक नहीं होना चाहिए। राज्य सभा के समान इसकी गणपूर्ति भी समस्त सदस्यों का दसवॉ भाग है।

7.5.3 संरचना

प्रथम आम चुनाव के समय (1952) लोक सभा के सदस्यों की निर्धारित संख्या 500 थी। 31वें संवैधानिक संशोधन 1974 के द्वारा यह निर्धारित किया गया कि इनकी अधिकतम संख्या 552 हो सकती है। जिनमें 530 सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रुप से निर्वाचित होंगे, जो राज्यों का प्रतिनिधित्व करेंगे। जबकि 20 सदस्य संघ-राज्य क्षेत्रों के प्रतिनिधि होंगे। इसके साथ ही साथ 02 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जा सकते है। यदि राष्ट्रपति को ऐसा प्रतीत हो कि आंग्ल-भारतीय समुदाय को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त है। परन्तु व्यवहार में वर्तमान समय में 545 सदस्य हैं, जिनमें 530 राज्यों का प्रतिनिधत्व करते हैं, 13 संघ-राज्य क्षेत्रों से और 02 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत हैं

7.5.4 निर्वाचन

लोक सभा के सदस्यों का निर्वाचन भारतीय नागरिकों द्वारा सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है। मूल संविधान के अनुसार मताधिकार हेतु न्यूनतम उम्र 21 वर्ष रखी गयी थी, जबकि 61वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा इस आयु को घटाकर 18 वर्ष कर दी गयी। अर्थात़ 18 वर्ष की आयु का भारतीय नागरिक अपनी पसन्द के प्रत्याक्षी को मतदान कर सकता है।

7.5.5 कार्यकाल

लोक सभा की अवधि का निर्धारण उसकी बैठक की तिथि से किया जाता है। अपनी बैठक की प्रथम तिथि से 5 वर्ष की अवधि होती है। परन्तु भारतीय संविधन के अनुच्छेद- 83(2) के अनुसार राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर 05 वर्ष के पूर्व भी विघटित कर सकता है। किन्तु यह विघटन अवधि 06 माह से अधिक नहीं हो सकती है। अर्थात् विघटन के 06 माह बीतने के पूर्व ही लोक सभा का निर्वाचन हो जाना चाहिए। इस प्रकार के

उपबन्ध को रखने का कारण यह कि लोक सभा के दो सत्रों के बीच की अवधि 06 माह से अधिक का नहीं होनी चाहिए।

7.5.6 अधिवेशन

एक वर्ष में लोक सभा के कम से कम दो अधिवेशन होने चाहिए। साथ ही पिछले अधिवेशन की अन्तिम तिथि और आगामी अधिवेशन की प्रथम तिथि के बीच का अन्तराल 06 माह से अधिक का नहीं होना चाहिए। परन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह अवधि एक ही स्थिति में 06 माह से अधिक हो सकती है, जब आगामी अधिवेशन के पूर्व लोक सभा विघटित हो जाय।

7.5.7 पदाधिकारी

लोक सभा में दो मुख्य पदाधिकारी होते हैं, अध्यक्ष और उपाध्यक्ष। अपने सभी सदस्यों में से ही लोक सभा अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन करती है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष, अध्यक्ष के रुप में कार्य करते हैं। परन्तु यदि दोनों अनुपस्थित हों तो सदन का वह व्यक्ति अध्यक्ष के दायित्वों का निर्वहन करेगा, जिसे राष्ट्रपति इस हेतु नियुक्त करे।

अध्यक्ष के द्वारा शपथ, अध्यक्ष के रुप में नहीं वरन् लोक सभा के सदस्य के रुप में ग्रहण किया जाता है। यह शपथ उसे लोक सभा का कार्यकारी अध्यक्ष (प्रोटेम स्पीकर) दिलाता है, जो सदन का सबसे वरिष्ठ सदस्य होता है। इस परम्परा का अनुसरण फ्रान्स की परम्परा से लिया गया है।

7.5.8 अध्यक्ष को पद से हटाया जाना

लोक सभा के समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित प्रस्ताव के द्वारा, अध्यक्ष को हटाया जा सकता है। इस प्रकार के प्रस्ताव रखने के 14 दिन पूर्व सूचना देना आवश्यक है। यहाँ यह पक्ष महत्वपूर्ण है कि जब अध्यक्ष को हटाने का प्रस्ताव विचाराधीन हो तो अध्यक्ष, लोक सभा की अध्यक्षता नहीं करेगा।

7.5.9 लोक सभा की शक्तियाँ

हमारे देश में लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली अपनायी गयी है। जिसका तात्पर्य है कि अन्तिम रुप से सत्ता जनता में निहित है। लोक सभा जनप्रतिनिधि सदन है, क्योंकि इनके सदस्यों का निर्वाचन जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रुप से किया जाता है। इसलिए लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों और परम्पराओं के अनुरुप लोक सभा को राज्य सभा की अपेक्षा शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया है, इसलिए संसद में लोक सभा, राज्य सभा और राष्ट्रपति से मिलकर होता है। अब हम लोक सभा के कार्यों और शक्तियों का अध्ययन करेंगे।

1. **विधायी शक्ति-** जैसा कि हम पहले ऊपर देख चुके हैं कि साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में लोक सभा और राज्य सभा को समान शक्ति प्राप्त है। यह विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है। और यह तभी पारित समझा जाएगा जब दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग पारित हो।

   परन्तु वित्तीय विधेयक को लोक सभा में ही पेश किया जा सकता है। साथ ही वित्त विधेयक उसी रुप में पारित हो जाता है, जिस रुप में लोक सभा चाहती है, क्योंकि लोक सभा द्वारा पारित वित्त विधेयक को राज्य सभा केवल 14 दिन रोक सकती है। इसके पश्चात वह उसी रुप में पारित समझा जाएगा, जिस रुप में उसे लोक सभा ने पारित किया था। राज्य सभा के किसी भी संशोधन को स्वीकार करना या अस्वीकार करना लोक सभा की इच्छा पर निर्भर है।

2. **कार्यपालिका शक्ति-** भारतीय संविधान में स्पष्ट रुप से लिखा है कि भारत की संघीय कार्यपालिका सामूहिक रुप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी है। यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि उसी दल को सरकार बनाने का अधिकार होगा और उसी दल के नेता को राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करेगा, जिसे लोक सभा में समस्त सदस्यों का बहुमत प्राप्त हो और सरकार तभी तक अस्तित्व में रहती है, जब तक उसको लोक सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। मंत्री-परिषद प्रश्न पूछकर, पूरक प्रश्न, अविश्वास प्रस्ताव, काम रोको प्रस्ताव, कटौती प्रस्तावों के माध्यम से नियंत्रण रखते है।
3. **संविधान संशोधन की शक्ति-** संविधान संशोधन के महत्वपूर्ण कार्य में भी लोक सभा को शक्तियाँ प्राप्त हैं। संविधान संशोधन विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में पेश किए जा सकते हैं और यह तभी पारित समझा जाएगा, जब दोनों सदन अलग-अलग संविधान में वर्णित रीति से पारित करें।
   महत्वपूर्ण तथ्य यह है, इस सम्बन्ध में संयुक्त अधिवेशन का प्रावधान नहीं है। इसलिए दोनों की शक्तियाँ समान हैं।
4. **निर्वाचन सम्बन्धी कार्य-** लोक सभा, राज्य सभा के साथ मिलकर उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन तथा राज्य सभा और राज्य विधान सभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति का निर्वाचन करती हैं।

7.6 संसद की शक्तियाँ

भारतीय संसद यद्यपि ब्रिटिश संसद के समान सर्वशक्तिमान नहीं है। परन्तु देश की सर्वोच्च विधायी संस्था है, जिसकी प्रमुख शक्तियाँ निम्नलिखित हैं-

1. **कानून निर्माण की शक्तियाँ-** शासन के तीन अंग होते हैं। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जो क्रमशः कानून निर्माण, कार्यकारी कार्य और न्यायिक कार्य करते हैं। संसद को संघ सूची, समवर्ती सूची और अवशिष्ट शक्तियों पर कानून निर्माण का अधिकार है। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्यसूची के विषयों पर भी कानून निर्माण का अधिकार है-
   - जब राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा चल रही हो।
   - जब राज्य सभा, अनुच्छेद- 249 के अनुसार दो-तिहाई बहुमत से राज्य सूची के विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर संसद से विधि निर्माण हेतु आग्रह करें।
   - जब दो या दो से अधिक राज्य विधानमंडल द्वारा प्रस्ताव पारित कर राज्य सूची के विषय पर कानून निर्माण हेतु संसद से आग्रह करें।
2. **कार्यकारी कार्य-** संसद का अंग लोक सभा होती है। जिसके बहुमत प्राप्त दल के नेता को ही राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री बनने के लिए आमंत्रित करता है और प्रधानमन्त्री उन्हीं में से अपने मंत्री-परिषद का गठन करते हैं। अनुच्छेद- 75 (3) के अनुसार मंत्री-परिषद लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है।
3. **वित्तीय कार्य-** संसद ही संघ के वित्त पर नियंत्रण रखती है। वित्त का नियमन करने में संसद की भूमिका निर्णायक होती है। जिसमें उसकी दो महत्वपूर्ण समितियां, लोकलेखा समिति और प्राक्कलन समिति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भारत के संचित निधि से धन, संसद की स्वीकृति से ही प्राप्त हो सकता है। वार्षिक बजट और रेल बजट संसद के समक्ष पेश किया जाता है। उक्त के साथ-साथ संसद विनियोग विधेयक, अनुपूरक अनुदान, अतिरिक्त अनुदान, लेखानुदान आदि के सम्बन्ध में निर्णायक शक्ति है।

4. **निर्वाचन सम्बन्धी कार्य-** नए राज्य के गठन, उसकी सीमा और नाम में परिवर्तन का अधिकार संसद को है। इसके तहत वह एक राज्य को विभाजित कर सकती है, दो या दो से अधिक राज्यों को मिलाकर एक राज्य बना सकती है।

संविधान के अनुच्छेद- 61 में स्पष्ट उल्लेख है कि संसद साबित कदाचार या संविधान के अतिक्रमण के आरोप में राष्ट्रपति पर विशेष प्रक्रिया से महाभियोग लगा सकती है। इसी प्रकार उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को भी पदच्युत कर सकते है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संसद की शक्तियाँ व्यापक है। परन्तु वे अमर्यादित नहीं है, क्योंकि भारतीय संसद अपनी सीमाओं में ही कार्य करती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. राष्ट्रपति संसद का अंग है। सत्य/असत्य
2. संसद, राज्य सभा और लोक सभा से मिलकर बनती है। सत्य /असत्य
3. राज्य सभा संसद का जन प्रतिनिधि सदन है। सत्य/असत्य
4. लोक सभा के सदस्यों का जनता के द्वारा निर्वाचन किया जाता है। सत्य/असत्य
5. राज्य सभा का कार्य कल 06 वर्ष है। सत्य/असत्य
6. राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव जनता करती है। सत्य/असत्य
7. राज्य सभा में वर्तमान समय में 543 सदस्य है। सत्य/असत्य

7.7 सारांश

इस इकाई में हमने संसद के संगठन और कार्यों का अध्ययन किया है, जिसमें हमने यह देखा है कि किस प्रकार से राष्ट्रपति संसद का अंग है और उसके पद में संसदीय शासन की प्रमुख विशेषता का समावेश किया गया है। संसदीय शासन की मुख्य विशेषता, व्यस्थापिका और कार्यपालिका का मिश्रित स्वरूप है, क्योंकि कार्यपालिका के सभी सदस्यों के लिए व्यवस्थापिका का सदस्य होना अनिवार्य होता है और राष्ट्रपति के पद में ये दोनों विशेषताऐं पायी जाती हैं। राष्ट्रपति एक तरफ कार्यपालिका का प्रमुख होता है, तो दूसरी तरफ वह संसद का अंग होता है। कोई भी विधेयक तब तक कानून का रूप नहीं लेता है, जब तक कि उसे राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति नहीं प्रदान कर देता है।

साथ ही हमने इस इकाई में यह भी अध्ययन किया है कि राज्य सभा प्रथम दृष्टया तो कानून निर्माण में सामान दिखाई देती है, परन्तु संवैधानिक संशोधन विधेयक के अतिरिक्त सामान्य विधेयक और वित्तीय विधेयक के मामले में स्थिति गौण है, क्योंकि राज्य सभा सामान्य विधेयक को अधिकतम 6 माह तक रोक सकती है और वित्त विधेयक को केवल 14 दिन तक रोक सकती है, इसके पश्चात वह उसी रूप में पारित होगा, जिस रूप में लोक सभा चाहेगी। राज्य सभा की आपत्तियाँ उस विधेयक पर कोई निर्णायक प्रभाव नहीं छोड़ सकती हैं, फिर भी जल्दबाजी में कोई विधेयक न पारित हो, उसके सभी पक्षों पर विचार हो सके, इस दृष्टि से राज्य सभा अति महत्वपूर्ण सदन है।

7.8 शब्दावली

संसद- राष्ट्रपति + राज्य सभा + लोक सभा

नाम मात्र की कार्यपालिका- संसदीय शासन प्रणाली में नाम मात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में अंतर पाया जाता है। नाम मात्र की कार्यपालिका वह होता है, जिसमें संवैधानिक रूप से सभी शक्तियाँ निहित होती हैं, परन्तु उन शक्तियों का वह स्वयं प्रयोग नहीं करता है, वरन मंत्री-परिषद करती है। भारत में नाम मात्र की कार्यपालिका राष्ट्रपति और ब्रिटेन में सम्राट होते हैं।

वास्तविक कार्यपालिका- यह वह कार्यपालिका है, जो नाम मात्र की कार्यपालिका को प्रदान की गयी शक्तियों का प्रयोग उसके नाम से करती है। जैसे भारत और ब्रिटेन में मंत्री-परिषद ।

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** असत्य, **3.** असत्य, **4.** सत्य, **5.** असत्य, **6.** असत्य, **7.** असत्य

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन-बी0एल0 फड़िया।
3. भारतीय लोक प्रशासन-अवस्थी एवं अवस्थी।

7.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी0डी0 बसु।
2. भारतीय लोक प्रशासन- एस0सी0 सिंहल।

7.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. संसद के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिये।
2. लोक सभा और राज्य सभा की संरचना और उनकी शक्तियों की विस्तार से चर्चा कीजिए।

इकाई- 8 केन्द्रीय सचिवालय, मंत्री-मण्डल सचिवालय, प्रधानमन्त्री सचिवालय

इकाई की संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 केन्द्रीय सचिवालय
8.2.1 केन्द्रीय सचिवालय की अवधारणा
8.2.2 केन्द्रीय सचिवालय का संगठन
8.2.3 केन्द्रीय सचिवालय के कार्य
8.2.4 केन्द्रीय सचिवालय की कार्य-प्रणाली की आलोचना
8.2.5 केन्द्रीय सचिवालय में सुधार के लिए सुझाव
8.3 अवधि प्रणाली
8.3.1 अवधि प्रणाली के पक्ष में तर्क
8.3.2 अवधि प्रणाली के विपक्ष में तर्क
8.4 मंत्री-मण्डल (कैबिनेट) सचिवालय
8.4.1 मंत्री-मण्डल सचिवालय के कार्य
8.4.2 मंत्री-मण्डल सचिव
8.4.2.1 मंत्री-मण्डल सचिवालय एवं मंत्री-मण्डल सचिव की स्थिति पर प्रतिकुल प्रभाव डालने वाले कारण
8.4.2.2 मंत्री-मण्डल सचिवालय के पुनर्गठन और क्षमता विकास के लिए सुझाव
8.5 प्रधानमन्त्री कार्यालय
8.5.1 प्रधानमन्त्री कार्यालय के कार्य
8.6 सारांश
8.7 शब्दावली
8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
8.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
8.11 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

भारतीय प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने हेतु कई मंत्रालयों एवं विभागों का गठन किया गया है, जिनसे मिलकर केन्द्रीय सचिवालय का निर्माण होता है। मंत्रियों द्वारा सचिवालय से विचार-विमर्श करके नीतियों का निर्माण किया जाता है।

मंत्री-मण्डल सचिवालय की स्थापना एक ऐसे प्रशासनिक संस्थान के रूप में की गयी है, जो मंत्री-मण्डल के कार्यों में सहयोग देने के लिए है। मंत्री-मण्डल सचिवालय देश के एक नीति-निर्माण अभिकरण के रूप में स्थापित किया गया है।

भारत में संसदीय प्रणाली होने के कारण व्यावहारिक शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री करता है। सरकार के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमन्त्री को शासन कार्यो में कार्यालयीन सहायता करने के लिए 15 अगस्त 1947 को प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना की गयी। इस कार्यालय का निर्माण उन कार्यों का सम्पादन करने के उद्देश्य से किया गया है, जिन्हें 15 अगस्त 1947 से पूर्व गवर्नर जनरल के व्यक्तिगत सचिव द्वारा किया जाता था।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- केन्द्रीय सचिवालय के संगठन और कार्यों को जान सकेंगे।
- मन्त्री-मण्डलीय सचिवालय के संगठन और कार्यों को जान सकेंगे।
- प्रधानमन्त्री कार्यालय के संगठन और कार्यों को जान सकेंगे।

8.2 केन्द्रीय सचिवालय

भारतीय प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने हेतु कई मंत्रालयों एवं विभागों में विभाजित किया गया है, जिनसे मिलकर केन्द्रीय सचिवालय का निर्माण होता है। मंत्रियों द्वारा सचिवालय से विचार-विमर्श करके नितियों का निर्माण किया जाता है। नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए संलग्न, अधीनस्थ तथा क्षेत्रीय कार्यालय होते हैं। इस प्रकार सचिवालय एक अवधारणा है, जिसका अभिप्राय केन्द्र सरकार के स्तर पर गठित मंत्रालयों एवं विभागों के समुच्चय से है, जिनका राजनीतिक अध्यक्ष मंत्री होता है एवं प्रशासनिक अध्यक्ष सचिव होता है।

8.2.1 केन्द्रीय सचिवालय की अवधारणा

केन्द्रीय सचिवालय की अवधारणा दो विचारधाराओं पर आधारित है-

1. **राजनीतिक-प्रशासन द्वैतभाव की विचारधारा-** जिसके अन्तर्गत नीति-निर्माण को नीति क्रियान्वयन से पृथक किया गया है। इसके अन्तर्गत सचिवालय की भूमिका को नीति निर्धारण से जोड़ा गया है एवं क्रियान्वयन हेतु क्षेत्रीय संस्थान का निर्माण किया गया है।
2. **अवधि प्रणाली की विचारधारा-** केन्द्रीय सचिवालय केन्द्र सरकार के मुख्यालय की हैसियत से नीति-निर्माण के लिए उत्तरदायी है, परन्तु नीति के क्रियान्वयन के लिए केन्द्रीय सचिवालय के अन्तर्गत क्षेत्रीय संस्थान का निर्माण किया गया है। केन्द्र सरकार के स्तर पर क्षेत्रीय संस्थान मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं-
    - **संबंधित कार्यालय या संलग्न कार्यालय-** इसके दो मौलिक कार्य हैं। पहला, नीति-निर्माण की प्रक्रिया में तकनीकी परामर्श प्रस्तुत करना एवं दूसरा, नीति के क्रियान्वयन का परिवीक्षण करना।
    - **अधीनस्थ कार्यालय-** यह केन्द्र सरकार की नीति के वास्तविक एवं क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी माना गया है।

इन दोनों के अतिरिक्त क्षेत्रीय संस्थान निम्नांकित प्रकार के भी हो सकते हैं, जैसे- विभागीय उपक्रम, लोक निगम, सरकारी कम्पनी आदि। ये तीनों मौलिक स्वरूप हैं, जिनके माध्यम से सरकार वाणिज्यिक एवं व्यावसायिक कार्यों का संचालन करती है।

8.2.2 केन्द्रीय सचिवालय का संगठन

केन्द्रीय सचिवालय में अनेक मंत्रालय और विभाग हैं, जिनकी संख्या घटती-बढ़ती रहती है। इसके संगठन को निम्नांकित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-

पदाधिकारी	**स्तर**
मंत्री	मंत्रालय का राजनीतिक अध्यक्ष
सचिव	मंत्रालय का प्रशासनिक अध्यक्ष
विशेष या अतिरिक्त सचिव	---------------------
अधिकारी वर्ग संयुक्त सचिव	उपविभाग का अध्यक्ष
उपसचिव/निदेशक	प्रभाग का अध्यक्ष
अवर सचिव	शाखा
अनुभाग अधिकारी	अनुभाग
सहायक	अनुभाग अधिकारी का सहायक
कार्यालय	ग्रुप- 'ब' कर्मचारी,

इस प्रकार निदेशक तथा उपसचिव के पदों को समान स्तर का मानते हुए केन्द्रीय सचिवालय के ढ़ाँचे को सचिव से लेकर निम्न श्रेणी तक 09 ग्रेडों में रखा गया है। सचिवालय में अधिकारियों की ये श्रेणियाँ 'अधिकाधिक सिद्धान्त' पर आधारित हैं, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक श्रेणी के अधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह जितना अधिक कार्य कर सके, उतना करे और केवल महत्वपूर्ण मामले ही उच्च स्तर पर पहुँचे।

अधिकारी वर्ग प्रायः भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्य होते हैं। इन अधिकारियों की भर्ती केन्द्रीय सरकार के द्वारा विभिन्न राज्यों की भारतीय प्रशासनिक सेवा श्रेणियों में से कार्यकाल पद्धति के अन्तर्गत की जाती है। यह पद्धति 1905 से लार्ड कर्जन के समय शुरू हुई। इस वर्ग में भर्ती के दूसरे स्रोत, केन्द्रीय सचिवालय सेवा का गठन 1951 में किया गया। केन्द्रीय सचिवालय सेवा के अधिकारियों को मंत्रालयों एवं विभागों से इसलिए सम्बद्ध किया जाता है, ताकि सचिवालय के कार्यों में निरन्तरता बनी रहे। सन् 1957 से केन्द्रीय सचिवालय के उच्चस्थ अधिकारियों की नियुक्ति हेतु केन्द्रीय स्टाफिंग योजना प्रारम्भ की गयी है।

8.2.3 केन्द्रीय सचिवालय के कार्य

सरकारी हैण्डबुक के अनुसार सचिवालय के प्रमुख कार्य निम्नांकित हैं-

1. नीति का निर्धारण तथा समय-समय पर आवश्यकतानुसार नीति के संशोधन में मंत्री की सहायता करना।
2. नियम, विधान तथा विनिमय बनाना।
3. क्षेत्रीय कार्यक्रम और योजना तैयार करना।
4. मंत्रालय या विभाग के कार्यों के सन्दर्भ में बजट तैयार करना और व्यय पर नियन्त्रण करना।
5. प्रारम्भ होने वाले कार्यक्रमों और योजनाओं की वित्तीय तथा प्रशासनिक अनुमति देना और उनमें आवश्यक संशोधन करना।

6. कार्यपालिका विभागों एवं अर्द्ध स्वायत्त क्षेत्रीय अभिकरणों द्वारा निर्मित नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन का पर्यवेक्षण करना।
7. नीतियों की व्याख्या करना एवं उनमें समन्वय लाना।
8. मंत्रालय या विभाग में कार्यरत कर्मचारियों एवं संगठन की क्षमता बढ़ाने के लिए कदम उठाना।
9. मंत्री को उसके संसदीय उत्तरदायित्व को पूरा करने में सहायता देना।

इस प्रकार सचिवालय एक प्रशासनिक परामर्शदात्री निकाय है। वह एक ओर तो नीति-निर्धारक, समन्वयकर्ता और नियंत्रक निकाय है, तो दूसरी ओर सरकार का प्रमुख कार्यपालिका निकाय ही है।

8.2.4 केन्द्रीय सचिवालय की कार्य-प्रणाली की आलोचना

भारत में सचिवालय प्रशासन की रीढ़ है। फिर भी सचिवालय की कार्यप्रणाली की निम्नांकित आधारों पर आलोचना की जाती है-

1. अनावश्यक रूप से बढ़ता हुआ आकार।
2. सचिवालय के कर्मियों की संख्या में इतनी अधिक वृद्धि कि वह एक भीड़ भरा संगठन बन गया है।
3. अत्यन्त खर्चिला।
4. विलम्बकारी प्रकिया।
5. विलम्ब की समस्या से प्रजातंत्र के स्वरुप में भ्रष्टाचार का उदय।
6. सचिवालय यद्यपि नीति-निर्माण करने वाली संस्था है, तथापि आज-कल यह कार्यकारी विभागों के कार्यो का संचालन अधिकाधिक मात्रा में करने लगा है। परिणामस्वरूप एक ओर तो सचिवालय अपना ध्यान नीति-निर्माण के कार्य पर क्रेन्द्रित नहीं कर पाता और दूसरी ओर कार्यकारी इकाईयों की शक्ति में ह्रास होता जा रहा है।
7. वर्तमान समय में सचिवालय अपना क्षेत्राधिकार बढ़ाने की मनोवृत्ति से पीड़ित।
8. सचिवालय के कार्यकारी अपने आपको इकाईयों के कार्मिकों से अधिक योग्य मानने की प्रवृति से पीड़ित दिखाई देते हैं।

8.2.5 केन्द्रीय सचिवालय में सुधार के लिए सुझाव

भारत सरकार सचिवालय के दोषों को दूर करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रही है। प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझावों पर आवश्यकतानुसार अमल किया गया है, जैसे-

1. निर्णय प्रक्रिया में पदसोपानों की संख्या में कमी करने की दिशा में कदम उठाए गये हैं।
2. निम्न स्तर पर प्रशासनिक कुशलता लाने के लिए अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाती है।
3. सचिवालय में अनावश्यक नियुक्तियों को तथा अनावश्यक व्ययों को हतोत्साहित किया जा रहा है।
4. कर्मचारियों की पदोन्नति के नये नियम लागू हो रहे हैं और यह समझा जाने लगा है कि वरिष्ठ पदों को भरने के लिए आयु को अनावश्यक महत्व न दिया जाए।
5. यह भी सुझाव दिया गया है कि एक मंत्रालय के साथ संलग्न सचिव को दो वर्ष के स्थान पर लगातार पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए।

इस के अतिरिक्त सचिवालय की कार्य-पद्धति को सरल एवं गतिमान बनाया गया है और लालफीताशाही को समाप्त करने पर जोर दिया जा रहा है। सचिवालय सुधार के लिए कुछ सुझाव निम्नांकित है-

- सचिवालय की कार्य प्रणली को अधिक गति दने के लिए यह आवश्यक है कि सचिवालय केवल नीति-निर्माण का ही कार्य करे।
- सचिवालय के कार्यों में कुशलता लाने के लिए विभागाध्यक्ष, सचिव तथा मंत्री तीनों के मध्य की दूरीयाँ कम की जाए।
- प्रशासनिक विभागों की अध्यक्षता हेतु विशेषज्ञ अधिकारियों को प्राथमिकता दी जाए।

8.3 अवधि प्रणाली

'अवधि प्रणाली' का प्रारम्भ लार्ड कर्जन के द्वारा 1905 में की गया। इसके अर्न्तगत क्षेत्रीय संस्थान के स्तर पर कार्य करने वाले अधिकारियों को एक निर्धारित अवधि के लिए मुख्यालय के स्तर पर पद स्थापित किया जाता था। आजादी के उपरान्त 'अवधि प्रणाली' से राज्य सरकार के स्तर पर कार्य कर रहे अखिल भारतीय सेवा के अधिकारियों को एक निश्चित समय तक कन्द्रीय सचिवालय में पद स्थापित किया जाता है। अपने इस कार्यकाल को पूरा करने के उपरान्त उन्हें पुनः संबधित राज्य सरकार की सेवा में वापिस भेज दिया जाता है।

8.3.1 अवधि प्रणाली के पक्ष में तर्क

- अवधि प्रणाली से केन्द्र एवं राज्य के बीच अधिक प्रभावी प्रशासनिक समन्वय प्राप्त किया जा सकता है।
- अवधि प्रणाली केन्द्र एवं राज्य सरकार दोनों के लिए लाभकारी है। केन्द्र सरकार अधिक वास्तविक तरीके से स्थानीय अनुभव के आधार पर नीति का निर्माण कर सकती है, क्योंकि राज्य सरकार के स्तर पर कार्य करने वाले अधिकारियों के पास जिला प्रशासन का वास्तविक अनुभव होता है। राज्य सरकार इन अधिकारियों के माध्यम से अपनी प्रशासनिक गतिविधियों में व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्राप्त कर सकती है।
- भारतीय प्रशासन में समरूपता प्राप्त करने के दृष्टिकोण से अवधि प्रणाली का विशेष योगदान है।
- अवधि प्रणाली देश की एकता एवं अखण्डता बनाये रखने में सहयोगी है।
- अवधि प्रणाली की विचारधारा भारतीय संघवाद की विचारधारा से मेल रखती है।
- अवधि प्रणाली अधिकारियों के बीच समानता के अवसर उपलब्ध कराती है।
- राज्य सरकार के स्तर पर कार्य करने वाले अधिकारी अधिक राजनीतिक निष्पक्षता के साथ अपने कार्यों का संचालन कर सकते हैं। अर्थात् लोक सेवा के स्वतंत्र एवं निष्पक्ष कार्यों के सन्दर्भ में अवधि प्रणाली की भूमिका महत्वपूर्ण है।
- अवधि प्रणाली के माध्यम से केन्द्र सरकार अपनी नीतियों पर जनता की सामान्य प्रतिक्रिया को प्राप्त कर सकती है।

8.3.2 अवधि प्रणाली के विपक्ष में तर्क

- जब राज्य प्रशासन के अधिकारी केन्द्रीय सचिवालय के अन्तर्गत किसी पद को ग्रहण करते हैं, तो ऐसी परिस्थिति में संबंधित मंत्रालय की कार्य-पद्धति से परिचत न होने के कारण उस अधिकारी की निर्भरता

कार्यालय पर बनी रहती है। अतः जिस अवधि प्रणाली के माध्यम से अधिकारियों की कार्यकुशलता को अधिक करने का प्रयास किया गया है, उससे वैसा हो पाना सम्भव नहीं हो रहा है।

- केन्द्र सरकार के स्तर पर कुछ एसी गतिविधियाँ संचालित की जाती हैं, जिनमें जिला प्रशासन का स्थानीय अनुभव अनिर्वाय नहीं है। अतः ऐसे क्षेत्रों में अवधि प्रणाली की उपयोगिता काफी सीमित हो जाती है।
- कई परिस्थितियों में ऐसा भी देखने को मिलता है कि राज्य प्रशासन के अधिकारी जब अवधि प्रणाली के अर्न्तगत केन्द्र सरकार के स्तर पर सेवा प्रदान करने जाते हैं, तो इसके उपरान्त पुनः राज्य प्रशासन की सेवा में वापस जाने में दिलचस्पी नहीं रखते। अतः अवधि प्रणाली के माध्यम से जो लाभ राज्य प्रशासन को होना चाहिए, वह सम्भव नहीं हो पाता।
- केन्द्रीय सचिवालय सेवा को स्थापित करने के उपरान्त अनुभाग अधिकारी पदोन्नति के माध्यम से उच्चतर अधिकारी वर्ग में शामिल किये जाते हैं। ऐसा होने के कारण अवधि प्रणाली के अन्तर्गत राज्य प्रशासन के अधिकारियों को सीमित अवसर प्राप्त होते हैं।
- अवधि प्रणाली के अर्न्तगत केन्द्रीय सचिवालय के स्तर पर आने वाले अधिकारियों की संख्या में अनिश्चितता बनी रहती है।
- सचिवालय सेवा के अधिकारियों के पदोन्नति के अवसर कम होते हैं। मनोबल प्रभावित होता है और समन्वय की समस्या होती है।

8.4 मंत्री-मण्डल(कैबिनेट) सचिवालय

मंत्री-मण्डल सचिवालय की स्थापना एक ऐसे प्रशासनिक संस्थान के रूप में की गयी है, जो मंत्री-मण्डल के कार्यों में सहयोग देने के लिए है। मंत्री-मण्डल सचिवालय को देश के एक नीति-निर्माण अभिकरण के रूप में स्थापित किया गया है। भारतीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत मंत्री-मण्डल प्रमुख नीति निर्माण कर्ता अभिकरण है। अतः मंत्री-मण्डल सचिवालय के द्वारा सरकार की नीतियों का अंतिम निर्धारण किया जाता है।

मंत्री-मण्डल प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में अपने कार्यों को सम्पन्न करता है। प्रधानमन्त्री मंत्री-मण्डल के अध्यक्ष के रूप में मंत्री-मण्डल सचिवालय से परामर्श एवं सहयोग प्राप्त करता है, जिसकी अध्यक्षता मंत्री-मण्डल सचिव के द्वारा की जाती है। मंत्री-मण्डल सचिव पूरे देश का सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी है। विभिन्न मंत्रालयों के बीच समन्वय को प्राप्त करने के लिए मंत्री-मण्डल सचिवालय को उत्तरदायी माना गया है।

जब प्रधानमन्त्री सरकार के अध्यक्ष के रूप में अपने कार्यों का निष्पादन करते हैं, तो दैनिक प्रशासनिक सहयोग प्रधानमन्त्री कार्यालय के द्वारा प्रदान किया जाता है। ऐसी स्थिति में मंत्री-मण्डल सचिवालय एवं प्रधानमन्त्री कार्यालय के बीच आजादी के उपरान्त ही समय-समय पर विवादास्पद मुद्दे उठते रहे हैं। संसदीय प्रणाली की विचारधारा के अनुसार भारतीय शासन में मंत्री-मण्डल सचिवालय की भूमिका निर्णायक होनी चाहिए। परन्तु प्रधानमन्त्री के बदलते हुए व्यक्तित्व के सन्दर्भ में मंत्री-मण्डल सचिवालय की निर्णायक भूमिका प्रधानमन्त्री कार्यालय में देखने को मिलती है।

मंत्री-मण्डल सचिवालय सीधे प्रधानमन्त्री के अधीन कार्य करता है। इसका सचिव, कैबिनेट सचिव होता है जो कि प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठ अधिकारी होता है। उसकी सहायता के लिए अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं।

8.4.1 मंत्री-मण्डल सचिवालय के कार्य

कैबिनेट या मंत्री-मण्डल सचिवालय केन्द्रीय प्रशासन का केन्द्र-बिन्दु है। भारत में कैबिनेट की कार्यकुशलता तथा प्रशासन की सुव्यवस्था बहुत हद तक मंत्री-मण्डल सचिवालय की क्षमता पर निर्भर करती है। मंत्री-मण्डल सचिवालय के कार्यों का विवरण निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत दिया जा सकता है-

1. **मत्री-मण्डल सचिवालय के रूप में-** केन्द्रीय मंत्री-मण्डल तथा उसकी समितियों को दैनिक कार्य से संबंधित सचिवालय सहायता प्रदान कराना। कैबिनेट की बैठकों की कार्यसूची तैयार करना, वाद-विवाद तथा निर्णयों का अभिलेख रखना। केन्द्रीय मंत्री-मण्डल, उसकी समितियों, राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति को विभिन्न सरकारी संस्थाओं से संबंधित आवश्यक सूचनाऐं उपलब्ध कराना। मंत्री-मण्डल की बैठकों के निर्णयों की सूचना संबंधित विभागों को पहुँचाना।
2. **प्रारम्भकर्ता के रूप में-** इस रूप में कैबिनेट सचिवालय तीन प्रकार के प्रारम्भिक कार्य करता है। पहला- मंत्री-परिषद के मंत्रियों की नियुक्तियाँ, उनके बीच विभागों के वितरण, शपथ ग्रहण, त्याग-पत्र आदि से संबंधित समस्त कार्य। दूसरा- ऐसे कानूनों का निर्माण करना जो सरकार के कार्यों को सुविधापूर्वक सम्पन्न करने में सहायता करते हों। तीसरा- सरकार की नीतियों को लागू करने तथा उनमें समन्वय लाने से सम्बन्धित विभागों की देखरेख रखना।
3. **समन्वयकर्ता विभाग के रूप में-** केन्द्रीय प्रशासनिक स्तर पर कैबिनेट सचिवालय एक प्रमुख समन्वय संस्था है। इस रूप में यह निम्नांकित कार्य करता है- भारत सरकार में कार्यरत विभिन्न मंत्रालयों, विभागों, समितियों आदि के बीच समन्वय स्थापित करना। सरकार की प्रमुख नीतियों और गतिविधियों में समन्वय। केन्द्र सरकार एवं विभिन्न राज्य सरकारों के बीच समन्वय। कैबिनेट सचिव विभिन्न समितियों का अध्यक्ष होने के नाते विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
4. **मंत्री-मण्डल के निर्णयों को क्रियान्वित करने के रूप में-** प्रधानमन्त्री तथा मंत्रियों को समय-समय पर महत्वपूर्ण विषयों से संबंधित नीतियों के निरूपण एवं निष्पादन के विषय में परामर्श देना। मंत्री-मण्डल के समक्ष प्रस्तुत सभी विषयों के सम्बन्ध में मंत्री-मण्डल की सहायता और कार्यवाही करना। जैसे- संसद में व्यवस्थापन के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले प्रस्ताव तैयार करना, सार्वजनिक जाँच समितियों की नियुक्ति, संसद के अधिवेशन प्रारम्भ करने और समाप्त करने आदि पर विचार, विदेशों के साथ सन्धियां एवं समझौते इत्यादि।

   कैबिनेट सचिवालय का एक महत्वपूर्ण कार्य यह देखना भी है कि मंत्री-मण्डल या उसकी समितियों द्वारा लिये गये निर्णय लागू हो रहे हैं या नहीं। इस कार्य हेतु यह सचिवालय मासिक प्रतिवेदन तैयार करता है।

इस प्रकार प्रशासनिक व्यवस्था में मंत्री-मण्डल सचिवालय का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना के बाद इसके महत्व में धीरे-धीरे कुछ कमी अवश्य देखी जा सकती है। फिर भी मंत्री-मण्डल सचिवालय, मंत्री-मण्डल के सचिवालय सम्बन्धी कार्यों के लिए स्टाफ, भुजा के समान है। अतः उसे सरकारी कार्यों का सम्पादन करने हेतु एक सरकारी विभाग मात्र नहीं मान लेना चाहिए।

8.4.2 मंत्री-मण्डल का सचिव

मंत्री-मण्डल सचिवालय का प्रमुख कैबिनेट सचिव होता है, जो प्रधानमन्त्री के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में रहता है। कैबिनेट सचिव द्वारा मंत्री-मण्डल सचिवालय की एवं सचिवों के सम्मलेन की अध्यक्षता की जाती है। कैबिनेट

सचिव भारतीय प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठतम सदस्य होता है। इसे भारतीय प्रशासन का सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न एवं प्रतिष्ठित पद माना जाता है।

प्रशासनिक सुधार आयोग के प्रतिवेदन के अनुसार, योग्यतम एवं वरिष्ठतम अधिकारियों को ही कैबिनेट सचिव बनाया जाता है। इस पद को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है कि इसकी अवधि 03 या 04 वर्ष की हो। कैबिनेट सचिव को अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा के वेतन का अधिकतम वेतनमान दिया जाये। आयोग के अनुसार महत्वपूर्ण नीति निर्धारक विषयों में उसे अधिक महत्व दिया जाना चाहिए, क्योंकि वह प्रधानमन्त्री, मंत्री-मण्डल तथा मंत्री-मण्डलीय समितियों का प्रमुख सलाहकार होता है।

देशमुख टीम के अनुसार इस पद को अन्य सचिवों की तुलना में अधिक वेतनमान दिया जाए। यह टीम इस पद के क्रियान्वयन के तरीके से संतुष्ट नहीं थी और उसने इस पद की गरिमा एवं भूमिका में सुधार के लिए अनेक सिफारिशें की। जैसे-

1. दो या अधिक मंत्रालयों के बीच मतभेद की स्थिति में उन मामलों को कैबिनेट सचिव के पास भेजा जाना चाहिए।
2. कौन सा मामला किस मंत्रालय से संबंधित है, इसका निराकरण कैबिनेट सचिव पर छोड़ देना चाहिए। साथ ही कैबिनेट सचिव को समय-समय पर अन्य सचिवों से सम्पर्क स्थापित करते रहना चाहिए।

8.4.2.1मंत्री-मण्डल सचिवालय एवं मंत्री-मण्डल सचिव की स्थिति पर प्रतिकुल प्रभाव डालने वाले कारण

1. मंत्री-मण्डलीय सचिव को प्रधानमन्त्री का अपेक्षित संरक्षण न मिलना।
2. मंत्रियों और सचिवालय के उच्चस्थ अधिकारियों में पारस्परिक हितों के लिए गठजोड़, जिसका प्रभाव मंत्री- मण्डलीय सचिव के समन्वय सम्बन्धी कार्यों पर पड़ता है।
3. कार्मिक प्रशासन मंत्रालय का प्रधानमन्त्री के नियंत्रण में रखा जाना और कई महत्वपूर्ण विषयों के सन्दर्भ में इस मंत्रालय का हस्तक्षेप में मंत्री-मण्डल सचिव की उपेक्षा।
4. प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना के पश्चात कई बार प्रधानमन्त्री की मंत्री-मण्डलीय सचिवालय के बजाय प्रधानमन्त्री कार्यालय पर अधिक निर्भरता।
5. कई अवसरों पर मंत्री-मण्डलीय सचिवों की नियुक्ति, सेवा विस्तार कार्य आदि के सम्बन्ध में राजनीतिक हस्तक्षेप।

8.4.2.2 मंत्री-मण्डल सचिवालय के पुनर्गठन और क्षमता के विकास के लिए सुझाव

मंत्री-मण्डल सचिवालय एक प्रभावकारी समन्वयकर्ता निकाय है। किन्तु यह प्रभावशाली समन्वय में उतना सक्षम नहीं हो पाता है। इसके पुनर्गठन और क्षमता के विकास के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं-

1. प्रशासनिक सुधार आयोग के अनुसार सांख्यिकी विभाग को वित्तीय विभाग में मिला देना चहिए तथा सैन्य शाखा को रक्षा मंत्रालय को सौंप देना चाहिए। ऐसा करने से इस सचिवालय के पास अधिकांशतः मंत्री-मण्डल मामलों से सम्बंधित विभाग ही बचे रहेंगे।
2. कैबिनेट सचिव के पद का कार्यकाल तीन या चार साल किया जाना चाहिए।
3. मंत्री-मण्डल सचिव की नियुक्ति के पहले विभिन्न पदों पर प्राप्त प्रशासनिक अनुभव, जैसे किसी राज्य में मुख्य सचिव की भूमिका आदि पर ध्यान देना चाहिए।

4. मंत्री-मण्डल सचिव की नियुक्ति के लिए वरिष्ठता के साथ-साथ योग्यता, प्रभावशीलता, कर्त्तव्य-निष्ठा इत्यादि को ध्यान में रखा जाना चहिए।
5. मंत्री-मण्डल सचिव की नियुक्ति, सेवा-विस्तार आदि के सन्दर्भ में राजनैतिक कारकों को कम से कम किया जाना चाहिए।
6. प्रधानमन्त्री कार्यालय और मंत्री-मण्डल सचिवालय के कार्य-क्षेत्र को और अधिक स्पष्ट किया जाना चाहिए।
7. मंत्री-मण्डलीय सचिवालय एवं सचिव को प्रधानमन्त्री का उपयुक्त संरक्षण प्राप्त होना चाहिए।

8.5 प्रधानमन्त्री कार्यालय

भारत में संसदीय प्रणाली होने के कारण व्यावहारिक शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री करता है। सरकार के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमन्त्री को शासन कार्यों में कार्यालयीय सहायता करने के लिए 15 अगस्त, 1947 को प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना की गयी। इस कार्यालय का निर्माण उन कार्यों का सम्पादन करने के उद्देश्य से किया गया है, जिन्हें 15 अगस्त 1947 से पूर्व गवर्नर जनरल के व्यक्तिगत सचिव द्वारा किया जाता था। ज्ञातव्य है कि प्रधानमन्त्री ने इसी तिथि से वह सभी कार्य अपने हाथों में लिए, जो इसके पहले गवर्नर जनरल, सरकार की कार्यपालिका के प्रमुख के रूप में किया करता था।

आजादी के उपरान्त पंडित नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री बने। नेहरू संसदीय प्रजातान्त्रिक विचारधारा का आदर करते थे एवं मंत्री-मण्डल के सामूहिक निर्णय पर विश्वास करते थे। अतः प्रधानमन्त्री कार्यालय का सम्बन्ध सीमित दैनिक प्रशासनिक कार्यों से था, जो कि प्रधानमन्त्री को सरकार के अध्यक्ष के रूप में चाहिए था। अतः इस समय महत्व की दृष्टि से प्रधानमन्त्री कार्यालय, कैबिनेट सचिवालय के बाद आता था और प्रधानमन्त्री कार्यालय को निर्णयकारी भूमिका प्राप्त नहीं थी।

जब लालबहादुर शास्त्री प्रधानमन्त्री बने, तब उनके पास प्रशासनिक दक्षता नहीं थी। अतः शास्त्री जी ने कार्यालय की भूमिका को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस समय प्रधानमन्त्री कार्यालय की भूमिका देश के उच्चतर नीति निर्णयक अभिकरण के रूप में स्थापित हुई और शास्त्री जी के कार्यालय में एलके झा जैसे प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले प्रशासनिक अधिकारी को प्रधानमन्त्री कार्यालय का सचिव नियुक्त किया। झा काफी प्रभावशाली हो गये और उन्हें 'सुपर सचिव' की संज्ञा दी जाने लगी। शास्त्री जी के समय यह अत्यन्त शक्तिशाली होकर उभरा और प्रधानमन्त्री कार्यालय का नामकरण प्रधानमन्त्री सचिवालय कर दिया गया।

इन्दिरा गाँधी द्वारा प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण करते समय उनके पास भी प्रशासनिक अनुभव तथा ज्ञान नहीं था, अतः स्वाभाविक रूप से उनकी निर्भरता प्रधानमन्त्री सचिवालय पर अधिक थी। देश की आर्थिक नीति एवं विदेश नीति जैसी जटिल विषय वस्तु पर इन्दिरा गाँधी काफी हद तक प्रधानमन्त्री सचिवालय पर निर्भर करती थी। ऐसी दशा में इन्दिरा गाँधी के प्रधानमंत्री काल में शास्त्री जी द्वारा शुरू की गयी परम्परा को और अधिक प्रोत्साहन मिला और इस समय प्रधानमन्त्री सचिवालय के आकार एवं भूमिका दोनों में वृद्धि हुई, विशेष कर राष्ट्रीय आपातकाल के समय प्रधानमन्त्री सचिवालय एक वास्तविक प्रशासनिक सत्ता के एक अतिरिक्त संवैधानिक केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। प्रधानमन्त्री सचिवालय एक निर्णायक अभिकरण के रूप में स्थापित हुआ एवं मंत्री-मण्डल सचिवालय एक ऐसा अभिकरण बन गया, जिसका कार्य प्रधानमन्त्री सचिवालय के निर्णयों को लागू करना था।

'जनता सरकार' के समय प्रधानमन्त्री सचिवालय का नामकरण पुनः प्रधानमन्त्री कार्यालय के रूप में किया गया। इसकी भूमिका सत्ता एवं आकार दोनों की दृष्टि से सीमित करते हुए मंत्री-मण्डल सचिवालय को एक उचित नीति निर्णायक अभिकरण माना गया तथा प्रधानमन्त्री कार्यालय की राष्ट्रीय मामलों में नीति निर्धारण की कोई भूमिका नहीं रही। यहाँ तक 'रॉ' संगठन को भी इससे हटा दिया गया। कैबिनेट सचिवालय का कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार विभाग जो लोक सेवाओं पर नियंत्रण रखता है, पहले के समान गृह मंत्रालय को और राजस्व जाँच विभाग, वित्त मंत्रालय को लौटा दिया गया।

1980 में इन्दिरा गाँधी पुनः प्रधानमन्त्री बनी और उनके द्वारा जनता सरकार के समय किये गये अनेक कार्यों में परिर्वतन किये गये। साथ ही प्रधानमन्त्री कार्यालय की भूमिका में बढ़ोत्तरी भी हुई, लेकिन प्रधानमन्त्री कार्यालय वह स्थान प्राप्त न कर सका जो उसे पहले प्राप्त था।

1984 में राजीव गाँधी के प्रधानमन्त्री बनने के उपरान्त प्रधानमन्त्री कार्यालय के प्रमुख प्रशासनिक विषय वस्तुओं पर परामर्शदाताओं की नियुक्ति की गयी, जिससे भारतीय प्रशासनिक तंत्र में प्रधानमन्त्री कार्यालय का प्रभाव अधिक हुआ। राजीव गाँधी के पास भी प्रशासनिक दक्षता की कमी होने के कारण प्रधानमन्त्री कार्यालय पर उनकी निर्भरता बनी रही। अतः इस समय मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों दृष्टियों से विस्तार हुआ और वह अपनी खोई शक्ति एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त करने में सफल हुआ।

नरसिम्हा राव के प्रधानमंत्रित्व काल में विशेषकर अंतिम वर्षों में प्रधानमन्त्री कार्यालय की भूमिका पुनः अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। नरसिम्हा राव के द्वारा एक अल्पमत सरकार का नेतृत्व किया गया। अतः प्रधानमन्त्री कार्यालय पर उनकी निर्भरता का अत्यधिक होना स्वाभाविक था।

इण्डिया टुडे के अनुसार वाजपेयी जी के नेतृत्व में प्रधानमन्त्री कार्यालय केवल सजावटी चीज बन कर रह गया है। वैसे सर्वशक्तिमान प्रधानमन्त्री कार्यालय को निष्प्रभाव करने का फैसला खुद वाजपेयी ने किया था। वाजपेयी के मित्रों का मानना है कि प्रधानमन्त्री ने निगरानी और सुधार-तंत्र को प्रभावी तरीके से विकसित किए बगैर अपने मंत्रियों को आजादी देकर गलती की। इससे जहाँ नियमों की चकाचौंध और उनका असर खत्म हो गया, वहीं वाजपेयी जी की निजी छवि को चोट पहुँची। इसकी वजह आर्थिक मामले हैं, जहाँ वाजपेयी जी कमजोर पड़ जाते हैं, लेकिन धीरे-धीरे प्रधानमन्त्री की सरकार पर पकड़ मजबूत होने के साथ ही प्रधानमन्त्री कार्यालय की एवं प्रधानमन्त्री के प्रधान सचिव ब्रजेश मिश्र की भूमिका क्रमशः बढ़ती जा रही है। वर्तमान समय में रक्षा, विदेश के अतिरिक्त अन्य कई मामलों में प्रधानमन्त्री का हस्तक्षेप देखा जा सकता है एवं प्रधानमन्त्री कार्यालय तथा प्रधान सचिव गतिविधियों में प्रत्यक्ष रूप से भूमिका निभाते नजर आ रहे हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि वाजपेयी का जी प्रधानमन्त्री कार्यालय विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा था।

वर्तमान समय में संयुक्त सरकार की विचारधारा के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री एक राजनैतिक असुरक्षा की भावना में कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रधानमन्त्री कार्यालय पर उनकी निर्भरता आंकना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त संयुक्त सरकार में कई अन्य राजनैतिक दलों के सदस्यों को मिलाकर मंत्री-परिषद का निर्माण किया जाता है। अतः प्रधानमन्त्री विश्वसनीय परामर्शो के लिए प्रधानमन्त्री कार्यालय पर ज्यादा निर्भर होते हैं। लेकिन संयुक्त सरकार में प्रधानमन्त्री सन्तुलन एवं अवरोध के नियम के अन्तर्गत अपने कार्यों का संचालन करते हैं। ऐसी अवस्था में प्रधानमन्त्री की तुलना में मंत्री-मण्डल का विशेष महत्व होता है। अतः मंत्री-मण्डल सचिवालय की भूमिका का विशेष महत्व होना स्वभाविक है।

संयुक्त सरकार के सन्दर्भ में प्रधानमन्त्री कार्यालय गोपनीय विचार हेतु प्रधानमन्त्री के लिए एक आरक्षित एवं सुरक्षित स्थान नहीं माना जाता है। अतः सत्ता का हस्तांतरण प्रधानमन्त्री कार्यालय के निवास (PMR) की ओर देखने को मिल रहा है।

आज भारतीय प्रशासन में प्रधानमन्त्री कार्यालय का न केवल महत्व बढ़ा है, बल्कि उसकी अहम भूमिका है। आज यह असाधारण रूप से शक्तिशाली संगठन है, जिससे अनेक विशेषज्ञ सम्बद्ध हैं। प्रधानमन्त्री कार्यालय जो केन्द्रीय सचिवालय संगठनों में सबसे छोटा है, मंत्री-मण्डल सचिवालय से भी बड़ा हो गया है। वस्तुतः प्रधानमन्त्री कार्यालय के सचिव की भूमिका मित्र, मार्गदर्शक और परामर्शदाता जैसी हो तो वह अधिक उपयोगी होगा। लेकिन यदि प्रधानमन्त्री कार्यालय समान्तर सरकार का प्रतिरूप ग्रहण करने का प्रयास करता है, तो उसके प्रशासनिक दृष्टि से लाभकारी परिणाम नहीं होंगे।

प्रधानमन्त्री अपनी पसन्द के किसी भी व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त कर सकते हैं और यह पद कार्याकाल पद्धति से मुक्त है। उपसचिव और उसे उपर के पदों पर नियुक्ति मंत्री-मण्डल की नियुक्ति समिति की स्वीकृति से होती है। अवर सचिव और नीचे के पद गृह मंत्रालय द्वारा भरे जाते हैं। पाँचवे वेतन आयोग के प्रतिवेदन के अनुसार प्रधानमन्त्री कार्यालय में वर्तमान समय कुल मिलाकर 483 स्वीकृत पद हैं। साधारणतः प्रधानमन्त्री के पदाधिकारियों का वही स्तर होता है, जो शासन के मंत्रालयों में तदनुरूप श्रेणी के पदाधिकारियों का होता है।

8.5.1 प्रधानमन्त्री कार्यालय के कार्य

साधारणतः प्रधानमन्त्री कार्यालय के क्षेत्राधिकार में वे सभी विषय आते हैं, जो कि व्यक्तिगत विभाग या मंत्रालय को नहीं सौंपे गये हैं। प्रधानमन्त्री कार्यालय की निम्नांकित भूमिकाऐं हैं-

1. प्रधानमन्त्री को सरकार के अध्यक्ष के रूप में या मुख्य कार्यापालिका के रूप में कार्य करते समय प्रधानमन्त्री कार्यालय, प्रधानमन्त्री को सहयोग देता है।
2. यदि कोई प्रशासनिक विषय वस्तु किसी मंत्री को न सौंपी गयी हो, तो उस विषय-वस्तु का कार्यभार प्रधानमन्त्री पर होता है एवं उन विषय वस्तुओं पर प्रधानमन्त्री कार्यालय, प्रधानमन्त्री को सहयोग देता है।
3. प्रधानमन्त्री को योजना आयोग के अध्यक्ष के रूप में उत्तरदायित्व निभाने में सहायता करना।
4. इस कार्यालय के माध्यम से प्रधानमन्त्री अन्य केन्द्रीय मंत्रियों, राष्ट्रपति, राज्यपालों, मुख्यमंत्रियों, राजदूतों आदि से सम्पर्क स्थापित करता है।
5. यदि जनता की कोई शिकायत प्रधानमन्त्री के पास भेजी जाए, तो प्रधानमन्त्री कार्यालय उन शिकायतों का निराकरण सुनिश्चित करता है।
6. प्रधानमन्त्री कार्यालय में संसद में सामान्य विषयों पर पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है, जिन्हें किसी मंत्रालय को नहीं सौपा गया है।
7. प्रधानमन्त्री के आवश्यक रिकार्ड रखना, उनके अतिथियों के स्वागत-सत्कार की व्यवस्था करना तथा प्रधानमन्त्री द्वारा मांगी गयी सूचना प्रदान करना प्रधानमन्त्री कार्यालय के उत्तरदायित्व हैं।
8. प्रधानमन्त्री के आदेश एवं संदेश को मंत्रिमण्डलीय सचिवालय को सूचित करना भी प्रधानमन्त्री कार्यालय का कार्य है। आजकल यह प्रधानमन्त्री के महत्वपूर्ण भाषण तैयार करने, राज्यों की प्रशासनिक

व्यवस्था की देखरेख करने तथा प्रधानमन्त्री के विदेश यात्रा के कार्यक्रम बनाने का भी कार्य करने लगा है।

इसके अतिरिक्त भूकम्प, बाढ़, सूखा आदि के समय या अन्य अवसरों पर प्रधानमन्त्री कोष से राज्यों या व्यक्तियों को जो आर्थिक सहायता पहुँचायी जाती है, उसका लेखा-जोखा भी प्रधानमन्त्री कार्यालय रखता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. केन्द्रीय सचिवालय सेवा का गठन 1951 में किया गया। सत्य/असत्य
2. भारतीय प्रशासनिक सेवा में अवधि प्रणाली 1905 से लार्ड कर्जन के समय शुरू हुई। सत्य/असत्य
3. राजीव गाँधी 1984 में प्रधानमन्त्री नियुक्त किये गये थे। सत्य/असत्य

8.6 सारांश

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि, सचिवालय एक प्रशासनिक परामर्शदात्री निकाय है। वह एक ओर तो नीति निर्धारक, समन्वयकर्ता और नियंत्रक निकाय है, तो दूसरी ओर सरकार का प्रमुख कार्यपालिका निकाय भी है।

इसके साथ ही प्रशासनिक व्यवस्था में मंत्री-मण्डल सचिवालय का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना के बाद इसके महत्व में धीरे-धीरे कुछ कमी अवश्य देखी जा सकती है, फिर भी मंत्री-मण्डल सचिवालय, मंत्री-मण्डल सचिवालय सम्बन्धी कार्यो के लिए स्टाफ भुजा के समान है। अतः उसे सरकारी कार्यो का सम्पादन करने हेतु एक सरकारी विभाग मात्र नहीं मान लेना चाहिए।

आज भारतीय प्रशासन में प्रधानमन्त्री कार्यालय का न केवल महत्व बढ़ा है, बल्कि उसकी अहम भूमिका है। आज यह असाधारण रूप से शक्तिशाली संगठन है, जिससे अनेक विशेषज्ञ सम्बद्ध हैं। प्रधानमन्त्री कार्यालय जो केन्द्रीय सचिवालय संगठनों में सबसे छोटा था, अब मंत्री-मण्डल सचिवालय से भी बड़ा हो गया है। वस्तुतः प्रधानमन्त्री कार्यालय के सचिव की भूमिका मित्र, मार्गदर्शक और परामर्शदाता जैसी हो, तो वह अधिक उपयोगी होगा। लेकिन यदि प्रधानमन्त्री कार्यालय समान्तर सरकार का प्रतिरूप ग्रहण करने का प्रयास करता है, तो उसके प्रशासनिक दृष्टि से लाभकारी परिणाम नहीं होंगे।

8.7 शव्दावली

सचिवालय- सरकार को नीति-निर्माण में सहयोग करने वाला निकाय है। नीति-निर्माण के उपरान्त उसके क्रियान्वयन के सम्बन्ध में प्रमुख कार्यपालिका निकाय है।

प्रधानमन्त्री कार्यालय- प्रधानमन्त्री को उनके कार्यो के सम्पादन में (कार्यपालिका प्रमुख के रूप में) सहयोग करने वाला निकाय है।

मंत्री-मण्डलीय सचिवालय- भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों, विभागों, समितियों के बीच समन्वय स्थापित करने वाला निकाय है।

8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य

8.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ0 रूपा मंगलानी।
2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।

3. भारतीय शासन एवं राजनीति- महेन्द्र प्रताप सिंह।

8.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया।

8.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. केन्द्रीय सचिवालय के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिए।
2. मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिए।
3. प्रधानमन्त्री कार्यालय के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिए।

इकाई- 9 राजनीति और प्रशासन में सम्बन्ध

इकाई की संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 राजनीति का अर्थ एवं महत्व
9.3 राजनीति की चिरसम्मत धारणा
9.4 राजनीति की आधुनिक धारणा
9.5 राजनीतिक स्थिति की विशेषताऐं
9.6 प्रशासन
9.7 राजनीति एवं प्रशासन में सम्बन्ध
9.8 सारांश
9.9 शब्दावली
9.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.13 निबंधात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

राजनीतिक चिंतक, आज के युग में राजनीति को मनुष्यों की एक विशेष गतिविधि मानता है। मनुष्यों की यह गतिविधि समाज के विभिन्न समूहों के माध्यम से व्यक्त होती है। इसके क्षेत्र में वही सत्ता आती है, जिसका प्रयोग या तो वह स्वयं करता है, या शासन को प्रभावित करने के लिए करता है।

वर्तमान में शासन को प्रभावित करने के लिए जन लोकपाल एवं भ्रष्टाचार पर राजनीति विशेष रूप से हो रही है। प्रशासन का अर्थ कार्यों को प्रबन्ध करने से है। यद्यपि राजनीति एवं प्रशासन के सम्बन्ध को इस अध्याय में विस्तृत चर्चा की गयी है।

प्रशासन एवं राजनीति एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों में ही सत्ता एवं शक्ति का प्रयोग होता है। पूर्व में दोनों में काफी अन्तर एवं भेद की चर्चा होती थी, परन्तु वर्तमान में यह भेद लगभग समाप्त हो चुका है और दोनों ही एक-दूसरे के अंगीकार बन गये हैं।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राजनीति के अर्थ एवं महत्व को जान सकेंगे।
- राजनीति की चिर-सम्मत धारणा को जान सकेंगे।
- राजनीतिक स्थिति की विशेषताओं के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- राजनीति एवं प्रशासन में सम्बन्ध में जान सकेंगे।

9.2 राजनीति का अर्थ एवं महत्व

'राजनीति' शब्द का व्यवहार सामाजिक समूह के लिए किया जाता है, जो क्लबों और परिवार जैसे छोटे मानव समूहों से लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ तक व्याप्त है। मानव समाज में यूनानी दार्शनिक प्लेटो से लेकर अब तक के जितने भी चिंतक आदर्श लोक की कल्पना करते रहे हैं, वे सभी अंत में समाज के राजनीतिक पुनर्गठन की बात किसी न किसी रूप में करते हैं। सामाजिक सहयोग, संघर्ष और प्रतिस्पर्धा नामक गतिविधियों को राजनीति कहते हैं।

अरस्तू ने कहा है, कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है। इसका अर्थ है कि मनुष्य किसी न किसी राज्य(पोलिस) के अन्तर्गत रहता है। अर्थात् एक सामूहिक सत्ता के माध्यम से अपने जीवन को व्यवस्थित करता है, ताकि एक नैतिक प्राणी के नाते वह सद्जीवन और आत्म-सिद्धि प्राप्त कर सके। अतः अरस्तू की दृष्टि में राजनीति, मनुष्य के सम्पूर्ण अस्तित्व को समेट लेती है। मनुष्यों की गतिविधियाँ समाज के विभिन्न समूहों के माध्यम से व्यक्त होती है। जैसे- राजनीतिक दलों के द्वारा, राष्ट्रों में यह गतिविधि शांति के समय राजनय के रूप मे व्यक्त होती है और अशांति के समय युद्ध के रूप में। परन्तु युद्ध राजनीति का उपयुक्त तरीका नहीं है। युद्ध का सहारा तब लिया जाता है, जब राजनीति विफल हो जाती है। युद्ध के नियमों का पालन राजनीति का विषय अवश्य है। निष्कर्ष में राजनीतिक गतिविधि 'शक्ति के संघर्ष' के रूप में व्यक्त होती है। यह संघर्ष अनेक राष्ट्रों के बीच हो सकता है, एवं एक ही राष्ट्र के भीतर विभिन्न समूहों के बीच भी चल सकता है। दूसरों के साथ प्रतिस्पर्धा की स्थिति में, समाज के दुलर्भ संसाधनों पर अपना प्रभुत्व और नियंत्रण स्थापित करने के प्रयास को राजनीति की संज्ञा दी जाती है। राजनीति के क्षेत्र में सत्ता वह कहलाती है, जिसका प्रयोग या तो शासन स्वयं करता है या जिसका प्रयोग शासन को प्रभावित करने के लिए होता है। अरस्तू की प्रसिद्ध रचना 'पालिटिक्स' में इस तर्क का खंडन भी किया है कि सत्ता का स्वरूप एक ही होता है। परन्तु सभी तरह की सत्ता एक जैसी नहीं होती है। मैक्स वेबर जो जर्मन समाज वैज्ञानिक थे, उन्होंने भी सत्ता को वैधानिक एवं तार्किक बताया है। अरस्तू ने सत्ता, शक्ति को राजनीतिक सम्बन्ध का आवश्यक लक्षण माना है। वहीं मैक्स वेबर ने भी सत्ता के प्रयोग क्षेत्र की ओर संकेत किया है।

'राजनीति' शब्द दैनिक जीवन में बहुत प्रचलित है। राजनीतिक गतिविधियों को लेकर समाज मानता है कि इसका सरोकार केवल सार्वजनिक क्षेत्र से है। अर्थात् सांसदों, विधायकों, चुनावों और मंत्री-मण्डल से है। आम आदमी राजनीति को संकुचित दायरे में रखकर सोचता है। वह तो इसे या तो केवल मंत्रियों और विधायकों की गतिविधि समझ लेता है, या राजनितिज्ञों का चातुर्यपन और चुनाव पैतरों के साथ जोड़ता है। परन्तु यदि हम राजनीति से घृणा करते हुए उससे दूर भागेंगे तो यह डर है कि राजनीति सचमुच गलत लोगों के हाथों में चली जायेगी और सार्वजनिक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकेगा। वर्तमान में राजनीति ऐसे ही लोगों के द्वारा की जा रही है।

9.3 राजनीति की चिरसम्मत धारणा

प्लेटो, अरस्तू एवं उनके समकालिक विचारकों का मत है कि राज्य मनुष्य के जीवन के लिए अस्तित्व में आता है और सद्जीवन के लिए बना रहता है। राज्य के बगैर किसी मनुष्य को मनुष्य रूप में नहीं पहचाना जा सकता। राज्य में सद्जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्य जो कुछ भी करता है, जिन-जिन गतिविधियों में भाग लेता है एवं जो नियम संस्थाऐं और संगठन को निर्मित करता है उन सबको अरस्तू ने राजनीति का विषय माना है। इसे ही राजनीति की चिरसम्मत धारणा कहते हैं। मनुष्य के समस्त सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं का अध्ययन राजनीति के अन्तर्गत होता था। अरस्तू ने राजनीति को सर्वोच्च विज्ञान का रूतवा दिया। मानव समाज के अन्तर्गत विभिन्न सम्बन्धों को व्यवस्थित करने में राजनीति निर्णायक भूमिका निभाती है। परन्तु आज के युग में

राजनीति जन-साधारण के समर्थन पर आश्रित हो गयी है। इसलिए यह जन-साधारण के जीवन के साथ निकट से जुड़ गयी है।

9.4 राजनीति की आधुनिक धारणा

राजनीति की चिरसम्मत धारणा के विपरीत, आज के युग में राजनीति के प्रयोग का क्षेत्र तो सीमित हो गया है, परन्तु इसमें भाग लेने वालों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। राजनीति के अध्ययन में मनुष्य के सामाजिक जीवन की समस्त गतिविधियों पर विचार नहीं किया जाता, बल्कि केवल उन गतिविधियों पर विचार किया जाता है, जो सार्वजनिक नीति और सार्वजनिक निर्णयों को प्रभावित करती हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सर्वाजनिक नीतियॉ और निर्णय इन गिने-चुने शासकों, विधायकों या सत्ताधारियों की इच्छा को व्यक्त नहीं करते, बल्कि समाज के भिन्न-भिन्न समूहों की परस्पर क्रिया के फलस्वरूप उभरकर सामने आते हैं। इस तरह राजनीति जन-साधारण की उन गतिविधियों का संकेत देती है, जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न समूह अपने-अपने परस्पर विरोधी हितों में ताल-मेल स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

परम्परागत राजनीतिशास्त्र का मुख्य सरोकार 'राज्य' से था, इसीलिए इसको राज्य के विज्ञान से भी परिभाषित करते हैं। उस काल के राजनीतिशास्त्र के विद्वानों एवं लेखकों के लेख में भी इन्हीं बातों का अभिलेख मिलता है। इन लेखों में लेखकों ने अपना ध्यान निम्नलिखित समस्याओं पर ही केन्द्रित किया। जैसे- राज्य के लक्षण, मूल तत्व एवं संस्थाऐं सर्वगुण सम्पन्न राज्य। परन्तु आधुनिक काल में उपरोक्त विचारों के अतिरिक्त और भी पक्षों का समावेश किया है। उदाहरणार्थ 'राजनीति' मनुष्य की व्यपापक क्रिया है। यह केवल राज्य की परिधि में निहित नहीं है वरन् सम्पूर्ण सामाजिक संगठन के साथ जुड़ी रहती है। इसीलिए राजनीति को आज के सन्दर्भ में एक सामाजिक प्रक्रिया माना जाता है।

9.5 राजनीतिक स्थिति की विशेषताऐं

उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो गया कि राजनीति एक विशेष मानवीय क्रिया है। इन क्रियाओं के कार्यान्वियन में मनुष्य का ही योगदान है तथा क्रियान्वित कार्य राजनीतिक स्थिति कहलाती है। इसके समर्थन में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपने मत भी प्रकट किये हैं। जैसे एलेन बाल द्वारा रचित पुस्तक 'मार्डन पालिटिक्स एण्ड गवर्नमेंट' के अन्तर्गत लिखा है, राजनीतिक क्रिया में मतभेद और उन मतभेदों का समाधान निहित होता है। जे0डी0बी0 मिलर ने अपनी पुस्तक 'द नेचर एण्ड पालिटिक्स' में लिखा है कि राजनीतिक स्थित में संघर्ष के समाधान के लिए शासन या सरकार का प्रयोग किया जाता है। इसका तात्पर्य है कि राजनीतिक गतिविधि में मतभेद की स्थिति से पैदा होती है और इसका सरोकार परिवर्तन की दिशा में या परिवर्तन की रोकथान के लिए संघर्ष के समाधान में प्रयोग से है। इस तरह राजनीतिक प्रक्रिया में दो बातों का होना आवश्यक है, पक्षों में मतभेद या संघर्ष की मौजूदगी एवं सरकार की सत्ता के माध्यम से उस संघर्ष के समाधान का प्रयास।

राजनीति का सम्बन्ध समाज में 'मूल्यों' के आधिकारिक आवंटन से है। इस परिभाषा में तीन महत्वपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया गया है ये शब्द हैं- मूल्य, आधिकारिक एवमं आवंटन। 'मूल्य' का अभिप्राय समाज में मिलने वाली दुर्लभ वस्तुऐं हैं, जैसे- रोजगार, स्वास्थ्य सेवा, परिवहन सेवा, शिक्षा, मनोरंजन, मान-प्रतिष्ठा इत्यादि। इसको ऐसे भी समझा जा सकता है कि वे अभीष्ठ वस्तुऐं, लाभ अथवा सेवाऐं जिन्हें हर कोई पाना चाहता है, परन्तु वे इतनी कम हैं कि उन्हें सभी नहीं पा सकते हैं।

'आवंटन' शब्द का अर्थ विभिन्न व्यक्तियों या समूहों में इन वस्तुओं का वितरण या बंटवारे से है। इस बंटवारे के लिए निर्णयन प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है। निर्णय तो नीति के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। निर्णय का अर्थ है, अनेक में से एक का चयन। नीति में निर्णय तक पहुँचना और उसे कार्यान्वित करना भी शामिल है।

उपरोक्त दो शब्दों की व्याख्या के बाद 'आधिकारिक' शब्द की विवेचना करना भी आवश्यक है। नीति जिन लोगों के लिए बनाई जाती है और वही लोग जब नीति का पालन करना आवश्यक समझते हैं, तब वह नीति आधिकारिक होती है। इस प्रकार से सम्पूर्ण प्रक्रिया में सरकार का ही योगदान है। शासन, सत्ता पक्ष के द्वारा ही किया जाता है, सत्ता वैधानिक होती है एवं सत्ता में शक्ति भी निहित होती है। किसी विशेष निर्णय या कार्यवाही को लागू करने के लिए लोगों से सत्ता सहर्ष आज्ञापालन सुनिश्चित कराने की क्षमता रखता है। जब हम राजनीति की परिभाषा को मूल्यों के आधिकारिक आवंटन के रूप में देखते हैं, तब हम उसे सार्वजनिक सामाजिक घटना के रूप में पहचानते हैं। राजनीति एक विश्वव्यापी गतिविधि है। समाज में अभीष्ट वस्तुऐं, लाभ और सेवाऐं इत्यादि थोड़ी होती हैं और उनकी माँग करने वाले लोग ज्यादा होते हैं। अतः वहाँ ऐसी आधिकारिक सत्ता की आवश्यकता पड़ती है, जो परस्पर विरोधी मांगों को सामने रखकर कोई एक रास्ता निकाल सके और जिसे सब लोग स्वीकार कर लें। इसका अर्थ यह नहीं है कि सबकी मॉगें पूरी कर दी जाती है या कोई समाधान हमेशा के लिए स्वीकार कर लिया जाता है। वास्तव में एक समाधान स्वीकार करने के पश्चात नई मांगें नये-नये रूपों में प्रस्तुत की जाती हैं और फिर नये समाधान की तलाश की जाती है। अतः राजनीति एक निरंतर प्रक्रिया है। राजनीति के इस दृष्टिकोण को हम साधारणतया उदारवादी दृष्टिकोण के रूप में पहचानते या पुकारते हैं। राजनीति का यह आधुनिक दृष्टिकोण है।

राजनीति के प्राचीन दृष्टिकोण के अन्तर्गत सामाजिक जीवन का लक्ष्य या ध्येय पूर्व में ही निर्धारित रहता था और समाज के सदस्यों को पूर्व निर्धारित व्यवस्था के अन्तर्गत ही अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था। परन्तु आधुनिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत संघर्ष को सामाजिक जीवन का स्वभाविक लक्षण माना जाता है। इसे बल पूर्वक दबाने की चेष्टा नहीं की जाती है, वरन् इसका समाधान खोजने पर बल दिया जाता है।

किसी भी मतदभेद या संघर्ष के समाधान के लिए आधिकारिक सत्ता का प्रयोग आवश्यक होता है। इस सत्ता के प्रयोग के कारण ही आधिकारिक नीतियां, नियम एवं निर्णय समाज में स्वीकार किये जाते हैं और प्रभावशाली ढंग से लागू भी किये जाते हैं। सत्ता के दो मुख्य घटक होते हैं, शक्ति और वैद्यता। पहले भी इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया जा चुका है, परन्तु अब विस्तार से इनकी व्याख्या यहाँ पर की जा रही है। वैद्यता से तात्पर्य है कि सरकार द्वारा लिए गये निर्णय और उनके अनुरूप बनाये गये नियम सारे समाज में लिए उपयुक्त हैं और कल्याणकारी हैं, इसलिए समाज के सभी वर्ग उसे मन से स्वीकार करते हुए और उन नियमों का अनुपालन सुनिश्चित करने को तत्पर रहते हैं। शक्ति का अर्थ है, समाज की इच्छा के विरूद्ध किसी नियम या निर्णय को बल पूर्वक आदेशानुसार पालन करवाना। समाज में व्यवस्था स्थापित रखने के लिए वैधता और शक्ति एक-दूसरे के पूरक हैं। चूँकि राजनीति में सत्ता का प्रयोग आवश्यक है और शक्ति के बिना सत्ता अधूरी है, इसलिए राजनीति में शक्ति का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राजनीति में शक्ति के तीन प्रकार हैं- राजनीतिक शक्ति, आर्थिक शक्ति और विचारात्मक शक्ति। राजनीतिक शक्ति का अर्थ है- नीतियों एवं कानून का निर्माण करना, कानून को लागू करना, कर लगाना और वसूल करना, कानून का पालन न करने वालों को दंडित करना तथा शत्रुओं एवं आक्रमणकारियों को नष्ट करने से है। साधारणतः राजनीतिक शक्ति का उपयोग सरकार के तीन विभिन्न अंगों द्वारा किया जाता है, विधान मण्डल, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका, इन्हें शक्ति के औपचारिक अंग कहते हैं। परन्तु इनके अलावा कुछ

अनौपाचािरक अंग भी हैं, जैसे- विभिन्न दबाव समूह, राजनीतिक दल आदि। ये अपने ढंग से राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करते हैं।

आर्थिक शक्ति का अर्थ है, 'धन सम्पदा, उत्पादन के साधनों या अन्य दुलर्भ साधनों के स्वामित्व के बल पर निर्धन लोगों या निधर्न राष्ट्रों के जीवन की परिस्थितियों पर नियन्त्रण स्थापित करना।' आर्थिक शक्ति राजनीति पर व्यापक प्रभाव डालती है। उदार लोकतंत्र के अन्तर्गत बड़े-बड़े जमीदार, उद्योगपति और व्यापारिक घराने, सार्वजनिक नीतियों और निर्णयों को व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं और विकास की प्राथमिकताऐं निर्धारित करने में अपने हित को सर्वोपरि रखते हैं। बड़े-बड़े पूँजीपति अक्सर अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक दलों और चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों को भारी वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। ऐसी सहायता पाने वाले राजनीतिज्ञ ऊपरी तौर पर जनसाधारण के हितों की दुहाई देते हैं, परन्तु भीतर से वे अपने वित्त-दाताओं के हितों के लिए प्रतिबद्ध होते हैं।

विचारात्मक शक्ति, राजनीतिक शक्ति का एक गूढ़ आधार प्रस्तुत करती है। विचारात्मक शक्ति शासन की व्यवस्था को समाज की दृष्टि में उचित ठहराती है और इसीलिए उसे वैद्यता प्रदान करती है। समाज में शासक वर्ग सर्वोत्तम शासन प्रणाली के बारे में विचारों को बढ़ावा देते हैं, जिन्हें राजनीतिक विचारधारा कहते हैं। आज के युग में भिन्न-भिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्थाऐं प्रचलित हैं और उन्हें उचित ढहराने के लिए पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, लोकतंत्रीय समाजवाद आदि सर्वोत्तम शासन प्रणाली सिद्ध करने को तत्पर रहती हैं। ये सारे वाद विभिन्न विचारधाराओं के ही उदाहरण है।

9.6 प्रशासन

अंग्रेजी शब्द 'एडमिनिस्ट्रेसन' की रचना लैटिन के दो शब्दों से मिलकर हुई है। एड एवं मिनिस्टर, जिसका अर्थ है, प्रबन्ध करना। अंग्रेजी शब्दकोश के अनुसार प्रशासन शब्द का अर्थ है, कार्यों का प्रबन्ध। शासन करने से तात्पर्य है- प्रबन्ध करना, निर्देशन करना इत्यादि। प्रशासन शब्द को विभिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित रूप से परिभाषित किया है-

पॉल एच0 ऐपलेबी के शब्दों में, यदि प्रशासन न हो तो सरकार तो केवल वाद-विवाद का क्लब मात्र बन कर रह जायेगी, बर्शते इस स्थिति में वह जीवित रह सके।

ई0एन0 ग्लेडन के अनुसार, प्रशासन का अर्थ है लोगों की परवाह करना या देखभाल करना, कार्यो का प्रबन्ध करना, किसी जाने-बूझे कार्य की पूर्ति के लिए उठाया जाने वाल सुनिश्चित कदम।

नीग्रो के अनुसार- किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य तथा सामग्रियों का जो संगठन तथा उपयोग किया जाता है, उसे प्रशासन कहा जाता है।

एल0डी0 व्हाइट ने प्रशासन को कुछ इस प्रकार पारिभाषित किया है, किसी उद्देश्य अथवा लक्ष्य की पूर्ति के लिए बहुत से व्यक्तियों के निर्देशन, समन्वय तथा नियंत्रण को ही प्रशासन की कला कहते हैं।

पिफनर ने प्रशासन की परिभाषा इस प्रकार की है, वांछित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मानवीय तथा भौतिक साधनों का संगठन तथा निर्देशन ही प्रशासन है।

हरबर्ट साइमन के शब्दों में, प्रशासन सबसे अधिक व्यापक अर्थ में, समान लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वर्गों द्वारा मिलकर की जाने वाली क्रियाओं को प्रशासन कहा जा सकता है।

लूथर गलिक के अनुसार, प्रशासन का सम्बन्ध कार्यों के करवाने से निश्चित उद्देश्य की पूर्ति कराने से है।

उपरोक्त परिभाषाओं से विदित है कि प्रशासन सर्वमान्य लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सहयोग करने वाले वर्गों की क्रियाओं से है। दूसरे शब्दों में, प्रशासन में वे सभी क्रियाऐं आती हैं जो किसी उद्देश्य या ध्येय की प्राप्ति के लिए की जाती हैं। प्रशासन शब्द का प्रयोग संकीर्ण अर्थ में भी किया जाता है, जिसका अभिप्राय व्यवहार के उन सभी प्रतिरूपों से है जो विभिन्न प्रकार के सहयोगी समूहों में एक जैसे होते हैं और जो उन निश्चित उद्देश्यों पर आधारित नहीं होते, जिनके लिए वे परस्पर सहयोग करते हैं और न ही वे उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयोग की जा रही निश्चित पद्धतियों पर आधारित होते हैं।

9.7 राजनीति एवं प्रशासन में सम्बन्ध

प्रशासन को राजनीति से भिन्न रखने में आरम्भिक दौर के चिंतकों ने काफी भेद किया। उनकी दृष्टि में राजनीति, नीतियों का निर्माण करती है और प्रशासन का कार्य है कि वह यथासंभव कुशलता एवं मितव्ययिता से उन नीतियों को लागू करे। अतः क्रियाओं की दृष्टि से राजनीति और प्रशासन के क्षेत्र पृथक एवं भिन्न हैं। लोक प्रशासन के पितामह 'वुडरो विल्सन' ने अपने लेख 'स्टडी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन' में लिखा है कि प्रशासन का उचित क्षेत्र राजनीति से बाहर है। प्रशासनिक प्रश्न, राजनीतिक प्रश्न नहीं होते। यद्यपि प्रशासन के ध्येय राजनीति निश्चित करती है, किन्तु यह अनुमति नहीं दी जानी चाहिए कि वह प्रशासन के कार्यों में हस्तक्षेप करें। राजनीति राजमर्मज्ञ का विशेष क्षेत्र है और प्रशासन तकनीकी अधिकारी का विशेष क्षेत्र है।

कालान्तर में राजनीति एवं प्रशासन के भेद की काफी आलोचना हुई। प्रशासन के अराजनीतिक दृष्टिकोण पर इतना बल दिया गया कि इसने प्रशासन को अपरिवर्तनीय परिभाषा बना दिया जो अपने स्वतंत्र सिद्धान्तों का अनुसरण करता है। चाहे सरकार का स्वरूप कुछ भी क्यों न हो और जिन राजनीतिक मूल्यों के अधीन इसे काम करना है, वे कैसे ही क्यों न हों। यह दृष्टिकोण पूर्णतया गलत है, क्योंकि किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था उसकी प्रशासन व्यवस्था से न तो बाहर है और न असम्बन्धित, अपितु यही तो इसका ताना-बाना है। राजनीति और प्रशासन के बीच सम्बन्धों का विकास कालान्तर में हुआ। जान लॉक तथा मांटेस्क्यू के समय से लेकर आजतक विद्वान, प्रशासक व राजनीतिज्ञ इस विषय पर वाद-विवाद करते रहे हैं। अपने गणतंत्र के प्रारम्भिक समय से ही अमेरिका के राजनेता नीति-निर्माण तथा प्रशासनिक विषयों में भेद करते आये हैं। इससे राजनीति और प्रशासन में द्विभाजन का विकास हुआ। यद्यपि इस धारणा का द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अन्तिम तौर पर परित्याग कर दिया गया।

प्रशासन व राजनीति में भेद को लेकर काफी आलोचना हुई और लोक प्रशासन के विद्वानों ने इस भेद को अस्वीकृत कर दिया एवं एक सिरे से नकार दिया। तथ्य इस बात को सिद्ध करते हैं कि प्रशासन का नीति-निर्माण या निर्धारण के कार्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है और वह इसमें सक्रिय भाग लेता है। यह एक पूर्णतया अतार्किक तर्क है कि नीति निर्धारण का कार्य प्रशासनिक अधिकारी वर्ग की सहायता या परामर्श के बिना भी सम्पन्न किया जा सकता है। मन्त्रीगण अधिकांश विधेयक अपने-अपने उच्च प्रशासनिक अधिकारी के प्रेरणा पर ही पारित करते हैं। हस्तांतरित विधान की सम्पूर्ण धारणा राजनीति व प्रशासन के विभाजन को अर्थहीन एवं तथ्यहीन सिद्ध करती है। तथ्यों व आंकड़ों के अभाव में किसी भी सफल नीति का निर्धारण असम्भव है। ये तथ्य तथा आंकड़े प्रशासनिक अधिकारी ही प्रदत्त करते हैं। कानूनों व नीतियों की व्यवहारिकता तथा अव्यवहारिकता प्रशासनिक अधिकारियों के परामर्श के आधार पर ही तय की जाती है। कहने का तात्पर्य है कि पग-पग पर राजनीति एवम प्रशासन परस्पर मिश्रित प्रतीत होते हैं। हर पल प्रशासन राजनीति को प्रभावित करता है। ऐपलबी का कहना था, कि नीति का

निर्माण ही लोक प्रशासन है। उपरोक्त विचारों से यह सिद्ध हो गया कि राजनीति एवं प्रशासन अविभाज्य है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित तथ्य उसके साक्षी हैं।

राजनीतिक नेता को जटिल और तकनीकी विषयों पर नीति सम्बन्धी निर्णय करने के लिए ज्ञानपूर्ण परामर्श हेतु सर्वथा स्थायी कर्मचारियों पर आश्रित होना पड़ता है। पेचीदा स्थितियों में नीति-निर्माण तथा नीति परिपालन एक-दूसरे से सम्बधित होते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

प्रायः नीतियों की विभिन्न प्रकार से व्याख्या हो सकती है। ऐसी स्थिति में जो प्रशासक एक नीति का परिपालन करने के लिए उत्तरदायी होते हैं, उस नीति की व्याख्या करते हुए स्वेच्छा-निर्णय का प्रयोग भी करते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. राज्य के चार तत्व होते हैं। सत्य/असत्य
2. राजनीति का सम्बन्ध नीति-निर्माण से होता है। सत्य/असत्य
3. प्रशासन का सम्बन्ध नीतियों के क्रियान्वयन से होता है। सत्य/असत्य

9.8 सारांश

उपरोक्त लेख का अध्ययन करने के बाद आप राजनीति एवं प्रशासन शब्द से भली-भाँति परिचित हो चुके होंगे। कानूनों व नीतियों की व्यवहारिकता तथा अव्यवकारिकता, प्रशासनिक अधिकारियों के परामर्श के आधार पर ही तय की जाती है। कहने का तात्पर्य है कि राजनीति एवं प्रशासन मिश्रित प्रतीत होते हैं। इससे स्पष्ट है की नीति-निर्माण और नीति क्रियान्वयन एक दूसरे से पूरी तरह से पृथक नहीं किये जा सकते है। क्योंकि मंत्री विभागाध्यक्ष होते हैं, जो अपनी अनुभवहीनता और विशेषज्ञता के अभाव में काफी हद तक प्रशासनिक अधिकारियों के परामर्श पर निर्भर करते हैं।

9.9 शब्दावली

राज्य- एक निश्चित भू-भाग में रहने वाली जनसंख्या, जिसकी अपनी सरकार हो, जो अपने आंतरिक और वाह्य मामलों में पूरी तरह से स्वतन्त्र हो(सम्प्रभुता), आवंटन- व्यक्तियों या समूहों में वस्तुओं का विवरण।

9.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य

9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गाबा, ओ0पी0- राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा।
2. जैन पुखराज- राजनीति विज्ञान।

9.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. शर्मा एवं सडाना- लोक प्रशासन सिद्धान्त एवं व्यवहार।
2. एन0सी0ई0आर0टी0।

9.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. राजनीति को परिभाषित करते हुए उसकी विभिन्न धारणाओं की व्याख्या कीजिए।
2. राजनीतिक स्थिति की विशेषताओं पर एक निबन्ध लिखिए।
3. राजनीति एवं प्रशासन से आप क्या समझते हैं? दोनों के मध्य सम्बन्धों पर अपनी समीक्षा कीजिए।

इकाई- 10 केन्द्र-राज्य सम्बन्ध

इकाई की संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 केन्द्र-राज्य के विधायी सम्बन्ध
    10.2.1 संघ सूची
    10.2.2 राज्य सूची
    10.2.3 समवर्ती सूची
    10.2.4 राज्य सूची के विषय पर संसद की व्यवस्थापन शक्ति
10.3 केन्द्र-राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध
    10.3.1 राज्य सरकारों को निर्देश देने की संघ सरकार की शक्ति
    10.3.2 संघ सरकार द्वारा दिए गये निर्देशों का पालन करने में असफल रहने का प्रभाव
    10.3.3 संघ द्वारा राज्यों की शक्ति देने का अधिकार
    10.3.4 राज्य सरकारों द्वारा संघ सरकार को कार्य सौंपने की शक्ति
    10.3.5 राज्यपालों की नियुक्ति और बरखास्तगी
    10.3.6 राज्य सरकारों को बरखास्त करना
    10.3.7 मुख्यमन्त्रियों के विरूद्ध जाँच आयोग
    10.3.8 अखिल भारतीय सेवाओं पर नियन्त्रण
10.4 केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध
    10.4.1 संघ द्वारा आरोपित किन्तु राज्यों द्वारा संग्रहित तथा विनियोजित शुल्क
    10.4.2 संघ द्वारा उदग्रहीत तथा संग्रहीत परन्तु राज्यों को सौंपे जाने वाले कर
    10.4.3 संघ द्वारा उदग्रहीत तथा संग्रहीत किन्तु संघ और राज्यों के बीच वितरित कर
    10.4.4 संघ के प्रयोजन के लिए कर
    10.4.5 राज्यों के प्रायोजन के लिए कर
    10.4.6 राजस्व में सहायक अनुदान
    10.4.7 ऋण लेने सम्बन्धी उपबन्ध
10.5 भारत के नियंत्रक एवं महालेखा द्वारा नियन्त्रण
10.6 वित्तीय संकटकाल
10.7 सारांश
10.8 शब्दावली
10.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
10.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.12 निबंधात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

भारत एक परिसंघ है और उसका संविधान परिसंघीय है। परिसंघ में शासन के दो स्तर होते हैं। सभी शक्तियाँ इन स्तरों में विभाजित की जाती हैं। संघ, उन्तीस राज्यों और सात संघ राज्य क्षेत्रों, सभी संविधान से शक्तियाँ प्राप्त करते हैं। राज्यों को शक्ति संघ नहीं प्रदान करता है। सबकी शक्ति का एक ही स्रोत है और वह है, संविधान। संविधान में सभी शक्तियों का विभाजन संघ और राज्यों के मध्य किया गया है।

प्रत्येक परिसंघीय राज्य-व्यवस्था का आवश्यक लक्षण है कि शक्तियों का विभाजन और वितरण राष्ट्रीय सरकार और राज्य सरकारों के बीच किया जाता है। जिन शक्तियों को इस प्रकार विभाजित किया जाता है वे साधारणतया चार प्रकार की होती हैं- विधायी, कार्यपालिका, वित्तीय और न्यायिक। अतः संविधान के आधार पर संघ तथा राज्यों के सम्बन्धों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है- केन्द्र तथा राज्यों के विधायी सम्बन्ध, केन्द्र तथा राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्ध और केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विधायी सम्बन्धों की विवेचना कर सकेंगे।
- केन्द्र एवं राज्यों के बीच प्रशासनिक शक्तियों के विभाजन की विवेचना कर सकेंगे।
- केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय सम्बन्धों का वर्णन कर सकेंगे।
- केन्द्र व राज्य, सहयोग प्राप्त करने के विभिन्न उपायों की व्याख्या कर सकेंगे।

10.2 केन्द्र-राज्य विधायी सम्बन्ध

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 245 व 255 में केन्द्र-राज्य के मध्य विधायी सम्बन्धों के बारे में बताया गया है। संघ व राज्यों के मध्य विधायी सम्बन्धों का संचालन उन तीन सूचियों के आधार पर होता है, जिन्हें संघ सूची, राज्य सूची व समवर्ती सूची का नाम दिया गया है। इन सूचियों को सातवीं अनुसूची में रखा गया है।

10.2.1 संघ सूची

इस सूची में राष्ट्रीय महत्व के ऐसे विषयों को रखा गया है, जिसके सम्बन्ध में सम्पूर्ण देश में एक ही प्रकार की नीति का अनुकरण आवश्यक कहा जा सकता है। इस सूची के सभी विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार संघीय संसद को प्राप्त है। इस सूची में कुल 97 विषय है। जिनमें से कुछ प्रमुख हैं- रक्षा, वैदेशिक मामले, देशीकरण व नागरिकता, रेल, बन्दरगाह, हवाई मार्ग, डाक, तार, टेलीफोन व बेतार, मुद्रा निर्माण, बैंक, बीमा, खानें व खनिज आदि।

10.2.2 राज्य सूची

इस सूची में साधारणतया वो विषय रखे गये हैं, जो क्षेत्रीय महत्व के हैं। इस सूची के विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार सामन्यतया राज्यों की व्यवस्थापिकाओं को ही प्राप्त है। इस सूची में 66 विषय है, जिनमें से कुछ प्रमुख है- पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक व्यवस्था, कृषि, सिंचाई आदि।

10.2.3 समवर्ती सूची

इस सूची में सामान्यतया वो विषय रखे गये हैं, जिनका महत्व क्षेत्रीय व संघीय दोनों ही दृष्टियों से है। इस सूची के विषयों पर संघ तथा राज्य, दोनों को ही विधियां बनाने का अधिकार प्राप्त है। यदि समवर्ती सूची के विषय पर संघीय संसद तथा राज्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून परस्पर विरोधी हों तो सामान्यतयः संघ का कानून मान्य होगा। इस सूची में कुल 47 विषय हैं, जिनमें से कुछ प्रमख हैं- फौजदारी, निवारक विरोध, विवाह तथा विवाह विच्छेद, दत्तक और उत्तराधिकार, कारखाने, श्रमिक संघ, औद्योगिक विवाद, आर्थिक और समाजिक योजना और सामाजिक बीमा, पुर्नवास और पुरातत्व आदि।

10.2.3 अवशेष विषय

आस्ट्रेलिया, स्विटजरलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में अवशेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण का अधिकार इकाईयों को प्रदान किया गया है, लेकिन भारतीय संघ में कनाडा के संघ की भाँति अवशेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण की शक्ति संघीय संसद को प्रदान की गयी है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शक्तियों के बंटवारे में केन्द्र सरकार की तरफ झुकाव अधिक है।

10.2.4 राज्य सूची के विषय पर संसद की व्यवस्थापन शक्ति

सामान्यतया संविधान द्वारा किये गये शक्ति विभाजन का उल्लंघन किसी भी सत्ता द्वारा नहीं किया जा सकता। संसद द्वारा राज्य सूची के किसी विषय पर और किसी राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा संघ सूची के किसी विषय पर निर्मित कानून अवैध होगा। लेकिन संसद के द्वारा कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत राष्ट्रीय हित तथा राष्ट्रीय एकता हेतु राज्य सूची के विषयों पर भी कानून का निर्माण किया जा सकता है। संसद को इस प्रकार की शक्ति प्रदान करने वाले संविधान के कुछ प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं-

1. **राज्य सूची का विषय राष्ट्रीय महत्व का होने पर-** संविधान के अनुच्छेद- 249 के अनुसार यदि राज्य सभा अपने दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है कि राज्य सूची में उल्लिखित कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है, तो संसद को उस विषय पर विधि-निर्माण का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसकी मान्यता केवल एक वर्ष तक रहती है। राज्य सभा द्वारा पुनः प्रस्ताव स्वीकृत करने पर इसकी अवधि में एक वर्ष की वृद्धि और हो जाएगी।
2. **संकट कालीन घोषणा होने पर-** अनुच्छेद- 352 के अन्तर्गत संकटकालीन घोषणा की स्थिति में राज्य की समस्त विधायिनी शक्ति पर भारतीय संसद का अधिकार हो जाता है। अनुच्छेद- 250 इस घोषणा की समाप्ति के छः माह बाद तक संसद द्वारा निर्मित कानून पूर्ववत चलते रहेंगे।
3. **राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा इच्छा प्रकट करने पर-** अनुच्छेद- 252 के अनुसार यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल प्रस्ताव पास कर यह इच्छा व्यक्त करते हैं, कि राज्य सूची के किन्हीं विषयों पर संसद द्वारा कानून निर्माण किया जाय, तो उन राज्यों के लिए उन विषयों पर अधिनियम बनाने का अधिकार संसद को प्राप्त हो जाएगा। राज्यों के विधानमण्डल न तो इन्हें संशोधित कर सकते हैं और न ही इन्हें पूर्ण रूप से समाप्त कर सकते हैं।
4. **विदेशी राज्यों से हुई संधियों के पालन हेतु-** अनुच्छेद- 253 के अनुसार यदि संघ सरकार ने विदेशी राज्यों से किसी प्रकार की संधि की है, अथवा उनके सहयोग के आधार पर किसी नवीन योजना का निर्माण किया है, तो इस सन्धि के पालन हेतु संघ सरकार को सम्पूर्ण भारत के सीमा क्षेत्र के अन्तर्गत

पूर्णतया हस्तक्षेप और व्यवस्था करने का अधिकार होगा। इस प्रकार इस स्थिति में भी संसद को राज्य सूची के विषय पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

5. **राज्यों में संवैधानिक व्यवस्था भंग होने पर-** यदि किसी राज्य में संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जाए या संवैधानिक तंत्र विफल हो जाए तो संविधान के अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत राज्य में राष्ट्रपति शासन लगा दिया जाता है। इस स्थिति में राज्य की समस्त विधायी शक्तियाँ संसद द्वारा अथवा संसद के प्राधिकार के अधीन इस्तेमाल की जाती हैं। इस अधिकार के तहत संसद किसी भी सूची के किसी भी विषय पर विधायन बना सकता है।
6. **कुछ विषयों को प्रस्तावित करने और कुछ को अन्तिम स्वीकृत के लिए केन्द्र का अनुमोदन आवश्यक-** उपर्युक्त परिस्थितियों में तो संसद द्वारा राज्य सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भी राज्य व्यवस्थापिकाओं की राज्य सूची के विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति सीमित है। अनुच्छेद- 304 (ख) के अनुसार, कुछ विधेयक ऐसे होते हैं, जिनको राज्य विधान-मण्डल में प्रस्तावित किए जाने के पूर्व राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए वे विधेयक जिनके द्वारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से उस राज्य के अन्दर या उससे बाहर, वाणिज्य या मेल-जोल पर कोई प्रतिबन्ध लगाए जाने हों।

10.3 केन्द्र-राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध

किसी भी परिसंघीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्र व राज्यों की कार्यपालिकाऐं अलग-अलग होती हैं। जहाँ तक विधान बनाने का प्रश्न है, दोनों के क्षेत्र को तय करना कठिन नहीं है, क्योंकि संविधान के सातवीं अनुसूची में शक्तियों का स्पष्ट विभाजन है। प्रशासनिक मामलों में बहुत सी कठिनाइयां सामने आती हैं। कुछ मामले ऐसे होते हैं, जिन्हें स्थानीय स्तर पर अच्छी तरह निपटाया जा सकता है और कुछ मामले ऐसे होते हैं, जिनके लिए बड़े संगठन की आवश्यकता होती है, जिससे क्षमता और मितव्ययता सम्भव हो सके। इसके अतिरिक्त परिसंघ की विभिन्न इकाइयों के बीच समन्वय स्थापित करना तथा उनके झगड़े का निपटारा करना भी आवश्यक हो जाता है। इन सभी समस्याओं को ध्यान में रखकर संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद- 256 से 263 तक कुछ उपबन्ध किए हैं।

10.3.1 राज्य सरकारों को निर्देश देने की संघ सरकार की शक्ति

संविधान के अनुच्छेद- 256 के अनुसार, राज्य सरकार का यह कर्तव्य है कि संसद द्वारा पारित विधि को मान्यता दे। इस प्रावधान का यह परिणाम निकलता है कि प्रत्येक राज्य की प्रशासनिक शक्ति को इस प्रकार प्रयोग में लाना होता है कि वह संघ सरकार की प्रशासनिक शक्ति को प्रतिबंधित ना करे। संघ सरकार आवश्यकतानुसार इस प्रकार के निर्देश भी राज्य सरकार को दे सकती है। इसके अतिरिक्त संघ सरकार राज्यों को निम्नलिखित विषयों पर निर्देश दे सकती है-

1. राष्ट्रीय तथा सैनिक महत्व के यातायात तथा सूचना के साधनों का निर्माण और उनकी देखभाल करना।
2. राज्य में विद्यमान रेलमार्ग की सुरक्षा करना। जब कभी किसी यातायात के साधन के निर्माण अथवा देखभाल करने में अथवा रेलमार्ग की सुरक्षा करने में राज्य सरकार को अतिरिक्त व्यय करना पड़ जाता है, तो भारत सरकार उसका भुगतान राज्य को कर देती है और यदि अतिरिक्त व्यय की राशि के लिए कोई मतभेद हो जाता है तो भारत को मुख्य न्यायाधीश के द्वारा नियुक्त मध्यस्थ इसका निर्णय करता है; अनुच्छेद- 257

3. परिगणित जनजातियों के हित के लिए बनाई गई योजनाओं को लागू करना; अनुच्छेद- 339

10.3.2 संघ सरकार द्वारा दिए गये निर्देशों का पालन करने में असफल रहने का प्रभाव

संघ सरकार को संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों के अन्तर्गत समान्य तथा असामान्य अवस्थाओं में जो निर्देश देने की शक्ति दी गयी है, उसके परिणामस्वरूप यह भी बात सामने आती है कि यदि संविधान के किसी भी प्रावधान के अन्तर्गत भारत सरकार द्वारा दिए गये निर्देशों का पालन राज्य सरकार नहीं करती, तो राष्ट्रपति यह मान सकता है कि राज्य सरकार संविधान के अनुच्छेद- 365 के अन्तर्गत किये गये प्रावधान के अनुसार कार्य करने के समर्थ नहीं है। जैसे ही यह घोषणा की जायेगी, राज्य सरकार अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत बरखास्त कर दी जायेगी। इस आधार पर राज्य की विधान सभा या तो निलम्बित की जा सकती है, या भंग की जा सकती है।

10.3.3 संघ द्वारा राज्यों की शक्ति देने का अधिकार

भारतीय संविधान की मूलभूत विशेषता यह है कि यह सहकारी संघ प्रणाली पर आधारित है। भारत सरकार के 1935 के विधान के समान यह संघ को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह प्रतिबन्ध सहित अथवा प्रतिबन्ध रहित कुछ कार्य राज्य सरकारों को सौंप दें, अथवा राज्य सरकारों को स्वीकृति से इसके अधिकारियों को सौंप दे; अनुच्दछेद- 258।

इसके अतिरिक्त, कुछ मामलों में तो राज्य सरकारों की अनुमति के बिना भी लोक सभा कानूनन अधिकार दे सकती है और राज्य के अधिकारियों को कार्य सौंप सकती है। जो भी ऐसे मामलों में यदि राज्य सरकार को कुछ अतिरिक्त व्यय करना पड़ता है, तो उसको भारत सरकार अदा करती है। यदि होने वाले अतिरिक्त व्यय के विषय में भारत सरकार और राज्य सरकारों में मतभेद हो जाता है तो उसका निर्णय भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त मध्यस्थ के द्वारा किया जाता है। इस अनुच्छेद के अनुसार जनगणना करवाना, चुनाव के लिए मत-सूची तैयार करवाना और चुनाव करवाना ये तीनों काम राज्य सरकारों को सौंपे हुए हैं।

10.3.4 राज्य सरकारों द्वारा संघ सरकार को कार्य सौंपने की शक्ति

मूलतः संविधान में कोई ऐसा प्रावधान नहीं है, जिसके अनुसार एक राज्य सरकार कुछ कार्य भारत सरकार के किसी अंग को सौंप सके। सम्भवतः संविधान निर्माताओं ने यह कभी नहीं सोचा था कि कभी ऐसी भी घटना हो सकती है। केन्द्र सरकार ने जब उड़ीसा सरकार की ओर से हीराकुण्ड बॉध का निर्माण कार्य प्रारम्भ किया और यह निर्णय किया कि इसकी लागत राज्य सरकार के खातों से खर्च होगी तो लेखा नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक(ऑडिटर जनरल) ने आपत्ति की। उसके पश्चात 1956 में सातवां संविधान संशोधन पारित किया गया और संविधान में अनुच्छेद- 258 ए, जोड़ दिया गया। इस अनुच्छेद के अनुसार राज्य के राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया कि वह सप्रतिबन्ध अथवा अप्रतिबन्ध रूप से कुछ कार्य सौंप दे, जिससे राज्य की प्रशासनिक शक्ति संघीय सरकार के अधिकारियों के पास पहुँच जाये। परन्तु यह सब भी भारत सरकार की अनुमति से ही हो सकता है।

10.3.5 राज्यपालों की नियुक्ति और बर्खास्तगी

राज्यपाल किसी भी राज्य के संवैधानिक प्रमुख होते हैं। राष्ट्रपति इनकी नियुक्ति बरखास्तगी अथवा स्थानान्तरण करता है। वस्तुतः वे शुद्ध रूप से संघीय सरकार की दयाभाव पर निर्भर हैं। इसलिए अनेक बार उन्हें केन्द्रीय सरकार के दबाव के कारण मंत्री-मण्डल को नियुक्त करने तथा पदच्युत करने और विधान सभा की बैठक बुलाने, स्थगित करने तथा भंग करने का कर्तव्य निबाहना पड़ता है। राष्ट्रपति के विचारार्थ विधेयकों को निश्चित करने और राष्ट्रपति

शासन लागू करने के लिए सिफारिश करने के अधिकारों का प्रयोग केन्द्र में सत्ता दल के हितों को ध्यान में रखते हुए करना पड़ता है। इस प्रकार बहुत हद तक केन्द्र, राज्यों की स्वायत्ता को राज्यपालों के द्वारा नष्ट कर देता है।

10.3.6 राज्य सरकारों को बरखास्त करना

संघीय सरकार को अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू करने की अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्ति दी गयी है। यद्यपि इसमें यह अवश्य है कि यदि राष्ट्रपति सन्तुष्ट हो जाता है कि, परिस्थिति ऐसी बन गयी है, जिसमें राज्य की सरकार, संविधान में दिये गये प्रावधान के अनुसार कार्य नहीं कर रही है। इस अनुच्छेद का केन्द्र में शासन करने वाली पार्टी ने बार-बार प्रयोग पक्षपातपूर्ण उद्देश्यों के लिए किया और दूसरी और राज्यों की स्वायत्ता को नष्ट करने के लिए किया। जो भी राज्य सरकार अपने अनूकूल न दिखाई दी, उसे ही पदच्युत कर दिया गया तथा विधान सभाओं को या तो निलम्बित कर दिया गया अथवा केन्द्र में शासन करने वाली पार्टी के हितों को ध्यान में रखते हुए उसे भंग कर दिया गया। उस अनुच्छेद ने वस्तुतः राज्य सरकारों को प्रशासन की दृष्टि से सर्वथा केन्द्र के अधीन बना दिया।

10.3.7 मुख्यमन्त्रियों के विरूद्ध जाँच आयोग

एक दूसरा उपाय जिसके द्वारा संघ सरकार राज्य सरकारों पर पूर्ण प्रशासनिक नियन्त्रण रखती है, वह है केन्द्र सरकार द्वारा मुख्यमंत्रियों के भूल-चूक या अच्छे-बुरे कार्यों के लिए उनके विरूद्ध जाँच-आयोग बैठाना। इस प्रकार का जाँच आयोग सबसे पहले पंजाब के मुख्यमन्त्री प्रताप सिंह कैरों के विरूद्ध संघ सरकार ने 1963 में ‘दास आयोग’ के नाम से बैठाया था। इसके उपरान्त इस प्रकार के जाँच आयोग बैठाए गये। जैसे 1972 में पंजाब में प्रकाश सिंह बादल के विरूद्ध, 1976 में तमिलनाडु में करूणानिधि के विरूद्ध सरकारिया आयोग, आन्ध्र में वेंगल राव के विरूद्ध विया दलाल आयोग, कर्नाटक में देवराज उर्स के और हरियाण में बंसी लाल के विरूद्ध 1978 में और त्रिपुरा के मुख्यमन्त्री एस0एस0 सेन गुप्त के विरूद्ध 1979 में बर्मन आयोग। 1981 में संघ सरकार ने तमिलनाडु और केरल में स्पिरिट घोटाले के विषय में जाँच करने लिए आयोग की नियुक्ति की थी।

10.3.8 अखिल भारतीय सेवाओं पर नियन्त्रण

संविधान में राज्यों की सेवाओं और केन्द्र सेवाओं का प्रावधान है। तो भी कुछ सेवाऐं ऐसी हैं जो अखिल भारतीय हैं। जैसे- भारतीय प्रशासनिक सेवा, इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस और भारतीय पुलिस सेवा, इण्डियन पुलिस सर्विस, केन्द्र सरकार इसके अतिरिक्त भी अखिल भारतीय सेवाओं का निर्माण कर सकती है। यदि राज्य सभा उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके इस प्रकार की अखिल सेवा के बनाने की सिफारिश करें तो केन्द्र की अनुमति के बिना उन पर कोई भी अनुशासनिक कार्यवाही नहीं की जा सकती।

10.4 केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्ध

कोई भी सरकार बगैर धन के सुचारू रूप से नहीं चल सकती है। एक परिसंघीय संविधान के अन्तर्गत राज्यों की स्वतंत्रता आवश्यक होती है। यह स्वतंत्रता तभी रह सकती है, जब राज्यों के लिए पर्याप्त वित्तीय व्यवस्था हो। प्रायः सभी मुख्य परिसंघों में वित्तीय व्यवस्था की, राज्यों पर नियंत्रण रखने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। इसलिए भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 263 से 293 तक वित्तीय सम्बन्धों पर विस्तृत चर्चा की गयी है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 265 में यह व्यवस्था है कि विधि के प्राधिकार के बिना कोई कर न लगाया जाएगा और न वसूल किया जाएगा। अनुच्छेद- 265 के उपबन्ध प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के करो पर लागू होते

हैं। अनुच्छेद- 266 के अनुसार भारत सरकार द्वारा प्राप्त सभी राजस्व, उधार लिया गया धन तथा उद्योग के प्रतिदान में प्राप्त सभी धनों की एक संचित निधि बनेगी, जो भारत की संचित निधि; के नाम से ज्ञात होगी और इसी प्रकार राज्य सरकार द्वारा प्राप्त सभी राजस्व, उधार लिया धन तथा उधार के प्रतिदान में प्राप्त धनों की एक संचित निधि बनेगी, जो राज्य की संचित निधि; के नाम से ज्ञात होगी। भारत सरकार या राज्य सरकार द्वारा प्राप्त अन्य सभी सार्वजनिक धन लोक लेखा में जमा की जाएगी। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद- 267 में भारत व राज्यों के लिये आकस्मिक निधि की व्यवस्था है, जो अपूर्व दृष्ट, व्यय के लिए क्रमश: राष्ट्रपति व राज्यपालों के हाथ में रखी जाएगी।

भारतीय संघ में संघ और राज्यों के बीच राजस्व वितरण की निम्नलिखित पद्धतियां अपनायी गयी हैं-

10.4.1 संघ द्वारा आरोपित किन्तु राज्यों द्वारा संगहित तथा विनियोजित शुल्क

अनुच्छेद- 268 में यह उपलब्ध है कि ऐसे मुद्रा शुल्क जो औषधीय और प्रसाधन पर, ऐसे उत्पादन शुल्क जो संघ सूची में वर्णित है, भारत सरकार द्वारा आरोपित किये जायेंगे। परन्तु संघ-राज्य क्षेत्र के भीतर उदग्रहीत (levied) किए जाने वाले शुल्क, भारत सरकार द्वारा और राज्यों के बीच उदग्रहीत शुल्क, राज्य सरकारों द्वारा संग्रहीत किये जाऐंगे। जो शुल्क राज्यों के भीतर उदग्रहीत किए जाऐंगे वे भारत की संचित निधि में जमा न होकर उस राज्य की संचित निधि में जमा किए जाऐंगे।

10.4.2 संघ द्वारा उद्ग्रहीत तथा संग्रहीत परन्तु राज्यों को सौंपे जाने वाले कर

कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर कर कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, रेल, समुद्र तथा वायु द्वारा ले जाने वाले माल तथा यात्रियों पर सीमान्त कर, रेल भाड़ों तथा वस्तु भाड़ों पर कर, शेयर बाजार तथा सट्टा बाजार के आदान-प्रदान पर मुद्राक शुल्क के अतिरिक्त कर, समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें प्रकाशित किए गये विज्ञापनों पर और समाचार पत्रों से अन्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा वाणिज्य से माल के क्रय-विक्रय पर कर।

10.4.3 संघ द्वारा उदग्रहीत तथा संग्रहीत किन्तु, संघ और राज्यों के बीच वितरित कर

कुछ कर संघ द्वारा आरोपित तथा संग्रहीत किए जाते हैं, किन्तु उनका विभाजन संघ तथा राज्यों के बीच होता है। आयकर का विभाजन संघीय भू-भागों के लिए निर्धारित निधि तथा संघीय खर्च को काटकर शेष राशि में से किया जाता है। आयकर के अतिरिक्त दवा तथा शौक श्रृंगार सम्बन्धी वस्तुवों के अतिरिक्त, अन्य चीजों पर लगाया गया उत्पान शुल्क इसके अन्तर्गत आता है।

10.4.4 संघ के प्रयोजन के लिए कर

अनुच्छेद- 271 में यह उपबन्ध है कि संसद संविधान के अनुच्छेद- 269 और 270 में निर्दिष्ट शुल्कों या करों के अधिभार द्वारा वृद्धि कर सकती है। अधिभार से हुई सारी आय भारत की संचित निधि का भाग होगी। संघ के प्रमुख राजस्व स्रोत इस प्रकार हैं- निगम कर, सीमा शुल्क, निर्यात शुल्क, कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, विदेशी ऋण, रिजर्व बैंक, शेयर बाजार आदि।

10.4.5 राज्यों के प्रायोजन के लिए कर

अनुच्छेद- 276 के अन्तर्गत राज्यों को वृत्तियों, व्यापारों, अजीविकाओं और नौकरियों पर कर लगाने का प्राधिकार दिया गया है। इससे प्राप्त आय राज्य या उसकी नगर पालिकाओं, जिला वार्डों या स्थानीय बोर्डों के हितों में प्रयोग की जाएगी। राज्यों के मुख्य राजस्व स्रोत हैं- प्रति व्यक्ति कर, कृषि-भूमि पर कर, सम्पदा शुल्क, भूमि

और भवनों पर कर, पशुओं और नौकाओं पर कर, बिजली के उपयोग तथा विक्रय पर कर, वाहनों पर चुंगी कर आदि।

10.4.6 राजस्व में सहायक अनुदान

अनुच्छेद- 273 के तहत पटसन व उससे बनी वस्तुओं के निर्यात से जो शुल्क प्राप्त होता है, उसमें से कुछ भाग अनुदान पैदा करने वाले राज्यों- बंगाल, उड़ीसा, बिहार व असम को दे दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद- 275 में उन राज्यों के किए अनुदान की व्यवस्था है, जिनके बारे में संसद यह निर्धारित करे कि उन्हें सहायता की आवश्यकता है।

10.4.7 ऋण लेने सम्बन्धी उपबन्ध

संविधान, केन्द्र को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह अपनी सम्पत्ति निधि की साख पर देशवासियों व विदेशी सरकारों से ऋृण ले सके। ऋृण लेने का अधिकार राज्यों को भी प्राप्त है, परन्तु वे विदेशों से उधान नहीं ले सकते। यदि राज्य सरकार पर केन्द्र सरकार का कोई कर्ज बाकी है, तो राज्य सरकार अन्य कहीं से कर्ज केन्द्र सरकार की अनुमति से ही ले सकती है।

10.5 भारत के नियंत्रक एवं महालेखा द्वारा नियन्त्रण

भारत का नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक भारत सरकार तथा राज्य सरकारों के हिसाब का लेखा रखने का ढंग एवं उनकी निष्पक्ष रूप से जाँच करता है। नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक के माध्यम से ही भारतीय संसद राज्यों की आय पर अपना नियंत्रण रखती है।

10.6 वित्तीय संकटकाल

वित्तीय संकटकाल की स्थिति में राज्यों की आय सीमा, राज्य सूची में चर्चित करों तक ही सीमित रहती है। वित्तीय संकट के प्रवर्तन काल में राष्ट्रपति को संविधान के उन सभी प्रावधानों को स्थगित करने का अधिकार है, जो सहायता अनुदान अथवा संघ के करों की आय में भाग बंटाने से सम्बन्धित हो। केन्द्रीय सरकार वित्तीय मामलों में राज्यों को निर्देश भी दे सकती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 276 के अन्तर्गत राज्यों को वृत्तियों, व्यापारों, अजीविकाओं और नौकरियों पर कर लगाने का प्राधिकार दिया गया है। सत्य/असत्य
2. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 275 में उन राज्यों के किए अनुदान की व्यवस्था है, जिनके बारे में संसद यह निर्धारित करे कि उन्हें सहायता की आवश्यकता है। सत्य/असत्य
3. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 265 में यह व्यवस्था है कि विधि के प्राधिकार के बिना कोई कर न लगाया जाएगा और न वसूल किया जाएगा। सत्य/असत्य
4. संघीय सरकार को भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू करने की अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्ति दी गयी है। सत्य/असत्य

10.7 सारांश

जिस प्रकार से एक गाड़ी को चलाने के लिए उसके दोनों पहियों, के मध्य समन्वय का होना आवश्यक है, उसी प्रकार से केन्द्र तथा राज्यों के मध्य परस्पर समन्वय ही देश को विकास के क्षेत्र में ऊचॉइयों पर ले जा सकता है।

स्वतन्त्रता के पश्चात आरम्भिक वर्षों में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य परस्पर सहयोग की भावना थी, किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया दोनों के मध्य सम्बन्धों में दरारें दिखनी लगी। इसका एक कारण तो यह था कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात सभी में अपने देश की सरकार के प्रति चरम सीमा पर उत्साह था, तथा दूसरा कारण यह था कि ज्यादातर राज्यों में कांग्रेस की सरकार थी तथा केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों के मध्य बड़े भाई तथा छोटे भाई जैसा रिश्ता था। अतः तनाव न के बराबर था। तनाव उत्पन्न हाने का मुख्य कारण राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारों का उदय होना था। धीरे-धीरे समय बीतने के साथ-साथ विभिन्न मुद्दों पर केन्द्र तथा राज्यों के मध्य तनाव बढ़ाने के मुख्य कारणों में राज्यपाल की भूमिका भी मुख्य रही है, क्योंकि राज्यपाल सरकारों में संवैधानिक प्रमुख हाने के स्थान पर केन्द्रीय एजेन्ट के रूप में ज्यादा कार्य करने लगे हैं। तनाव का एक और मुख्य कारण अखिल भारतीय सेवाऐं हैं, जिसके कि सदस्यों को नियन्त्रित करने वाली केन्द्र सरकार होती है, जबकि वो कार्य राज्य सरकारों में करते हैं और बगैर केन्द्र की अनुमति के उनके खिलाफ कड़ी कार्यवाही नहीं कर सकती है। तनाव का एक अन्य कारण वित्त भी है। कुछ सरकारें केन्द्र से मिले धन को राज्य के विकास में न लगाकर अपने राजनीतिक जनाधार को बढ़ाने में लगी रहती हैं, जिससे कि केन्द्र द्वारा अक्सर ही विरोध प्रकट किया जाता है। इसके अतिरिक्त केन्द्र-राज्यों के मध्य सम्बन्ध केन्द्र में प्रधानमन्त्री की स्थिति के ऊपर भी निर्भर करता है। 1990 के पश्चात केन्द्र में ज्यादातर सरकारें कमजोर रही हैं, उसका सबसे बड़ा कारण सांझा सरकार का होना रहा है। केन्द्र में सरकार राज्यों के क्षेत्रीय दलों के सहयोग से बनायी जा रही हैं, जिसकी वजह से समर्थन देने वाली पार्टी से केन्द्र सरकार ब्लैक-मेल होती रहती है। इसके उदाहरण हमको दिन-प्रतिदिन देखने को मिलते रहते हैं। यदि हमको वास्तव में अपने देश को तरक्की की राह पर ले जाना है तो केन्द्र सरकारों का राज्यों सरकारों के मध्य विवाद रहित तथा स्वार्थ रहित सम्बन्ध होने चाहिये।

संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य सम्बन्धों को स्पष्ट रूप से प्रशासनिक, विधायी तथा वित्तीय क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से विभाजित किया गया है और यह विभाजन संघ सूची, राज्य सूची, समवर्ती सूची के माध्यम से किया गया है। इसके अतिरिक्त विशेष परिस्थितियों में भी केन्द्र तथा राज्यों के मध्य सम्बन्धों को बताया गया है। स्पष्ट विभाजन के बावजूद भी विभिन्न क्षेत्रों में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य कठिनाइयॉं आती हैं। यह कठिनाइयॉं वहाँ अवश्य उत्पन्न होती हैं, जहाँ केन्द्र तथा राज्यों में अलग-अलग पार्टी की सरकारें होती हैं। देश की तरक्की के लिए केन्द्र तथा राज्यों के मध्य मधुर सम्बन्ध का होना अत्यन्त आवश्यक है।

10.8 शब्दावली

अपूर्व दृष्ट- पहले से ना सोचा हुआ।

उदग्रहित- जो वसूल हो सके।

10.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य

10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारत का संविधान, ब्रज किशोर शर्मा, 2008, ए प्रेटिंस हाल ऑफ इंडिया प्राइवेट लि0, नई दिल्ली।
2. भारत में लोक प्रशासन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया, 2002, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
3. भारतीय प्रशासन, प्रो0 मधू सूदन त्रिपाठी, 2008, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

4. इंडियन एडमिनिस्ट्रेसन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया और डॉ0 कुलदीप फाड़िया, 2007, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।

10.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. इंडियन एडमिनिस्ट्रेसन, अवस्थी एवं अवस्थी, 2009, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. इंडियन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेसन, रमेश अरोड़ा, रजनी गोयल, 2001, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. भारत का संविधान, डॉ0 जी0एस0 पाण्डेय 2001, यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर।

10.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विधायी सम्बन्धों की विवेचना कीजिये।
2. केन्द्र तथा राज्यों के मध्य प्रशासनिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालिये।
3. केन्द्र तथा राज्यों में मध्य वित्तीय सम्बन्धों की व्याख्या कीजिये।
4. केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विवाद के क्षेत्रों का वर्णन कीजिये।

इकाई- 11 राज्यपाल, मुख्यमंत्री, मंत्री-परिषद

इकाई की संरचना

11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्देश्य

11.2 राज्यपाल

11.2.1 राज्यपाल की नियुक्ति

11.2.2 नियुक्ति के लिए अर्हताऐं

11.2.3 कार्यकाल एवं पदमुक्ति

11.2.4 वेतन एवं भत्ते

11.2.5 शक्तियाँ और कार्य

11.2.5.1 प्रशासन सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

11.2.5.2 विधायन सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

11.2.5.3 वित्त सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

11.2.5.4 न्याय सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

11.2.5.5 विवेक सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

11.2.6 राज्यपाल की स्थिति

11.3 मुख्यमंत्री

11.3.1 मुख्यमंत्री की नियुक्ति

11.3.2 मुख्यमंत्री के कार्य एवं शक्तियाँ

11.3.3 मुख्यमंत्री और मंत्री-परिषद

11.3.4 मुख्यमंत्री और विधानमण्डल

11.3.5 मुख्यमंत्री और राज्यपाल

11.3.6 मुख्यमंत्री की वास्तविक स्थिति

11.4 मंत्री-परिषद

11.4.1 संगठन

11.4.2 शक्तियाँ, कार्य और उत्तरदायित्व

11.5 सारांश

11.6 शब्दावली

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

11.10 निबंधात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

भारत के संविधान द्वारा अपनायी गयी संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रशासन के तीन स्तर हैं- केन्द्रीय प्रशासन, राज्य प्रशासन एवं संघीय प्रशासन। प्रशासन के इन तीनों स्तरों में राज्य वह महत्वपूर्ण कड़ी है, जो स्थानीय शासन को केन्द्रीय प्रशासन से जोड़ने का कार्य करते हैं। भारत के राज्यों में भी संघ की व्यवस्था का ही एक लघु रूप देखने को मिलता है। जिस प्रकार केन्द्र में ससंद होती है, ठीक उसी प्रकार राज्य में विधानमण्डल होता है।

विधानमण्डल में दो सदन होते हैं, पहला- उच्च सदन जो विधान परिषद कहलाता है और दूसरा- निम्न सदन जो विधान सभा कहलाता है। अधिकतर भारतीय राज्यों में निम्न सदन विधान सभा है। विधान सभा का नेता मुख्यमंत्री कहलाता है और वह राज्य का वास्तविक प्रधान होता है। मुख्यमंत्री, मंत्री-परिषद के सहयोग से राज्य का प्रशासन चलाते हैं। अर्थात् राज्य की कार्यकारी निकाय मंत्री-परिषद होती है। मंत्री-परिषद में विधान सभा तथा विधान परिषद के सदस्य ही हो सकते हैं। राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रधान राज्यपाल होता है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में ही निहित होती है और राज्य के सभी कार्य राज्यपाल के नाम से किये गये जाते हैं। इस प्रकार एक राज्य के मुख्य स्तम्भों में राज्यपाल, मुख्यमंत्री एवं मंत्री-परिषद होते हैं।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राज्यपाल के कार्यों एवं उसकी स्थिति की विवेचना कर सकेंगे।
- मुख्यमंत्री की नियुक्ति एवं वास्तविक कार्यपालक के रूप में उसके कार्यों की व्याख्या कर सकेंगे।
- मंत्री-परिषद के गठन एवं कार्यों का वर्णन कर सकेंगे।

11.2 राज्यपाल

हमारे संविधान में परिसंघीय शासन व्यवस्था है, जिसमें कि केन्द्र और राज्यों के मध्य शक्तियों का बंटवारा किया गया है, अर्थात भारत के राज्यों का प्रशासन केन्द्रीय प्रशासन का प्रतिरूप है। जिस प्रकार से केन्द्र में समस्त कार्य राष्ट्रपति के नाम से किये जाते हैं, उसी प्रकार से राज्यों में कार्यपालिका के समस्त कार्य राज्यपाल के नाम से किये जाते हैं। वस्तुतः राज्यपाल इन कार्यों को मंत्री-परिषद के परामर्श से करता है तथा मंत्री-परिषद का मुखिया राज्य का मुख्यमंत्री होता है। अतः राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान होता है, जबकि मंत्री-परिषद राज्य की कार्यपालिका की वास्तविक प्रधान होती है।

भारत में राज्यपाल का चयन अमेरिका की भाँति जनता द्वारा निर्वाचन पद्धति से नहीं होता है, बल्कि हमारे यहाँ राज्यपाल, राष्ट्रपति द्वारा नामजद व्यक्ति होता है। ब्रिटिश शासनकाल में प्रान्तीय सरकार चलाने का कार्य गवर्नर करता था। अतः राज्यपाल के लिए गवर्नर शब्द प्रयुक्त होता है। वर्तमान में राज्यपाल के पास ब्रिटिश शासनकाल की भाँति असीमित शक्तियाँ नहीं हैं, बल्कि अब राज्यपाल का पद राष्ट्रपति की भाँति केवल नाम मात्र के संवैधानिक प्रमुख का है।

11.2.1 राज्यपाल की नियुक्ति

राज्यपाल पद के सम्बन्ध में संविधान सभा के समक्ष चार विकल्पों पर चर्चा हुई थी-

1. राज्यपाल का सर्वसाधारण जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनाव किया जाना चाहिये,

2. राज्य विधानमण्डल के निम्न सदन या दोनों सदनों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर राज्यपाल का निर्वाचन किया जाय।
3. निम्न सदन; राज्य की विधान सभा द्वारा चार नामों का सुझाव दिया जाय, जिनमें से किसी एक को राष्ट्रपति के द्वारा राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया जाय।
4. राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति की जाय।

इन चारों विकल्पों पर संविधान सभा में बहस के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला गया कि चौथा विकल्प, अर्थात राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर व मुहर सहित आदेशानुसार राज्यपाल को पॉच वर्षों के लिए नियुक्त कर सकता है।

11.2.2 नियुक्ति के लिए अर्हताऐं

संविधान के अनुच्छेद- 157 के अनुसार, किसी भी व्यक्ति को राज्यपाल के रूप में नियुक्ति होने से पूर्व निम्न अर्हताऐं रखनी चाहिये-

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. 35 वर्ष की आयु पूरी का चुका हो
3. संसद या राज्य विधान मण्डलों के किसी सदन का सदस्य न हो।
4. वह किसी लाभ देने वाले सरकारी पद पर कार्यरत न हो।

यदि कोई व्यक्ति राज्यपाल पद पर नियुक्त किया जाता है तथा वह किसी विधानमण्डल का सदस्य है या लोक सेवा में अन्यत्र कार्यरत है तो उसकी राज्यपाल पद पर नियुक्ति होने से पूर्व पद या सदस्यता समाप्त मानी जाती है। संविधान में राज्यपाल हेतु किसी प्रकार की शैक्षणिक या व्यावसायिक योग्यताऐं निर्धारित नहीं की गयी है, किन्तु इस पद की नियुक्ति का निर्णय केन्द्रीय मंत्री-मण्डल की इच्छा पर निर्भर करता है। सामान्यतः राजनीतिक दलों के नेताओं, मंत्रियों, सांसदों, विधायकों, विशिष्ट योग्यता प्राप्त गैर-राजनीतिक व्यक्तियों तथा शिक्षाविद् इत्यादि को इस पद पर नियुक्त किया जाता रहा है। संविधान के लागू होने के पश्चात राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में एक परम्परा का पालन अवश्य किया जाता रहा है, वह यह है कि भारत में किसी भी राज्य में ऐसे व्यक्ति को राज्यपाल नहीं बनाया जाता है जो उसी राज्य का रहने वाला हो, कुछ एक अपवादों को छोड़कर।

11.2.3 कार्यकाल एवं पदमुक्ति

संविधान के अनुच्छेद-156 के अनुसार राज्यपाल, राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपना पद धारण करेगा। सामान्यतया यह कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है। वह अपने पद ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष बीत जाने के बाद भी तब तक पद धारण किए रह सकता है, जब तक कि उसका उत्तराधिकारी पद ग्रहण न कर ले। राष्ट्रपति कभी भी राज्यपाल को पदमुक्त कर सकता है। लेकिन राज्यपाल को हटाने के आधार तथा प्रक्रिया का संविधान में कहीं कोई उल्लेख नहीं है। व्यावहारिक स्थिति यह है कि केन्द्र एवं राज्य में विपरीत राजनीतिक दलों की सरकारें गठित होने पर राज्यपाल हटाये जाते रहे हैं

11.2.4 वेतन एवं भत्ते

राज्यपाल को संसद द्वारा निर्मित विधि द्वारा निर्धारित उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का अधिकार होता है। राज्य; उपलब्धियां, भत्ते और विशेषाधिकार अधिनियम-1982 द्वारा राज्यपाल की उपलब्धियां 5500 रू0 प्रतिमाह निर्धारित की गयी थी। वर्तमान में यह 1 लाख 10 हजार रू0 प्रतिमाह है। इसके अतिरिक्त वह किराया

रहित आवास का भी हकदार होता है। राज्यपाल की उपलब्धियां और भत्ते उसके पद की अवधि में नहीं घटाये जा सकते हैं।

11.2.5 शक्तियाँ और कार्य

सुगमता से अध्ययन करने के लिए राज्यपाल की शक्तियों और कार्यों को निम्न शीर्षकों के अधीन रखा जा सकता है-

11.2.5.1 प्रशासन सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

सबसे पहले हम राज्यपाल की प्रशासकीय शक्तियों का अध्ययन करेंगे जो इस प्रकार हैं-

1. वह राज्य सरकार का प्रशासकीय अध्यक्ष है। राज्य की सारी कार्यपालिका सत्ता उसी के पास है, जिसका प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीन अधिकारियों द्वारा करता है। राज्य के समस्त प्रशासकीय कार्य उसी के नाम से किए जाते हैं। वह सरकार की कार्यवाही चलाने तथा अपने मंत्रियों के बीच काम बांटने के बारे में नियम बनाता है।
2. वह मुख्यमंत्री को नियुक्ति करता है तथा उसकी राज्य से अन्य मंत्रियों को नियुक्त करके मंत्री-परिषद बनाता है। वही उनको पद व गोपनीयता की शपथ दिलाता है तथा उनके त्यागपत्र स्वीकार करता है। वह अपनी मंत्री-परिषद भंग कर सकता है।
3. वह उच्च अधिकारियों को नियुक्त करता है। जैसे- राज्य का महाधिवक्ता, लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष व सदस्यगण आदि तथा अपने राज्य के उच्च न्यायालय के जजों की नियुक्ति में राष्ट्रपति को परामर्श देता है।
4. उसे सूचित रहने का अधिकार है, इसलिए मुख्यमंत्री का यह कर्तव्य है कि राज्य के प्रशासन के बारे में उसे आवश्यक सूचना देता रहे। राज्यपाल इस बारे में मुख्यमंत्री से कोई भी आवश्यक सूचना माँग सकता है। वह मुख्यमंत्री से यह कह सकता है कि अमुक मंत्री का निर्णय मंत्री-परिषद् के विचार के लिए रखा जाय यदि उस पर मंत्री-परिषद ने कोई फैसला नहीं दिया है।
5. वह राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेज सकता है कि राज्य में संवैधानिक तंत्र विफल हो चुका है। इसलिए वह संविधान के अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत राज्य में पूर्ण या अर्द्ध-संकटकाल घोषित करने की सिफारिश कर सकता है। यदि राष्ट्रपति राज्य में संकटकाल की घोषणा कर दे, तब राज्यपाल राष्ट्रपति के दूत के रूप में कार्य करता है और वहाँ का प्रशासन चलाता है।
6. वह राज्य के विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति के रूप में कार्य करता है।

इस तरह संविधान के अनुच्छेद- 154 के अनुसार, राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल के हाथ में होती है। अनुच्छेद- 166 के अनुसार, राज्य प्रशासन को सुविधाजनक ढंग से चलाने के लिए आवश्यक नियमावली राज्यपाल बनाता है। भारत के गवर्नर को उसके कार्य के अनुरूप विभिन्न मॉडलों में प्रस्तुत किया जा सकता है। एक तरफ जहाँ राज्यपाल राज्य प्रमुख के रूप में कार्य करता है, वहीं दूसरी और राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में भी उसे देखा जा सकता है। राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में वह कुछ विशिष्ट संवैधानिक कर्तत्यों का निर्वाह करता है, जिसमें राज्य विधायिका द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ स्वीकार करना और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने से सम्बन्धित प्रतिवेदन राष्ट्रपति को सौंपना।

राज्य के प्रशासनिक प्रमुख के रूप में राज्यपाल को प्रमुख विविध रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है।

औपचारिक या नाममात्र का राज्य प्रमुख, भारतीय संसदात्मक शासन व्यवस्था में जनता के चुने गये प्रतिनिधियों को वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ दी गयी हैं। संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार राज्यपाल मुख्यमंत्री और उसके मंत्री-परिषद की सलाह से ही अपने कर्तव्यों का निर्वाह करता है और इस प्रकार उसे लगभग पूरी तरह मुख्यमंत्री और उसके दल पर निर्भर रहता है।

विशिष्ट दायित्वों का निर्वाह करने वाले राज्य, प्रमुख के रूप में असम का राज्यपाल, खनन रायल्टी में साझेदारी से सम्बन्धित विवादों पर अपने विवेक का इस्तेमाल करता है तथा इसी प्रकार नागालैंड के राज्यपाल को राज्य में शांति-व्यवस्था कायम करने की विशेष जिम्मेदारी का पालन करना होता है और इन सभी कर्तव्यों को निभाने के लिए मंत्री-परिषद की सलाह लेना उसके लिए अनिवार्य नहीं होता।

एक प्रशासक के रूप में राज्यपाल, राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने के बाद राष्ट्रपति की ओर से एक प्रशासक के तौर पर अपना कर्तव्य निभाता है। पूरा मंत्री-परिषद राष्ट्रपति शासन के दौरान राज्यपाल में समाहित हो जाती है। सामान्य परिस्थितियों में भी जब किसी दल को सदन में स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता तब राज्यपाल को मुख्यमंत्री की सलाह स्वीकार करना अनिवार्य नहीं होता। सदन के पटल पर हारे हुए मंख्यमंत्री की बात पर अमल करने या न करने पर निर्णय लेना और राजनीतिक अनिश्चितता के दौर में अनैतिक दबावों से बचते हुए निष्पक्ष निर्णय लेना राज्यपाल का विशेष कर्तव्य होता है। इस तरह वह परिस्थितिवश विवेकाधिकार प्राप्त कर लेता है।

प्रशासक के रूप में अनेक राज्यपालों ने अपना उल्लेखनीय योगदान दिया है। गुजरात के राज्यपाल ने अनूसूचित जनजातियों के आर्थिक अधिकारों को सुनिश्चित करने का अथक प्रयास किया। राज्य के डांग जिले में जनजातियों के अधिकारों को बहाल कराने और वन-नीति में आवश्यक सुधार कराने का सफल प्रयास राज्यपाल ने किया। 1985 में आंध्र प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल के रूप में डॉ0 शंकर दयाल शर्मा ने राज्यपालों के राष्ट्रीय सम्मेलन में केन्द्र सरकार से राज्य के विभिन्न प्रोजेक्टों को स्वीकृत करने की विनती की। जबकि केरल के तत्कालीन राज्यपाल के रूप में बी0 बी0 गिरी ने केरल के वाजिब अधिकारों के लिए योजना आयोग से जबरदस्त विरोध जताया। श्री गिरी ने जबरदस्त विरोध के कारण योजना आयोग को अपने पूर्व निर्धारित निर्णयों को बदलना पड़ा और केरल को अधिक सहायता राशि आवंटित किया गया। इस तरह अनेक ऐसे उदाहरण भारतीय राजनीति के 50 वर्षों के इतिहास में देखे जा सकते हैं, जिसके माध्यम से राज्यपाल की एक ऐसी तस्वीर उभरती है, जिसे देखकर यह कहा जा सकता है कि राज्यपाल के लिए संवैधानिक प्रावधानों के अन्तर्गत सामान्य परिस्थिति में भी महत्वपूर्ण सकारात्मक भूमिका निभा सकता है। अनुच्छेद- 167 के अन्तर्गत राज्यपाल, प्राप्त अधिकारों का इस्तेमाल करके भी वह अपना प्रभाव प्रशासन पर डाल सकता है। परन्तु कभी-कभी राज्यपाल प्रशासनिक कार्यों में अपनी भूमिका प्रत्यक्षतः निभाने लगे, तब वह विवाद का विषय बन जाता है। उदाहरणस्वरूप जून, 1967 में धर्मवीर ने पश्चिम बंगाल के राज्यपाल के रूप में राजभवन में जिलाधीशों और पुलिस अधीक्षकों को बुलाकर निर्देश दिया कि इन अधिकारियों को आई0पी0सी0 के प्रावधानों से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि वे अखिल भारतीय सेवा के पदाधिकारी होते हैं और इन्हें देश के प्रति समर्पण दिखाना है, न कि राज्य के प्रति। राज्यपाल का यह कदम खासा विवाद को जन्म दे गया। 1973 में बिहार के तत्कालीन गर्वनर आर0डी0 भण्डारे द्वारा राज्यमंत्रियों की खुलेआम आलोचना विवाद का कारण बना। इसी तरह उड़ीसा के गवर्नर के रूप में बी0एन0 पाण्डे की भूमिका और आंध्र प्रदेश के तत्कालीन गवर्नर के रूप में कुमूदबेन जोशी की भूमिका खासा विवाद का कारण बनी।

अन्ततः यह समझा जा सकता है कि गवर्नर प्रशासनिक प्रमुख के रूप में जहाँ जनदबाव मापने का बैरोमीटर हो सकता है, वहीं दूसरी ओर अपने अतार्किक और असंतुलित व्यवहार से तनाव और दबाव का जन्मदाता भी हो सकता है।

11.2.5.2 विधायन सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

राज्यपाल को विधायन सम्बन्धी शक्तियाँ भी प्राप्त हैं, यद्यपि वह राज्य विधान-मण्डल का सदस्य नहीं है। जिस प्रकार केन्द्र में राष्ट्रपति और संसद है, उसी तरह राज्य में राज्यपाल और विधान-मण्डल है। यद्यपि राज्यपाल विधान-मण्डल का सदस्य नहीं हो सकता, फिर भी वह उसका अभिन्न अंग है। राज्यपाल को विधायन सम्बन्धी अनेक शक्तियाँ प्राप्त हैं-

1. वह विधान-मण्डल का अधिवेशन बुलाता है, उसे स्थगित करता है तथा विधान सभा को भंग कर सकता है।
2. वह विधान सभा में एंग्लो-भारतीय जाति के एक या दो सदस्य मनोनीत कर सकता है, यदि वह यह समझे कि राज्य के लोकप्रिय सदन में इस जाति को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। वह विधान परिषद में विधान सभा की सदस्य संख्या के लगभग 1/6 भाग के बराबर सदस्यों को मनोनीत कर सकता है, जिन्हें विज्ञान, साहित्य, कला कौशल, समाज सेवा या सहकारी आंदोलन में विशेष अनुभव प्राप्त हो।
3. यदि किसी चुनाव-क्षेत्र के मतदाता उसके पास शिकायत भेजें कि विधान-मण्डल के अमुक सदस्य में अमुक अयोग्यता है तो वह चुनाव आयोग की रिपोर्ट मगा कर उस मामले पर अपना निर्णय दे सकता है।
4. वह विधान-मण्डल के एक या दोनों सदनों की संयुक्त बैठक को सम्बोधित कर सकता है या उनके विचार के लिए संदेश भेज सकता है। आम चुनाव के बाद विधान-मण्डल की पहली बैठक और हर वर्ष की पहली बैठक उसके उद्-घाटन भाषण के बाद अपना काम शुरू करती है।
5. उसे वीटो शक्ति प्राप्त है। राज्य विधान-मण्डल द्वारा पास किए गये बिलों पर वह अपनी अनुमति दे भी सकता है, नहीं भी। यदि धन बिल नहीं है तो उसे पुनः विचार करने के लिए विधान-मण्डल को वापस भेज सकता है। स्पष्ट है कि राज्यपाल धन-विधेयक को नहीं रोक सकता। यदि उसके द्वारा वापस किए गये गैर-धन सम्बन्धी बिल को दूसरी बार विधान-मण्डल ने पास कर दिया, चाहे उसकी सिफारिश मानी गयी या नहीं, तो राज्यपाल उन्हें राष्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित रखेगा।
6. यदि विधान-मण्डल की बैठक न हो रही हो, तो परिस्थिति की आवश्यकता समझते हुए वह आध्यादेश जारी कर सकता है। अध्यादेश कानून की शक्ति रखेगा। यह राज्य विधान-मण्डल की बैठक शुरू होने से अधिक 06 सप्ताह तक चल सकेगा, या उसे कानून के रूप में बदला जा सकता है। राज्यपाल अपने अध्यादेश को किसी भी समय वापस ले सकता है।
7. राज्यपाल विभिन्न संस्थाओं, जैसे लोक सेवा आयोग, नियंत्रक व लेखा-जोखा परीक्षक आदि की वार्षिक रिपोर्ट पर विचार करने के लिए उसे विधान-मण्डल में पेश करवाता है।

11.2.5.3 वित्त सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

वित्त सम्बन्धी राज्यपाल की शक्तियाँ इस प्रकार हैं-

1. राज्यपाल की पूर्व सिफारिश के बिना धन बिल विधान सभा में पेश नहीं किया जा सकता।

2. राज्य का आपातकालीन कोश उनके अधिकाराधीन है और वह आकस्मिक खर्चों को करने के लिए उसमें से अग्रिम भुगतान कर सकता है, जिस पर विधान-मण्डल की स्वीकृति बाद में ली जाएगी।
3. प्रत्येक वित्तीय वर्ष होने से पूर्व वह विधान-मण्डल में सरकारी आय-व्यय का विस्तृत ब्यौरा यानि बजट पेश करवाता है। किसी प्रकार के अनुदान या कर सम्बन्धी प्रस्ताव की माँग सिवाय मंत्रियों के और कोई भी सदस्य नहीं कर सकता जो राज्यपाल के नाम से कार्य करते हैं।

11.2.5.4 न्याय सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

इस सम्बन्ध में राज्यपाल की शक्तियाँ निम्नलिखित हैं-

1. वह जिला जजों व अन्य न्यायिक अधिकारियों की नियुक्तियों और पदोन्नति के बारे में मामलों को तय करता है।
2. वह अदालतों द्वारा दण्ड दिए गये अपराधियों को क्षमा कर सकता है, वह उनके दण्ड को घटा भी सकता है, किन्तु यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति का अपराध उस कानून के अन्तर्गत आना चाहिए, जो राज्य सरकार की प्रशासकीय क्षमता के भीतर हो।
3. अपने कार्यकाल में उसे अपने विरूद्ध समस्त दीवानी और फौजदारी कानून से सम्बन्धी कार्यवाहियों से वैयक्तिक मुक्ति प्राप्त है।

11.2.5.5 विवेक सम्बन्धी शक्तियाँ और कार्य

राज्यपाल को कुछ विशेष शक्तियाँ भी प्राप्त हैं, जिनके प्रयोग के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपने मंत्री-परिषद के परामर्श से काम करे, जैसे-

1. असम के राज्यपाल को आदिम जातियों वाले क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में विवेक की शक्तियाँ प्राप्त हैं।
2. यदि राष्ट्रपति किसी राज्यपाल को पड़ोसी केन्द्र द्वारा शासित केन्द्र का प्रशासक नियुक्त कर दे, तो वहाँ वह अपनी सत्ता का प्रयोग स्वतंत्र रूप से करेगा।
3. नागालैंड के राज्यपाल को विरोधी नागाओं की हिंसात्मक क्रियाओं से निपटने के लिए विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गये हैं। इसी प्रकार, राज्य में शांति व सभी क्षेत्रों के लोगों के सामाजिक व आर्थिक कल्याण के लिए सिक्किम के राज्यपाल को विशेष उत्तरादयित्व दिए गये हैं।
4. वह राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता के बारे में विचार कर सकता है और अपने सुझावों के साथ राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेज सकता है, चाहे उसका मत मुख्यमंत्री के दृष्टिकोण के अनुकूल हो या नहीं।
5. राज्य के विधान-मण्डल के पास होने के बाद वह किसी बिल को राष्ट्रपति के विचारार्थ इस आधार पर सुरक्षित सकता है कि यह केन्द्र के किसी कानून या नीति से टकरा सकता है।
6. यदि केन्द्र व राज्य की सरकारों के बीच अपनी-अपनी प्रशासकीय सत्ता के अधिकार क्षेत्र पर किसी प्रकार का संघर्ष हो तो राज्यपाल अपने विवेकानुसार काम कर सकता है।
7. किसी महत्वपूर्ण विषय पर अध्यादेश जारी करने से पूर्व वह राष्ट्रपति से निर्देश प्राप्त कर सकता है।
8. वह पराजित या अपराजित मुख्यमंत्री की राय पर विधान सभा भंग कर सकता है।

11.3.7 राज्यपाल की स्थिति

राज्यपाल की स्थिति या भूमिका के सम्बन्ध में सामान्य तौर पर परस्पर दो विरोधी दृष्टिकोण प्रचलित रहे हैं। इनमें से प्रथम में राज्यपाल को राज्य का केवल संवैधानिक अध्यक्ष माना गया है और द्वितीय में इस बात पर बल दिया

गया है कि राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की अपेक्षा राज्यपाल बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। राज्यपाल की सही स्थिति जानने के लिए इन दोनों बिन्दुओं को जान लें-

1. **राज्यपाल संविधानिक प्रधान के रूप में-** संविधान द्वारा शासन की शक्तियाँ ऐसी मंत्री-परिषद में निहित होती हैं, जो विधायिका के निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी हों। अतः मंत्री-परिषद ही राज्य की प्रधान है और राज्यपाल केवल संवैधानिक प्रधान। संविधान निर्माताओं ने जिस प्रकार से राज्यपाल पद के सम्बन्ध में निर्वाचन के सिद्धान्त को अस्वीकार करके मनोयन के सिद्धान्त को अपनाया गया है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे राज्यपाल को एक संवैधानिक अध्यक्ष ही बनाना चाहते थे, वास्तविक नहीं।
2. **संवैधानिक अध्यक्ष से अधिक-** प्रथम दृष्टिकोण में राज्यपाल को एक संवैधानिक प्रधान बताया गया है। लेकिन यदि राज्यपाल की स्थिति का विस्तृत अध्ययन किया जाए, तो यह धारणा खत्म हो जाती है। संविधान सभा के वाद-विवादों के अध्ययन के स्पष्ट होता है कि संविधान निर्माताओं की धारणाओं के अनुसार सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल एक संविधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा, लेकिन विशेष परिस्थितियों में उसकी भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो सकती है। एम0 वी0 पायली के अनुसार, राज्यपाल मंत्री-मण्डल का सूझबूझ वाला परामर्शदाता है जो राज्य की अशांत राजनीति में शांत वातावरण तैयार कर सकता है। डी0डी0 बसु और एम0सी0 शीतल बार्ड ने अपनी रचनाओं में राज्यपाल की स्वविवेक शक्ति का वर्णन किया है।
3. **मुख्यमंत्री की नियुक्ति-** राज्यपाल राज्य की विधान सभा में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त होने वाले और उसके नेता को ही मुख्यमंत्री नियुक्त करता है। लेकिन यदि राज्य की विधान सभा में दलीय स्थिति स्पष्ट नहीं है या बहुतम वाले दल में नेता पद के लिए एक से अधिक दावेदार हैं, तो इस सम्बन्ध में राज्यपाल स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है। ऐसी स्थिति में स्वयं राज्यपाल के द्वारा ही निर्णय किया जायेगा कि किस व्यक्ति को राज्य की मुख्यमंत्री बनाया जाये। भारतीय राजनीति में ऐसे अनेक उदाहरण आये हैं, जब राज्यपाल स्वविवेक से राज्यों में मुख्यमंत्री नियुक्त किये हैं।
4. **मंत्री-मण्डल को भंग करना-** राज्यपाल को यह भी शक्ति प्राप्त है कि वह मंत्री-परिषद को अपदस्थ कर राष्ट्रपति से यह सिफारिश करे कि संबंधित राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाये। इस प्रकार का उदाहरण भारतीय राजनीति में अनेकों बार आया है, जबकि राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन की अनुशंसा की। 1995 में बहुजन समाज पार्टी द्वारा मुलायम सिंह यादव सरकार से समर्थन ले लेने के बाद मुलायम सिंह समर्थक गुंडागर्दी पर उतर आये। इसके पश्चात राज्य में अराजक स्थिति फैल गयी। राज्यपाल मोतीलाल वोहरा ने मुलायम सिंह यादव को बर्खास्त कर मायावती को मुख्यमंत्री बनाया।
5. **विधान सभा का अधिवेशन बुलाना और भंग करना-** सामान्य रूप से राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श पर विधान सभा का अधिवेशन बुलाता है। किन्तु असाधारण परिस्थितियों में राज्यपाल स्वविवेक से भी अधिवेशन बुला सकता है। राज्यपाल की शक्तियाँ व कार्यों का व्यापक निरूपण यह दिखाता है कि वह राष्ट्रपति की तरह नाममात्र का अध्यक्ष है। इसका कारण इस तथ्य में देखा जाना चाहिए कि दोनों अपने-अपने प्रशासनिक संरचनाओं में नामधारी अध्यक्ष हैं। अतः यह कहा जाता है कि केन्द्र पर संसदीय शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति को जो स्थिति प्राप्त है, वही राज्य के शासन में राज्यपाल की है, क्योंकि प्रान्तीय स्तर पर भी संसदीय शासन प्रणाली स्थापित की गयी है।

11.3 मुख्यमंत्री

संविधान के अनुसार भारत में राज्यों के शासन के लिए संसदीय ढाँचे की व्यवस्था की गयी है, यह ढाँचा केन्द्रीय सरकार के समान ही है। जिस प्रकार से केन्द्र में राष्ट्रपति की औपचारिक प्रधान और प्रधानमन्त्री को वास्तविक प्रधान बनाया गया है उसी प्रकार राज्य प्रशासन में राज्यपाल औपचारिक प्रधान एवं मुख्यमंत्री वास्तविक प्रधान होता है। राज्य में मुख्यमंत्री की स्थिति उस राज्य की राजनीतिक स्थिति पर निर्भर करती है। मुख्यमंत्री के व्यक्तित्व एवं उसकी सुदृढ़ राजनीतिक स्थिति पर ही राज्य विशेष का आर्थिक विकास, सामाजिक उन्नति और व्यवस्था निर्भर है। यह सिद्ध हो चुका है कि शक्तिशाली मुख्यमंत्री स्थायी नीतियों का निर्माण करके राज्य के उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

11.3.1 मुख्यमंत्री की नियुक्ति

संवैधानिक दृष्टि से मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्य के राज्यपाल करते हैं। मुख्यमंत्री की नियुक्ति करते समय राज्यपाल यह सुनिश्चित करते हैं कि उसे राज्य विधान सभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त होगा अथवा नहीं। जहाँ पर मुख्यमंत्री को पूर्ण बहुमत मिलता है, वहाँ पर राज्यपाल को किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है, परन्तु जब राज्य विधान सभा के चुनावों में किसी भी दल को स्पष्ट बहुतम नहीं मिलता है तो उस समय राज्यपाल स्वविवेक के द्वारा सबसे बड़े दल के मुखिया को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित करता है। इस स्थिति में राज्यपाल का स्वविवेक ही मुख्य होता है, क्योंकि चुनाव के पश्चात तमाम दल सत्ता के लालच में गठबन्धन बना लेते हैं। अतः यहाँ पर राज्यपाल, चुनाव पूर्व हुए गठबन्धन के नेता अथवा चुनाव के पश्चात हुए गठबन्धन के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना है। यदि केन्द्र में और राज्य में एक ही दल होते हैं, तो इस प्रकार की कोई समस्या नहीं होती है क्योंकि, मुख्यमंत्री कौन बनेगा इसका निर्णय सामान्यतया केन्द्र सरकार के लोग ही करते हैं।

11.3.2 मुख्यमंत्री के कार्य एवं शक्तियाँ

मुख्यमंत्री राज्य मंत्री-परिषद का गठन करता है। वह अपने मंत्री-मण्डल के सदस्यों के बीच विभागों का वितरण करता है। मंत्री-मण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करता है। वह मंत्रियों के आपसी विवादों तथा मतभेदों को सुलझाता है। वह विधान सभा का नेता होता है। वह विधान सभा के अध्यक्ष से परामर्श करके विधायी कार्यक्रम तैयार करता है। उसे यह भी अधिकार है कि राज्यपाल को परामर्श देकर विधान सभा को विघटित करा दे। वह सरकार का प्रमुख प्रवक्ता होता है और राज्य की नीतियों के निर्धारण में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राज्य प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर जिन व्यक्तियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा होती है, वस्तुतः उसका चयन मुख्यमंत्री ही करता है। संक्षेप में, मुख्यमंत्री पाँच प्रकार के प्रमुख कार्य करता है-

1. मंत्री-मण्डल का अध्यक्ष होने के कारण वह मंत्री-मण्डल का गठन करता है।
2. मंत्री-मण्डल का अध्यक्ष होने के नाते वह मंत्री-मण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करता है।
3. राज्यपाल को राज्य शासन या व्यवस्थापन सम्बन्धी मंत्री-मण्डल के निर्णयों से अवगत कराता है।
4. कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होने के कारण उसे समस्त प्रशासन के निरीक्षण का अधिकार प्राप्त है।
5. विधान सभा में शासकीय नीतियों तथा कार्यों की घोषणा और स्पष्टीकरण करने का उत्तरदायित्व मुख्यमंत्री पर ही है। राज्य का पूरा शासनतंत्र उसी के संकेतों पर संचालित होता है। वह राज्य शासन का कप्तान है और राज्य मंत्री-मण्डल में उसकी विशेष स्थिति होती है। उसके कार्यो एवं दायित्यों की दृष्टि से उसे प्रधानमन्त्री का लघु रूप कहा जा सकता है।

11.3.3 मुख्यमंत्री और मंत्री-परिषद

मुख्यमंत्री के परामर्श से ही राज्यपाल द्वारा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति की जाती है। मंत्री-परिषद में विभागों का वितरण करना, मंत्री-मण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करना, किसी भी मन्त्री से उसके विभाग की सूचना प्रेषित करने को कहना, मन्त्रियों के आपसी मतभेदों तथा विवादों को सुलझाना, इत्यादि सभी कार्य मुख्यमंत्री के ही हैं। मुख्यमंत्री मंत्री-परिषद का नेता होता है। यदि किसी मन्त्री से उसका मतभेद हो जाता है, तो उस मन्त्री को त्यागपत्र देना पड़ता है। मुख्यमंत्री के त्यागपत्र देने पर पूरी मंत्री-परिषद ही भंग हो जाती है।

भारत में राजनीतिक आचरण में यह सिद्ध हो चुका है कि मत्री-परिषद के निर्माण में मुख्यमंत्री को अनेक तरह के दबावों में निर्णय करना होता है व संविद मंत्री-मण्डल के समय में मुख्यमंत्री को संविद के निर्माणकारी दलों के दबाव में सन्तुलित कार्य करते हुए मंत्री-मण्डल का निर्माण करना पड़ता था। कांग्रेस दल के मुख्यमंत्री को प्रधानमन्त्री और हाईकमान के मार्ग-निर्देशन में ही कार्य करना पड़ता है। सन् 1971 के पश्चात अधिकांश मुख्यमंत्रियों ने हाईकमान की मन्त्रणा से ही राज्य मंत्री-मण्डल का गठन किया है। राज्य मंत्री-मण्डल लघु बनाये जायें या बड़े, उसका कब विस्तार किया जाये, आदि निर्णय भी हाईकमान के हाथों में ही केन्द्रित हो गये हैं।

11.3.4 मुख्यमंत्री और विधान-मण्डल

मुख्यमन्त्री बहुमत दल के नेता के रूप में राज्य विधान सभा का भी नेतृत्व करता है। वह विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है और विधान सभा अविश्वास प्रस्ताव के द्वारा उसे अपदस्थ कर सकती है। विधान सभा में सरकार की नीति से सम्बन्धित अधिकृत भाषण मुख्यमंत्री का ही होता है। राज्य विधान सभा में विधि-निर्माण की कार्यवाही के संचालन में भी मुख्यमंत्री की प्रभावशाली भूमिका रहती है। उसे यह भी अधिकार है कि राज्यपाल को सलाह देकर विधान सभा को भंग करा दे। मार्च 1971 में तमिलनाडु के मुख्यमन्त्री ने राज्यपाल से अनुरोध कर विधान सभा को भंग करवाया। 21 जनवरी, 1972 को हरियाणा के मुख्यमंत्री बंशीलाल ने राज्यपाल से निवेदन कर विधान सभा भंग करवायी। सन् 1972 में श्रीमती नन्दिनी सत्पथी के परामर्श से ही राज्यपाल ने उड़ीसा विधान सभा को भंग किया। सन् 1984 में मुख्यमन्त्री रामकृष्ण हेगड़े के परामर्श से ही राज्यपाल ने कर्नाटक विधान सभा को भंग किया था। मार्च 1992 में मुख्यमंत्री वामूजो के परामर्श से ही राज्यपाल एम0एम0 थामस ने नागालैण्ड विधान सभा को भंग किया। अनेक मुख्यमन्त्रियों ने अपने इस अधिकार का प्रयोग समय-समय पर किया है।

11.3.5 मुख्यमंत्री और राज्यपाल

मुख्यमंत्री, मंत्री-परिषद और राज्यपाल के बीच की कड़ी है। संविधान के अनुच्छेद-167 के अनुसार राज्य के मुख्यमंत्री का कर्तव्य है कि राज्य के प्रशासन से सम्बन्धित मंत्री-परिषद के सभी निर्णयों और व्यवस्थापन के प्रस्तावों की सूचना राज्यपाल को दे। मंत्री-परिषद द्वारा एक बार निर्णय लेने पर सामान्यतया राज्यपाल उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है, किन्तु कतिपय परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्री-परिषद के बिना ही कार्य कर सकता है। उदाहरण के लिए, राज्य में संवैधानिक व्यवस्था की विफलता की स्थिति में राज्यपाल संकटकाल की घोषणा किये जाने पर विवेक का आधार पर कार्य कर सकता है।

यह भी परम्परा स्थापित हो गयी है कि राज्यपालों की नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श किया जाये। चतुर्थ जन निर्वाचन से पूर्व इस परम्परा का पालन हुआ था, किन्तु संविद सरकारों के मुख्यमंत्रियों ने यह आरोप लगाया था कि उनके राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति करते समय उनसे परामर्श नहीं किया गया। बिहार

में श्री नित्यानन्द कानूनगो की नियुक्ति के समय मुख्यमन्त्री श्री महामाया प्रसाद से एवं उत्तर प्रदेश में डॉ0 बी0 गोपाल रेड्डी की राज्यपाल पद पर नियुक्ति के समय मुख्यमन्त्री श्री चरणसिंह से परामर्श नहीं लिया गया। अक्टूबर 1983 में पं0 बंगाल के राज्यपाल बी0डी0 पाण्डे का पंजाब में स्थानान्तरण कर दिया गया। पं0 बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योति बसु श्रीनगर में थे और केन्द्रीय गृहमंत्री प्रकाश चन्द्र सेठी ने टेलीफोन से बसु को इस निर्णय की सूचना दी। मुख्यमंत्री बसु ने उनके राज्य के राज्यपाल को स्थानान्तरित एवं नये राज्यपाल की नियुक्ति के पूर्व उनसे परामर्श न किये जाने के सामान्य शिष्टाचार का पालन न करने की शिकायत की थी।

11.3.6 मुख्यमंत्री की वास्तविक स्थिति

यदि स्वाधीन भारत के मुख्यमंत्रियों की भूमिका का वर्गीकरण किया जाये तो उनकी पॉच श्रेणियॉ बनायी जा सकती हैं-

1. **शक्तिशाली मुख्यमंत्री-** प्रथम श्रेणी में उन मुख्यमंत्रियों को रखा जा सकता है, जो शक्तिशाली एवं प्रभावशाली राज्य नेता थे। ऐसे मुख्यमंत्रियों का केन्द्रीय सरकार व हाईकमान पर पर्याप्त प्रभाव था। वे विधान मण्डल के नेता और राज्य की जनता में लोकप्रिय रहे हैं। उन्हें ‘किंग मेकर्स’ कहा जा सकता है। श्री नेहरू और श्री शास्त्री जी के देहान्त के उपरानत उनके उत्तराधिकारी के चयन के मामले पर जो तोड़-मोड़ हुई, उनमें शक्तिशाली मुख्यमंत्रियों की उपक्रमिक भूमिका रही। इस श्रेणी में डॉ0 बी0 सी0 राय, श्री गोविन्द बल्लभ पन्त, श्री रविशंकर शुक्ल, श्री कृष्ण सिन्हा, श्री मोरारजी देसाई, श्री कामराज, श्री चन्द्रभानु गुप्त, श्री मोहनलाल सुखाड़िया तथा श्री द्वारिका प्रसाद मिश्र, सुश्री मायावती आदि, जैसे मुख्यमंत्री को रखा जा सकता है।
2. **विवादास्पद मुख्यमंत्री-** द्वितीय श्रेणी में वे सभी मुख्यमंत्री आते हैं, जिनका व्यक्तिव विवादास्पद कहा जा सकता है, जिस पर भ्रष्टाचार के अनेक आरोप लगाये गये। श्री प्रताप सिंह कैरो, श्री बीजू पटनायक, श्री करूणानिधि, श्री कृष्ण वल्लभ पन्त सहाय, श्री बंसीलाल, श्री मुलायम सिंह यादव, श्री लालू प्रसाद यादव, सुश्री जयललिता, आदि ऐसे ही मुख्यमंत्री कहे जा सकते हैं। श्री अब्दुल रहमान अन्तुले, श्री जगन्नाथ मिश्र, श्री भजनलाल, आदि को भी विवादास्पद मुख्यमंत्री कहा जाता है। इनमें से अधिकांश के विरूद्ध जाँच आयोग भी बैठाये गये, ताकि उनके आरोपों की जाँच की जा सके।
3. **घटकों की शक्ति पर टिके मुख्यमंत्री-** जनता पार्टी की शक्ति का आधार उनके घटक दलों की संख्या बल था। भैरोसिंह शेखावत और वीरेन्द्र कुमार सकलेवा टिके रहे, क्योंकि इनके राज्यों में जनसंघ घटक का स्पष्ट बहुमत था। रामनरेश यादव, कर्पूरी ठाकुर और देवीलाल को हटना पड़ा, क्योंकि इनके घटकों को राज्य विधान सभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं था।
4. **केन्द्रीय सरकार के दूत की भमिका वाले मुख्यमंत्री-** कतिपय ऐसे व्यक्ति भी मुख्यमंत्री रहे हैं, जिनकी जड़ें राज्य की राजनीति में न होकर हाईकमान के विश्वास और सहानुभूति पर टिकी रहती हैं। इस श्रेणी में श्री प्रकाश चन्द्र सेठी, श्री अब्दुल गफूर, श्री घनश्याम ओझा, श्री जगन्नाथ पहाड़िया, श्री अर्जुन सिंह आदि को लिया जा सकता है।
5. **दुर्बल मुख्यमंत्री-** संविद सरकारों के युग में कार्य करने वाले मुख्यमंत्री को अत्यन्त निर्बल मुख्यमंत्री कहा जा सकता है। उत्तर प्रदेश में श्री चरण सिंह, मध्य प्रदेश में श्री गोविन्द नारायण सिंह, बंगाल के श्री अजय मुखर्जी, आदि ऐसे ही कठपुतली मुख्यमंत्री कहे जा सकते हैं। ऐसे मुख्यमंत्री की परवाह न तो

मन्त्रीगण करते हैं, न विधान सभा और न राज्यपाल ही। ऐसे मुख्यमंत्री का कार्य एक 'पोस्टमैन' से अधिक नहीं हो सकता। यह बात सर्वविदित है कि संविद मुख्यमंत्री के काल में नौकरशाही के प्रभाव तथा दबाव में भी बेजोड़ रूप में वृद्धि हुई।

सत्ता की राजनीति में मुख्यमंत्री की स्थिति राजनीतिक उतार-चढ़ाव के साथ बदलती रही है। एक समय था जब मुख्यमंत्री शक्ति के पुंज थे, किन्तु कुछ समय से मुख्यमंत्री के पद का लगातार अवमूल्यन हो रहा है। संविद सरकारों के काल में तो मुख्यमंत्री एकदम अशक्त ही बन गये। संविद सरकारें अधिक टिकाऊ नहीं थी। और मुख्यमंत्री का अधिकांश समय अपने अस्तित्व की सुरक्षा में ही व्यतीत हो जाता था। इससे राज्यों में प्रशासनिक शून्यता का वातावरण फैला। सन् 1971 के पश्चात अधिकांश मुख्यमंत्री, हाईकमान के संरक्षण में ही पल्लवित एवं पोषित हुए हैं। अतः इस पद की संस्थागत स्वायत्तताः समाप्त हो गयी है।

मुख्यमंत्री की स्थिति तीन बातों पर निर्भर करती है, प्रथम- उसे किस सीमा तक केन्द्रीय नेताओं का संरक्षण एवं सहयोग प्राप्त है? द्वितीय- राज्य की गुटबाजी की राजनीति में उसका गुट कितना सशक्त है? तृतीय- राज्य विधान सभा में उसकी क्या स्थिति है और राज्य के विकासात्मक कार्यो को क्रियान्वित करने में उसकी कितनी अभिरूचि है?

मुख्यमंत्री का पद बहुत कुछ उसके व्यक्तिव पर निर्भर करता है। यदि राज्यपाल दुर्बल व्यक्तित्व वाला है और विधान सभा में मुख्यमंत्री के दल को पर्याप्त बहुमत प्राप्त है और दल में उसकी स्थिति सुदृढ़ है तो मुख्यमंत्री की शक्तियों में स्वतः वृद्धि हो जाती है। वर्तमान में राज्यों में एकदलीय प्रभुत्व के बावजूद भी गुटीय राजनीति की जो प्रवृत्तियां उभरी हैं, उसमें कोई भी मुख्यमंत्री अपनी स्थिति के प्रति आस्वस्त नहीं रह सकता।

11.4 मंत्री-परिषद

हमारे संविधान के अनुसार, मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्री-परिषद होगी, जो राज्यपाल को सहायता व परामर्श देगी। राज्यपाल द्वारा स्वविवेक से किये गयें कार्यों के अतिरिक्त अन्य शासन सम्बन्धी कार्यों में मंत्री-परिषद उसे मन्त्रणा देती है।

11.4.1संगठन

राज्य मंत्री-परिषद का मुखिया मुख्यमंत्री होता है। मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है, जबकि मंत्री-मण्डल के अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल, मुख्यमंत्री के सलाह के पश्चात करता है। वास्तव में मुख्यमंत्री अपने सहयोगियों की सूची तैयार करता है और उसको राज्यपाल को देता है, इसके पश्चात राज्यपाल सारे मंत्रियों को पद व गोपनीयता की शपथ दिलाता है। संवैधानिक शब्दों में मुख्यमंत्री और मंत्री-परिषद के सदस्य राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त ही अपने पद पर पदासीन रहते हैं। मंत्री-परिषद में मुख्यतः तीन प्रकार के मंत्री होते हैं। कैबिनेट मंत्री, राज्य मंत्री, उपमंत्री। यह मुख्यमंत्री का विवेक होता है कि किस व्यक्ति को किस प्रकार के मंत्री पद का दायित्व सौंपना है। सामान्यतः यह राजनीतिक परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है। यदि सरकार साझा सरकार होती है, तो सहयोगी दलों का हस्तक्षेप मंत्री-परिषद बनाने में रहता है और यदि मुख्यमंत्री पूर्ण बहुमत से सरकार में होता है, तो वह अपनी मर्जी से मंत्री-परिषद के सदस्यों का चुनाव करता है। मंत्री-परिषद में किसी ऐसे व्यक्ति को भी मंत्री बनाया जा सकता है, जो राज्य विधान-मण्डल के किसी भी सदन का सदस्य न हो। नियमानुसार मन्त्रियों को 06 मास की अवधि के भीतर ही उसे विधान-मण्डल के किसी भी सदन का सदस्य बन जाना आवश्यक है, अन्यथा उन्हें अपना पद छोड़ना पड़ेगा।

11.4.2 शक्तियाँ, कार्य और उत्तरदायित्व

मुख्यमंत्री या उसकी मंत्री-परिषद ही राज्य प्रशासन में वास्तविक कार्यपालिका है। मंत्री-परिषद के कार्यों की गणना इस प्रकार की जा सकती है-

1. यह राज्य प्रशासन के लिए नीति का निर्माण करता है, जिसके अनुसार राज्य के कानून तथा राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित निर्देश लागू किये जाते हैं।
2. यह लोक सेवकों की भर्ती सम्बन्धी नीति के बारे में प्रस्तावों पर विचार करता है और उसकी सलाह के अनुसार उनकी नियुक्ति के लिए नियम जारी करता है। यह राज्यपाल को महत्वपूर्ण नियुक्तियों; जैसे राज्य के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व सदस्यगण, राज्य का महान्यायवादी आदि के बारे में परामर्श देता है।
3. यह विधायन के प्रस्तावों पर विचार करता है तथा उन्हें बिल का रूप देकर विधान-मण्डल में पेश करता है, अन्यथा यह सरकार की पराजय समझी जाएगी। यदि असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो जाए तथा विधान-मण्डल का अधिवेशन न हो रहा हो तो यह राज्यपाल को परामर्श देकर अध्यादेश जारी करा सकता है, जिसमें कानून का बल होता है।
4. यह राज्य सरकार की वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा अर्थात बजट तैयार करता है और फिर राज्यपाल की सिफारिश के साथ उसे विधान सभा में पेश करता है। बजट को विधान-मण्डल का समर्थन प्राप्त होना चाहिए अन्यथा इसे सरकार के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव माना जाएगा।
5. यह तय करता है कि, विधान-मण्डल का अधिवेशन बुलाने व स्थगित करने या विधान सभा को भंग करने के बारे में राज्यपाल को क्या परामर्श दिया जाए। यह राज्यपाल द्वारा विधान-मण्डल में दिये जाने वाले उद्-घाटन भाषण का मसविदा तैयार करती है।
6. यह अनेकों मामलों पर विचार करता है व निर्णय लेता है। जैसे- लोक-सेवकों की सेवा सम्बन्ध नियम, अनुसूचित जातियों व वर्गों के लिए स्थानों का आरक्षण, लोक-सेवा आयोग की रिपोर्ट, राज्य के आकार बदलने से सम्बन्धी केन्द्र का प्रस्ताव पर विचार, कुछ व्यक्तियों के खिलाफ चलते हुए मुकदमे वापस लेना, जाँच, किसी आयोग की नियुक्ति व उसकी रिपोर्ट पर कार्यवाही करना, इत्यादि।
7. चूँकि राज्यों के स्तर पर भी संसदीय शासन-प्रणाली अपनायी गयी है, मुख्यमंत्री के अधीन मंत्री-परिषद, विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से और व्यक्तिगत तौर पर राज्यपाल के प्रति उत्तरदायी है, क्योंकि मंत्रीगण राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की प्रसन्नताकाल में ही पदासीन रह सकते हैं। विधान सभा के सदस्य मंत्री-परिषद से प्रश्न पूछ सके हैं, जिनका संतोषजनक उत्तर मिलना चाहिए। यदि सरकारी बिल गिर जाए, या बजट में कटौती कर दी जाए, या सरकारी नीति को सदन का समर्थन प्राप्त न हो सके या विधान सभा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे तो मंत्री-परिषद को त्यागपत्र देना पड़ेगा। राज्यपाल नई सरकार बनाने का प्रयास करेगा या भारत सरकार को सुझाव देगा कि संविधान के अनुच्छेद- 356 के अनुसार आपातकाल की घोषणा लागू कर दे, जिससे राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सके।

जो बात हमारा ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट करती है वह यह है कि राज्य की सरकार केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि राज्य की सरकारें केन्द्र की कानून तथा राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित निर्देषों को निष्ठा के साथ लागू करने पर बाध्य हैं। यदि केन्द्र सरकार किसी राज्य के आचरण से संतुष्ट न हो, तो वह अपनी ओर से या राज्य के राज्यपाल की रिपोर्ट पर अनुच्छेद- 356 का प्रयोग करके वहाँ की सरकार को अपदस्थ कर

सकता है। इसके अलावा, यह केन्द्र की इच्छा पर निर्भर है कि वह पूरी तरह राज्य की सरकार को भंग कर दे या उसे स्थगित संप्राणता की स्थिति में रखे। क्योंकि अनुच्छेद-356 का प्रयोग दलगत राजनीति के दाव-पेंच को देखते हुए किया जाता है। इसीलिए एक उचित ढंग से निर्मित राज्य को केन्द्रीय सरकार अपने शत्रुतापूर्ण भाव से किसी भी समय समाप्त कर सकती है या अपने मित्रतापूर्ण व्यवहार को देखते हुए किसी विफल राज्य सरकार को क्षमा-दान भी कर सकती है। इससे विदित होता है कि राज्य का मंत्री-परिषद अन्तिम रूप से केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी है।

अभ्यास प्रश्न-

भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद का दुरूपयोग बहुत हुआ है ?

मन्त्रियों को 06 मास की अवधि के भीतर ही उसे विधामण्डल के किसी भी सदन का सदस्य बन जाना आवश्यक है, अन्यथा उन्हें अपना पद छोड़ना पड़ेगा। सत्य/असत्य

संवैधानिक दृष्टि से मुख्यमंत्री की नियुक्ति उस राज्य के राज्यपाल करते हैं। सत्य/असत्य

राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रधान होता है। सत्य/असत्य

11.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमें यह जानने को मिला कि, जिस प्रकार से एक पहिये पर गाड़ी नहीं चल सकती, उसी प्रकार से राज्य प्रशासन बगैर राज्यपाल एवं मंत्री-परिषद के नहीं चल सकता है। भले ही राज्यपाल नाममात्र का प्रधान हो, किन्तु राज्य प्रशासन में मुख्यमंत्री एवं मंत्री-परिषद की गतिविधियों को नियंत्रित करना भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मुख्यमंत्री एवं मंत्री-परिषद किसी पार्टी विशेष के एजेन्डे के तहत राज्य प्रशासन को अपने हित में चला सकते हैं। राज्यपाल का यह कर्तव्य है कि वह राज्य प्रशासन संविधान की आशा के अनूरूप चलाये। अतः राज्य के प्रशासन के लिए दोनों ही आवश्यक अंग हैं।

11.6 शब्दावली

मंत्री-मण्डल- कैबिनेट स्तर के मंत्रियों का समूह।

मंत्री-परिषद - समस्त प्रकार के मंत्रियों का समूह।

कैबिनेट मंत्री- शासन में सर्वोच्च स्तर के मत्री।

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. अनुच्छेद 356, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारत का संविधान, ब्रज किशोर शर्मा, 2008, प्रेटिंस हाल आफ इंडिया प्राइवेट लि0, नई दिल्ली।
2. भारत में लोक प्रशासन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया, 2002, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
3. भारतीय प्रशासन, प्रो0 मधू सूदन त्रिपाठी, 2008, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
4. इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया, डॉ0 कुलदीप फाड़िया, 2007, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन, अवस्थी एवं अवस्थी, 2009, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

2. इंडियन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, रमेश अरोड़ा, रजनी गोयल, 2001, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. भारत का संविधान, डॉ0 जी0 एस0 पाण्डेय, 2001, यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर।

11.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. राज्यपाल की शक्तियों का वर्णन कीजिये।
2. राज्य प्रशासन में मुख्यमंत्री की भूमिका का परीक्षण कीजिये।
3. मंत्री-परिषद के गठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिये।

इकाई- 12 राज्य सचिवालय, मुख्य सचिव

इकाई की संरचना

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 राज्य सचिवालय

12.2.1 सचिवालय की उपयोगिता

12.2.2 संगठन

12.2.3 सचिवालय का संगठनात्मक ढ़ाँचा

12.2.4 राज्य सचिवालय के कार्य

12.2.5 राज्य सचिवालय की कार्य प्रणाली

12.2.6 राज्य सचिवालय की समस्याऐं

12.3 मुख्य सचिव

12.3.1 मुख्य सचिव पद का उदय

12.3.2 मुख्य सचिव का चयन

12.3.3 राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव के कार्य

12.3.4 मुख्य सचिव की भूमिका

12.4 सारांश

12.5 शब्दावली

12.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

12.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

12.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

12.9 निबंधात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

भारत में राज्यों के शासन के लिए संसदीय ढाँचे को अपनाया गया है, राज्यों का प्रशासन संघीय शासन का प्रतिरूप है। राज्य प्रशासन में शीर्ष पर राज्यपाल और मंत्री-परिषद हैं। राज्यपाल औपचारिक कार्यकारी और मंत्री-परिषद वास्तविक कार्यकारी है। मंत्री-परिषद को प्रशासन में सहायता प्रदान करने के लिये राज्यों में संघीय प्रशासन के समान मंत्री-मण्डल समितियां और सचिवालय है। राज्य सचिवालय विभिन्न विभागों में विभक्त होता है, जिसका राजनीतिक प्रमुख, मंत्री और प्रशासनिक प्रमुख, सचिव होते हैं।

शासन द्वारा निर्मित कानूनों को क्रियान्वित करने, नीतियों तथा योजनाओं को यथार्थ धरातल पर लागू करने एवं विकास और कल्याण कार्यों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए लोक सेवकों की विशाल संख्या कार्यरत रहती है। ये सभी लोक सेवक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सचिवालय के अधीन कार्य करते हैं। सचिवालय ही पूरे प्रदेश में नीति-निर्माण की भूमिका का निर्वहन करता है।

राज्य सचिवालय का प्रमुख, मुख्य सचिव कहलाता है। सामान्यतः यह प्रदेश के आई0ए0एस0 संवर्ग का सबसे वरिष्ठ अधिकारी होता हैं। मुख्य सचिव का मुख्य कार्य, नीति-निर्माण एवं उसके क्रियान्वयन को सुनिश्चित करना है।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राज्य सचिवालय के गठन के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- राज्य सचिवालय की संरचना की विवेचना कर सकेंगे।
- राज्य सचिवालय के कार्यों का वर्णन कर सकेंगे।
- मुख्य सचिव के कार्यों का वर्णन कर सकेंगे।
- प्रशासन में मुख्य सचिव की भूमिका का परीक्षण कर सकेंगे।

12.2 राज्य सचिवालय

हमारे देश में सचिवालय की व्यवस्था ब्रिटिश शासन-तन्त्र की विरासत है। जिस प्रकार से केन्द्र सरकार के समस्त मंत्रालयों एवं विभागों का सामूहिक रूप केन्द्रीय सचिवालय कहलाता है, उसी प्रकार राज्य सरकार के समस्त विभाग सम्मिलित रूप से राज्य सचिवालय के नाम से जाने जाते हैं। एक विभाग का राजनीतिक मुखिया, मंत्री तथा प्रशासनिक मुखिया सचिव कहलाता है। सामान्यतः राजनीतिक मंत्रियों के पास प्रशासनिक अनुभव की कमी होती है, उनके इस अनुभव की कमी को प्रशासनतंत्र में कार्यरत कार्मिक पूरी करते हैं। इसके साथ ही सचिवालय प्रशासन में निरन्तरता प्रदान करते हैं। मंत्री तथा सचिव तो आते-जाते रहते हैं, किन्तु सचिवालय सदैव रहता है और प्रशासन की निरन्तरता की बनाये रखता है।

12.2.1 सचिवालय की उपयोगिता

सचिवालय की उपयोगिता को निम्नलिखित आधारों पर समझाया जा सकता है-

1. मंत्रियों को सामान्यतः प्रशासन का अनुभव नहीं होता है। शासन के संचालन में सचिवालय के अधिकारी उनकी सहायता करते हैं।
2. मंत्रीगण समयाभाव के कारण प्रशासनिक कार्यों का संचालन समय से नहीं कर पाते हैं। यह कार्य सचिवालय के अधिकारी निष्पादित करते हैं।
3. सचिवालय एक स्थायी व्यवस्था होती है, जो कि सरकारों के पतन के पश्चात भी प्रशासन को निर्बाध गति से चलाती है।
4. नीति निर्माण, नियोजन, अनुश्रवण एवं मूल्यांकन में सचिवालय मुख्य कार्यकारी की भूमिका का निर्वहन करता है।

12.2.2 संगठन

संविधान के अनुच्छेद- 154(i) के द्वारा राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित की गयी है। जिसका प्रयोग वह अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से करता है। वस्तुतः राज्य का मुख्यमंत्री उसकी मंत्री-परिषद तथा सचिवालय एवं अन्य कार्यालयों के अधिकारी राज्यपाल की शक्तियों का व्यावहारिक प्रयोग करते हैं। इस प्रकार

राज्य प्रशासन का वास्तविक मुखिया मुख्यमंत्री होता है, जो सचिवालय का भी नियंत्रणकर्ता होता है। यह राज्य सरकार की समस्त शक्तियों का केन्द्र-बिन्दु होता है।

शासन सचिवालय, किसी एक विभाग या कार्यालय का नाम नहीं है, अपितु यह राज्य सरकार के समस्त विभागों का शीर्ष स्तर पर सामूहिक नाम है। प्रत्येक राज्य के सचिवालय में विभागों की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। विभागों की संख्या का निर्धारण राज्य का मंत्री-मण्डल करता है। वर्तमान में बड़े राज्यों में सामान्यतः 50 से ऊपर विभाग होते हैं। अधिकांश राज्यों में सामान्यतः निम्नलिखित विभाग होते हैं- सामान्य प्रशासन, गृह, राजस्व, खाद्य और कृषि योजना, पंचायती राज, ग्राम्य विकास, वित्त, विधि, सार्वजनिक निर्माण, शिक्षा, उद्योग, ऊर्जा, सिंचाई, सहकारिता, यातायात, स्थानीय शासन, कारागार, श्रम और रोजगार, आबकारी और कर आदि। इसके अतिरिक्त कुछ विभाग किसी राज्य विशेष को आवश्यकता के अनुसार बनाये और समाप्त किये जा सकते हैं। सचिवालय के किसी प्रशासनिक विभाग के अधीन अधीनस्थ कार्यालयों की संख्या उस विभाग के कार्यों एवं प्रकृति पर निर्भर करती है।

12.2.3 सचिवालय का संगठनात्मक ढ़ाँचा

राजनीतिक स्तर	प्रशासनिक स्तर पर
• मुख्यमंत्री • कैबिनेट मंत्री • राज्य मंत्री; स्वतंत्र प्रभार/राज्य मंत्री • उप-मन्त्री	• मुख्य सचिव • अपर मुख्य सचिव/ ए0पी0सी0 • प्रमुख सचिव/ सचिव • विशेष सचिव • संयुक्त सचिव • उप-सचिव • अनुभाग अधिकारी • यू0डी0ए0 • एल0डी0ए0

संगठनात्मक दृष्टि से राज्य सचिवालय का मुखिया मुख्यमंत्री होता है, क्योंकि वह मंत्री-परिषद का अध्यक्ष भी होता है। सचिवालय के समस्त विभाग किसी कैबिनेट मंत्री अथवा राज्यमंत्री; स्वतंत्र प्रभार के अधीन होते हैं। बड़े विभागों में कैबिनेट मंत्री के अधीन राज्य मंत्री भी होते हैं। कई बार एक मंत्री को एक से ज्यादा विभागों का मंत्री भी बनाया जाता है।

प्रशासनिक स्तर पर सचिवालय का मुख्य अधिकारी मुख्य सचिव होता है। प्रत्येक विभाग का मुख्य अधिकारी शासन सचिव या प्रमुख शासन सचिव होता है। इस पद पर भारतीय प्रशासनिक सेवाओं का 'सुपर टाइम स्केल' का अधिकारी आसीन होता है। सचिव के अधीन विशेष सचिव अथवा अतिरिक्त सचिव होता है। विशेष सचिव के अधीन संयुक्त सचिव होता है, जो कि सामान्यतः राज्य प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारी होते हैं। संयुक्त सचिव के अधीन उप-सचिव, अनुभाग अधिकारी तथा यू0डी0ए0 एवं एल0डी0ए0 तैनात होते हैं। यह सभी अधिकारी सामान्यतः राज्य सचिवालय सेवा के होते हैं।

12.2.4 राज्य सचिवालय के कार्य

राज्य प्रशासन की सर्वोच्च प्रशासनिक संस्था होने के कारण नीति एवं कानून निर्माण तथा अधीनस्थ संस्थाओं पर नियंत्रण का कार्य सचिवालय ही करता है। यहाँ सचिवालय के कार्यों से तात्पर्य सम्पूर्ण सविचालयी व्यवस्था या राज्य सरकार के किसी एक विभाग के कार्यों से है, क्योंकि सामान्य कार्य सभी विभागों में एक समान हैं, जबकि विशिष्ट कार्य विभागानुसार पृथक प्रकृति के हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप गृह विभाग के कार्यों में शांति एवं व्यवस्था बनाये रखना प्रमुख है, अतः पुलिस अधिकारियों तथा नियामकीय प्रवृत्तियों का बोलबाला रहता है, जबकि समाज कल्याण विभाग का कार्य निराश्रित एवं निर्योग्य व्यक्तियों को कल्याणकारी सेवाऐं उपलब्ध करवाना है। अतः यहाँ मानवीय संवेदनाएँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं। लेकिन भारतीय प्रशासनिक-तंत्र की कार्यशैली में विभागीय आधार पर व्यापक स्तर पर अन्तरों को समझ पाना किंचित कठिन है।

राज्य सचिवालय के सभी विभागों के या किसी एक विभाग के कार्य निम्न होते हैं-

1. **विकास हेतु नीतियों का निर्माण-** सचिवालय का प्रमुख कार्य जन-कल्याण तथा विकास कार्यों को गति प्रदान करने के निमित्त सार्थक नीतियॉं एवं योजनाएँ तैयार करना है। अधिकांश नीतियां किसी एक विभाग के कार्यों तथा लक्ष्यों से सम्बन्धित होती हैं। ये नीतियॉं सत्तारूढ़ राजनीतिक दल की मान्यताओं, कार्यशैली तथा उसके दृष्टिकोण से प्रभावित होती हैं। तथापि राज्य के संसाधन, जन-समस्याएँ तथा उपलब्ध प्रशासनिक तंत्र इनके निर्माण में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। जब किसी विभाग की एक स्पष्ट एवं दूरगामी नीति तैयार एवं स्वीकृत हो जाती है, तब उस विभाग के उद्देश्य और कार्यक्रम मुख्यतः उस विभाग की नीति के इर्द-गिर्द घूमते हैं।

   पंचवर्षीय एवं वार्षिक योजनाओं के माध्यम से राज्य का सर्वांगीण सामाजिक-आर्थिक विकास सुनिश्चित किया जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर पंचवर्षीय योजनाएँ, योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद के माध्यम से निरूपित होती हैं, लेकिन राज्य के विकास के लिए योजनाओं का स्वरूप, आकार तथा आवश्यक धनराशि स्वीकृत करवाने के लिए राज्य प्रशासन को खासी मेहनत करनी पड़ती है। राज्य के विकास के लिए कतिपय योजनाएँ केन्द्र प्रवर्तित होती हैं, जबकि कुछ कार्यक्रम स्वयं राज्य सरकार द्वारा संचालित एवं वित्त-पोषित होते हैं। इन सभी नीतियों, कार्यक्रमों तथा योजनाओं का आकलन, निर्माण तथा स्वीकृति के क्रम में सचिवालय में कार्यरत मंत्रियों, सचिवों तथा अन्य विशेषज्ञों की भूमिका निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण रहती है।

2. **सुशासन हेतु नियमों एवं कानूनों का निर्माण-** आधुनिक राज्यों, शासन-व्यवस्थाओं तथा प्रशासनिक कृत्यों का मुख्य आधार कानून है। आज कानूनों के द्वारा ही न केवल व्यक्ति एवं समाज को नियंत्रित किया जाता है, बल्कि प्रवर्तित व्यवस्था को यथावत् रखते हुए विकास की राह पर अग्रसर हुआ जाता है। भारत के संविधान में वर्णित राज्य-सूची के विषयों के सन्दर्भ में कानून एवं नियमों का निर्माण करने हेतु राज्य सचिवालय अपनी अहम् भूमिका निर्वाहित करता है। तात्कालिक समस्याओं या परिस्थितियों के अनुसार नये विधेयक तैयार करना अथवा प्रचलित अधिनियमों में संशोधन करके उन्हें विधायिका में प्रस्तुत करने लायक बनाने से पूर्व तथ्यों, सूचनाओं तथा शासन की नीतियों का विश्लेषण करने का कार्य सचिवालय का है। सचिवालय में उपलब्ध सूचनाएँ एवं दस्तावेज कानूनों तथा नियमों के निरूपण में सहायता प्रदान करते हैं।

3. **प्रशासनिक कार्यों का संचालन एवं नेतृत्व-** राज्य प्रशासन का शीर्ष प्रशासनिक संस्थान होने के कारण सचिवालय का यह दायित्व है कि वह सभी अधीनस्थ कार्यालयों तथा कार्मिकों के माध्यम से सरकार के कार्यक्रमों तथा कानूनों का कार्यान्वयन सुनिश्चत करे। इस समबन्ध में आने वाली बांधाओं तथा शंकाओं का समाधान करना, अधीनस्थ संस्थाओं को पर्यवेक्षण एवं मार्गदर्शन प्रदान करना, चाही गयी सूचनाएँ एवं संसाधन उपलब्ध करवाना, आपत्तियों का निराकरण करना एवं आवश्यक दिशा-निर्देश प्रदान करने हेतु राज्य की सभी प्रशासनिक संस्थाओं का नेतृत्व करना सचिवालय का कार्य है। चूँकि राज्य सरकार का प्रत्येक प्रशासनिक अभिकरण सचिवालय के किसी न किसी विभाग के अधीन कार्य करता है, अतः प्रशासनिक नियंत्रण का कार्य सचिवालय का जिम्मा है।
4. **मानव संसाधन का विकास करना-** किसी भी संगठन के लिए मानव संसाधन सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय है, क्योंकि शेष सभी संसाधनों का उपयोग मानव संसाधन अर्थात् कार्मिकों की कुशलता एवं प्रतिबद्धता पर निर्भर करता है। राज्य प्रशासन में कार्यरत लोक सेवकों; सरकारी कर्मचारियों की भर्ती, प्रशिक्षण, पदोन्नति, स्थानान्तरण, वेतन एवं भत्ते तथा अन्य आवश्यक सेवा-नियमों और शर्तों का निर्धारण सचिवालय द्वारा किया जाता है। राज्य में नई कार्मिक सेवाओं का गठन, पदों का सृजन, कमी या बढ़ोत्तरी, वेतनमानों में संशोधन, कार्मिक आन्दोलनों पर कर्मचारी नेताओं से वार्ता तथा हड़ताल की स्थिति में प्रशासनिक तंत्र पर नियंत्रण इत्यादि सचिवालयी विभागों का कार्य है।
5. **संस्थाओं के मध्य समन्वय सुनिश्चित करना-** सकारात्मक प्रयासों के रूप में विभिन्न व्यक्तियों या संगठनों के मध्य आपसी सहयोग ही समन्वय है। वर्तमान में प्रशासनिक कार्यों की प्रकृति बहुविभागीय तथा विशिष्टीकरण युक्त है। उदाहरण के लिए जनसंख्या नियंत्रण में चिकित्सा एवं स्वास्थ्य विभाग, श्रम एवं उद्योग विभाग तथा शिक्षा विभाग का आपसी तालमेल एवं सामंजस्य अत्यावश्यक है। प्रशासनिक कार्यों या निर्णयों के दौरान एक विभाग का दूसरे विभाग से कई बार संघर्ष एवं विवाद भी हो जाता है। इस प्रकार की अप्रिय स्थितियों से बचने अथवा उन्हें सुलझाने के क्रम में सचिवालय सतत प्रयास करता रहता है। सामान्यतः राज्य सचिवालय निम्न स्तरों पर समन्वय करता है-
   - विभिन्न अभिकरणों एवं राज्य प्रशासन के मध्य।
   - केन्द्र सरकार के मंत्रालयों/संस्थाओं एंव राज्य सरकार के विभागों के मध्य।
   - स्वयंसेवी संगठनों तथा राज्य प्रशासन के मध्य।
   - निजी संस्थाओं एवं राज्य सरकार के मध्य।
   - दबाव समूहों/संगठनों तथा राज्य सरकार के मध्य।
   - राजनीतिज्ञों तथा सरकारी कार्मिकों के मध्य।
   - एक ही विभाग के शीर्ष तथा अधीनस्थ कार्यालयों के मध्य।
   - आम जनता तथा प्रेस और राज्य प्रशासन के मध्य।
   - विभिन्न लोक उपक्रमों, आयोगों, कमेटियों तथा स्वायत्तशासी संस्थाओं के मध्य समन्वय सुनिश्चित करना।

वस्तुतः सचिवालय का कार्य, शासन की नीतियों, विधियों तथा कार्यक्रमों को जनकल्याण हेतु निष्पादित करवाना है। अतः इस सम्बन्ध में जिस स्तर पर कोई भी बांधा उत्पन्न हो, उसका निवारण सचिवालय के द्वारा होता है।

6. **बजट निर्माण तथा निष्पादन-** वित्त, आधुनिक प्रशासनतंत्र का रक्त है। प्रत्येक छोटा या बड़ा कार्य मुख्यतः वित्तीय संसाधनों पर निर्भर करता है, अतः वार्षिक आय-व्यय का लेखा 'बजट' के रूप में तैयार किया जाता है। प्रत्येक विभाग की स्थानीय शाखाएँ अपना बजट तैयार करके राजधानी स्थित सचिवालय में अपने विभाग के पास भेजती हैं। प्रत्येक विभाग का बजट मद; आइटम के अनुसार तैयार होता है। सचिवालय के विभागों द्वारा तैयार इस बजट को वित्त विभाग एकीकृत स्वरूप प्रदान करता है तथा अन्तिम रूप से कैबिनेट द्वारा स्वीकृत होने पर विधायिका में प्रस्तुत किया जाता है। विधायिका द्वारा स्वीकृति के पश्चात ही राज्य सरकार के विभाग विभिन्न प्रकार के व्यय कर सकते हैं तथा सेवाओं के बदले लगाए गये कर एवं शुल्क एकत्र कर सकते हैं। यदि किसी विभाग को आवंटित किया गया बजट किन्ही कारणों से कम पड़ता है तो उसकी परिस्थितिजन्य स्वीकृति सचिवालय ही प्रदान करता है।
7. **जन-सम्पर्क एवं जन शिकायत निवारण-** लोक कल्याणकारी शासन व्यवस्थाओं में संचालित योजनाएँ चूँकि जनसाधारण हेतु होती हैं, अतः उन योजनाओं एवं कार्यक्रमों का प्रसार-प्रचार भी आम जनता के मध्य प्रशासन द्वारा ही किया जाता है। आजकल रेडियो, टी0वी0 समाचार पत्रों, पोस्टर्स, होर्डिंग्स तथा प्रदर्शनियों के माध्यम से सरकार अपनी योजनाएँ जनसाधारण को सूचित करती है। आज का युग सूचना का युग है। अतः आम जनता तक प्रशासनिक कार्यकलापों की जानकारी पहुँचाना आवश्यक है।

   प्रशासनिक कार्यों तथा प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में जनसाधारण को हुई असुविधा तथा राजकीय सम्पत्ति के दुरूपयोग इत्यादि के क्रम में असंख्य शिकायतें प्रतिदिन सचिवालय में प्राप्त होती हैं। इन शिकायतों का निवारण तथा दोषी कार्मिक के विरूद्ध कार्यवाही करने का कार्य सचिवालय द्वारा सम्पादित ही होता है।
8. **नियंत्रण एवं मूल्यांकन करना-** किसी भी कार्य की पूर्ण सफलता हेतु अति आवश्यक है कि उस कार्य का सतत् अनुश्रवण तथा एक निश्चित अवधि या पूर्ण समाप्ति पर मूल्यांकन (इवेल्युएशन) किया जाए। राज्य सरकार द्वारा कार्यान्वित योजनाओं तथा कार्यक्रमों का सचिवालय द्वारा मूल्यांकन किया जाता है। क्षेत्रीय कार्यालयों तथा कार्मिकों द्वारा प्रेषित प्रगति प्रतिवेदन, आम जनता की परिवेदनाएँ, राज नेताओं का आकलन तथा आकस्मिक दौरों के माध्यम से योजनाओं के कार्य-संचालन एवं प्रगति पर नियंत्रण रखा जाता है। शीर्षस्थ नियंत्रणकर्ता के रूप में सचिवालय अपने अधीनस्थ कार्यालयों पर नियंत्रण स्थापित करने हेतु अनेक प्रकार के नियम-विनियम, दिशा-निर्देश तथा परिपत्र जारी करता है, क्योंकि कार्यक्रम या योजना की सफलता उस पर रखे गये नियंत्रण पर अत्यधिक निर्भर करती है। राजकीय सामग्री के भंडार का सत्यापन तथा लेखा परीक्षण; ऑडिट के द्वारा भी नियंत्रण स्थापित किया जाता है।
9. **तथ्य एकत्रण एवं प्रतिवेदन तैयार करना-** लोक प्रशासन की प्रत्येक कार्यकारी संस्था अपने वार्षिक तथ्य, सूचना तथा सम्पर्क तैयार करती है। सचिवालय के विभाग भी अपने अधीनस्थ निदेशालयों तथा अन्य सम्बद्ध प्रशासनिक अभिकरणों के माध्यम से विभागीय आंकड़ों को एकत्र करते हैं। ये आंकड़े सूचना अथवा तथ्य, नई योजनाऐं बनाने तथा प्रवर्तित योजनाओं के प्रभाव को समझने में सहायक सिद्ध होते हैं। इस प्रकार के वार्षिक प्रगति विवरण राजनेताओं, विधायकों, शोधार्थियों तथा प्रशासकों के लिए

विभिन्न दृष्टियों से लाभकारी सिद्ध होते हैं। इन प्रगति विवरणिकाओं के अतिरिक्त प्रत्येक महत्वपूर्ण दस्तावेज तथा फाइलों को भी अभिलेखागार में सुरक्षित रखा जाता है।

12.2.5 राज्य सचिवालय की कार्य प्रणाली

राज्य सचिवालय के विभिन्न स्तरों के पदाधिकारी अपने पद की महत्ता के अनुसार कार्य सम्पन्न करते हैं। शासन सचिव सम्पूर्ण विभाग और अधीनस्थ स्टाफ पर सामान्य नियन्त्रण एवं अधीक्षण रखता है। उप-सचिव उसकी सहायता करते हैं तथा अपर सचिव द्वारा यह देखा जाता है कि किसी प्रस्तुत मामले से सम्बन्धित सभी तथ्य संलग्न किये गये हैं अथवा नहीं। अनुभाग का अधिकारी यह व्यवस्था करता है कि अनुभाग में आने वाले सभी कागज-पत्रों पर उचित कार्यवाही की जाये। अनुभाग अधिकारी की देखरेख में ही कार्यालय प्रक्रिया के अनुशीलन का प्रबन्ध किया जाता है। वह सभी अधिनियमों, उपनियमों, कार्यालय प्रक्रिया तथा फाइल बनाने आदि कार्यों से परिचित रहता है, इसलिए अपने सहायकों को आवश्यक निर्देश प्रदान कर सकता है। यह निर्णय के 'क्या' पर प्रभाव नहीं डालता वरन 'कैसे' का सुझाव देता है। निर्णण लेना उच्च अधिकारियों का कार्य है।

सचिवालय की कार्य प्रक्रिया 'सेक्रेटेरिएट मैनुअल' में उल्लिखित होती है। किसी भी राज्य सचिवालय में अपनायी गयी फाइल व्यवस्था अत्यन्त सरल होती है। उदाहरण के लिए, सचिवालय में फाइल के दो भाग किये जाते हैं- टिप्पणियां एवं पत्र व्यवहार। टिप्पणी वाले भाग में सम्बन्धित विषय पर विभाग का अभिमत अंकित होता है। पत्र व्यवहार वाले भाग में किसी विषय पर प्राप्त किये गये या भेजे गये सभी पत्र होते हैं।

सचिवालय मैनुअल में यह भी उल्लिखित है कि एक कागज को किस प्रकार व्यवस्थित किया जाये, संलग्न किये जाये, पृष्टों पर नम्बर किस प्रकार डाला जाये, आदि। फाइल रखने का तरीका ऐसा होना चाहिए कि एक अधिकारी किसी फाइल को मंगाकर तत्सम्बन्धी सारी बातों की जानकारी कर सके।

12.2.6 राज्य सचिवालय की समस्यायें

डॉ0 श्रीराम माहेश्वरी के अनुसार राज्य सचिवालय ने उन कार्यों को भी हथिया लिया है, जो वास्तव में इसके अपने नहीं हैं, इससे विभागाध्यक्षों में उदासीनता की प्रवृत्ति उत्पन्न होती जा रही है। विभागाध्यक्ष प्रायः यह शिकायत करते हैं कि सचिवालय यन्त्र ने उनके कार्यों में सुविधा पहुँचाने की अपेक्षा बांधा डाली है। उनके महत्वपूर्ण सुझावों को सचिवालय कई बार रद्दी की टोकरी में डाल देता है। सचिवालय के कर्मचारियों में इतनी अधिक वृद्धि हो रही है कि जो प्रशासनिक दृष्टि से आवश्यक नहीं है। सचिवालय के अधिकारी हमेशा अपनी सेवा की सुरक्षा, वेतन-भत्ते और पदोन्नति के मसलों में उलझे रहते हैं। कई बार आवश्यक स्वरूप के कागज सचिव से चलकर पुनः सचिव तक पहुँचने में 15 से 20 स्तरों पर रूकते हैं। जिससे आवश्यक विलम्ब होता है और समय व श्रम की बर्बादी। सचिवालय संगठन की एक अन्य समस्या यह है कि इसे बहुत सारा अनावश्यक कार्य भी सौंप दिया जाता है। पंजाब में प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्ययन दल ने यह ज्ञात किया कि वहाँ सचिवालय में आने वाले कार्यों में से कम से कम एक-तिहाई कार्य तो ऐसे होते हैं जो उनके सामने आने की नहीं चाहिए।

भारत के राज्यों में सचिवालय और विभागाध्यक्षों के बीच समन्वय, सहयोग तथा मधुर सम्बन्धों की स्थापना आवश्यक पहलू है। वस्तुतः सचिवालय मूल रूप से एक अभिलेख रखने वाला और समन्वय, नियन्त्रण तथा पर्यवेक्षण करने वाला कार्यालय है, जबकि विभागाध्यक्ष सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों की सफल क्रियान्विति के लिए उत्तरदायी है। अतः दोनों की भूमिका स्पष्टतः परिभाषित होनी चाहिए और उनका उच्च-अधीनस्थ का सम्बन्ध न होकर समांजस्यपूर्ण सम्बन्धों की रूपरेखा बननी चाहिए। सचिवालय की कार्य प्रणाली का भी

आधुनिकीकरण किया जाना चाहिए ताकि अनावश्यक विलम्ब, आद को टाला जा सके। लालफीताशाही को रोकने के लिए सभी सचिवालयों में कर्मचारियों की संख्या कम की जानी चाहिए, शक्ति का विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए, लाइन एवं स्टाफ में स्पष्ट अन्तर होना चाहिए तथा सभी विभागों में एक-एक पृथक् प्रभाग समन्वय कार्य के लिए स्थापित किया जाना चाहिए।

12.3 मुख्य सचिव

मुख्य सचिव राज्य प्रशासन का प्रशासनिक प्रमुख होता है। राज्य स्तर पर मुख्य सचिव केन्द्रीय स्तर के मंत्री-मण्डलीय सचिव के समकक्ष माना जा सकता है। वह राज्य सचिवालय का मुख्य समन्वयकर्ता होता है। वह राज्य के समस्त एवं सामान्य प्रशासन का अध्यक्ष होता है। वह सचिवालय का ऐसा किंगपिन है, जो सभी स्तरों पर सचिवालय के सभी विभागों को परस्पर संयुक्त करता है। वह सचिवों का मुखिया तथा राजकीय लोक सेवाओं का अध्यक्ष है मुख्य सचिव का राजनीतिक प्रमुख मुख्यमंत्री होता है वह सचिवालय का सर्वेसर्वा होता है। सचिवालय के सभी विभागों पर उसका नियन्त्रण होता है, वह राज्य को अत्यन्त आवश्यक प्रशासकीय नेतृत्व प्रदान करता है, राज्य के सम्पर्क अधिकारी का कार्य करता है तथा अपने प्रदेश की सरकार और केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के मध्य संचार सूत्र का कार्य करता है।

12.3.1 मुख्य सचिव- पद का उदय

मुख्य सचिव का पद ब्रिटिश विरासत है। सन् 1898 में लॉर्ड बेलजली, जब भारत के गवर्नर जनरल बने तो उन्होंने केन्द्रीय सचिवालय का पुनर्गठन किया और उसी समय मुख्य सचिव का पद सृजित किया गया। ऐसे प्रमाण हैं कि जार्ज हिलेरो बालो पहले मुख्य सचिव नियुक्त हुए थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन की समाप्ति के बाद जब शासन सीधे ब्रिटिश संसद के अधीन आ गया तो धीरे-धीरे सभी प्रान्तों में मुख्य सचिव पद सृजित किए गये। उसे महत्वपूर्ण नियुक्तियां करने के अधिकार प्रदान किए गये, जिनमें जिला स्तर के अधिकारियों की नियुक्तियां प्रमुख थीं।

12.3.2 मुख्य सचिव का चयन

मुख्य सचिव राज्य में आई0ए0एस0 का वरिष्ठतम अधिकारी होता है। सामान्यतया उसकी नियुक्ति 'वरिष्ठता' के आधार पर होती है, किन्तु ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि मुख्य सचिव के चयन में योग्यता और अन्य बातें भी निर्णायक होती हैं। व्यवहार में मुख्य सचिव का चयन राज्य का मुख्यमंत्री करता है। परम्परा यह है कि ऐसा करते समय वह संघ सरकार से सलाह करता है, किन्तु ऐसा करना आवश्यक नहीं है। वह अपने सहयोगी मन्त्रियों से भी सलाह कर सकता है, पर अन्तिम निर्णय उसी का होता है। डॉ0 मीना सोगानी के अनुसार मुख्य सचिव के चयन में जिन मुख्य तथ्यों को ध्यान में रखा जाता है वे निम्नलिखित हैं- वरीयता, सेवा अभिलेख, कार्य निष्पादन तथा योग्यता और मुख्यमन्त्री का अधिकारी में विश्वास।

हाल ही में विभिन्न राज्यों में मुख्य सचिवों के चयन से स्पष्ट होता है, कि सामान्यतया मुख्यमन्त्री अपनी पसन्द के व्यक्ति को ही मुख्य सचिव के पद पर नियुक्त करता है। इस कारण यह कहा जा सकता है कि मुख्य सचिव के चयन में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका मुख्यमंत्री की ही होती है। डॉ0 एस0 आर0 माहेश्वरी के अनुसार, राज्य प्रशासन को सुचारू रूप से और प्रभावी ढंग से चलाने के लिए यह आवश्यक भी है कि मुख्यमंत्री और मुख्य सचिव के आपसी सम्बन्ध परस्पर ठोस विश्वास पर आधारित हों। प्रशासनिक सुधार आयोग का मत था कि मुख्य सचिव का चयन

बहुत ही सावधानी से किया जाना चाहिए। यह एक वरिष्ठतम, प्रभावी व्यक्ति होना चाहिए जिसे अपनी योग्यता, अनुभव, ईमानदारी और निष्पक्षता के कारण सभी अधिकारियों का विश्वास और आदर प्राप्त हो।

12.3.3 राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव के कार्य

राज्य का सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी तथा मुख्यमंत्री के प्रमुख परामर्शदाता के रूप में पदासीन मुख्य सचिव के कार्य अत्यन्त विस्तृत तथा गम्भीर हैं। संक्षेप में मुख्य कार्य अग्रलिखित हैं-

1. राज्य के प्रशासनतंत्र को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए मुख्यमंत्री को परामर्श देना तथा स्वयं प्रशासनतंत्र को नेतृत्व प्रदान करना।
2. मंत्री-मण्डल सचिवालय के सचिव के रूप में राज्य की शासकीय नीतियों के निरूपण में सहायता करना।
3. मंत्री-मण्डल बैठकों की सूचना मंत्रिगण तक पहुँचाने, बैठक के निर्णयों को प्रशासनिक इकाइयों तक पहुँचाने तथा उनकी क्रियान्विति सुनिश्चित कराने के प्रयास करना।
4. केन्द्र-राज्य सम्बन्धों, क्षेत्रीय परिषदों के कार्यों तथा अन्तर्राज्यीय सम्पर्कों के क्रम में पत्र-व्यवहार एवं समन्वय करना।
5. राज्यपाल, मुख्यमंत्री तथा अन्य मंत्रियों से सम्बन्धित संस्थापना प्रकरणों पर कार्यवाही करना।
6. राज्य क्षेत्र के बाहर के प्रकरणों में चिकित्सा सहायता उपलब्ध करवाना।
7. उच्च स्तरीय; मंत्रियों तथा प्रशासनिक अधिकारियों, सभा, संगोष्ठियों तथा कार्यशालाओं से सम्बन्धित मामलों पर कार्यवाही करना।
8. राज्य के विकास हेतु कार्यक्रम एवं योजनाएँ बनवाने में सहायता करना।
9. राज्य प्रशासन से सम्बन्धित विधि/नियम निर्माण में परामर्श प्रदान करना।
10. जनगणना के सम्बन्ध में केन्द्र सरकार को राज्य प्रशासन द्वारा सहायता उपलब्ध करवाना।
11. संसद तथा राज्य विधान सभा में मुख्यमंत्री तथा मंत्रियों से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर हेतु तथ्य एवं सूचनाऐं उलब्ध करवाना।
12. राज्य कर्मचारियों के वेतनमानों, पदों, पदोन्नतियों, स्थानानतरण, पुरस्कार तथा कार्मिक विकास से सम्बन्धित सेवाशर्तों का निर्माण करवाना।
13. विभिन्न प्रशासकीय संगठनों, स्वयंसेवी संस्थाओं, उद्योग मंडलों, दबाव समूहों, प्रेस तथा कार्मिक संघों से वार्तालाप करना तथा सरकार का पक्ष स्पष्ट करना।
14. केन्द्र सरकार के मंत्रालयों, राज्य सरकार के विभागों तथा अन्य अभिकरणों के मध्य विवाद की स्थिति में समन्वय स्थापित करवाना।
15. राज्य प्रशासन के कार्यकरण में शामिल संस्थाओं तथा कार्मिकों पर नियंत्रण, पर्यवेक्षण तथा मार्गदर्शन प्रदान करना।
16. विभिन्न विभागों से प्राप्त बजटीय अनुमानों को एकीकृत करते हुए मंत्री-मण्डल के सम्मुख उन्हें प्रस्तुत करवाना तथा विधायिका द्वारा स्वीकृत बजट को वास्तविक रूप से क्रियान्वित करवाना।
17. महत्वपूर्ण व्यक्तियों के राज्य के दौरे के समय व्यवस्थाएँ करवाना।
18. सांस्कृतिक आदान-प्रदान, कला एवं संस्कृति विकास, पुरस्कार एवं प्रोत्साहन, तथा करों एवं शुल्क के क्रम में आवश्यक कदम उठाना।

19. राज्य के प्रशासनतंत्र में संशोधन, सुधार, नवाचार तथा 'रूल्स ऑफ विजनस' में परिवर्तन हेतु मंत्री-मण्डल को परामर्श देना।

12.3.4 मुख्य सचिव की भूमिका

राज्य प्रशासनिक तंत्र में मुख्य सचिव की भूमिका कई आयामों से महत्वपूर्ण तथा प्रशासनिक दृष्टि से सर्वोच्च है। मुख्यमंत्री के परामर्शदाता, राज्य कार्मिकों के नेतृत्वकर्त्ता तथा प्रशासनतंत्र की धुरी के रूप में मुख्य सचिव की भूमिका को यहाँ निम्नांकित शीर्षकों के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है-

1. **मुख्यमंत्री के सहयोगी के रूप में-** किसी राज्य में नये मुख्यमंत्री तथा मंत्री-परिषद की स्थापना के साथ ही सामान्यतः मुख्य सचिव भी परिवर्तित हो जाता है। यद्यपि लोक सेवक होने के नाते मुख्य सचिव राजनीतिक दृष्टि से निष्पक्ष होता है। तथापि प्रत्येक मुख्यमंत्री अपनी इच्छा का मुख्य सचिव नियुक्त करना पसंद करता है, ताकि मुख्य सचिव उसे सूचना, तथ्य तथा समुचित परामर्श उपलब्ध करा सके एवं मुख्यमंत्री के मंतव्यों को समझते हुए कार्यक्रम निर्मित एवं कार्यान्वित करवा सके।

   मंत्री-मण्डल की बैठकों की व्यवस्था, वांछित सूचना या फाईल उपलब्ध कराना, महत्वपूर्ण मुद्दों पर अपना परामर्श देना तथा मंत्री-मण्डल के निर्णयों को लागू कराने में मुख्य सचिव की भूमिका निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि राज्य का मुख्यमंत्री अधिकांशतः मुख्य सचिव पर निर्भर रहता है। राज्य प्रशासन की नीतियों, कानूनों, कार्यक्रमों तथा नयी योजनाओं के निर्माण, मुख्यमंत्री द्वारा किये गये वायदों की क्रियान्वित इत्यादि में मुख्य सचिव बहुत कुशलता से अपना कार्य सम्पादित करता है, क्योंकि मंत्रिमंडलीय बैठकों तथा अन्य मंचों पर राजनीतिक मंत्रीगण कई प्रकार की बाध्यताओं तथा स्वार्थों से घिर कर अपना मत प्रकट करते हैं। जबकि मुख्य सचिव को अपने दीर्घ प्रशासनिक अनुभव एवं प्रवर्तित कानूनों के अनुसार निर्णय करना होता है।

   मुख्यमंत्री के दौरों, बैठकों तथा लोगों से मुलाकात के क्रम में मुख्यमंत्री के सचिव के साथ मुख्य सचिव भी तालमेल बैठाता है। राज्य सरकार के विभिन्न विभागों से महत्वपूर्ण तथा नीतिगत मुद्दों से जुड़े प्रकरणों की फाइलें मुख्य सचिव के पास आती हैं, जिन्हें वह मुख्यमंत्री के पास अग्रेषित करता है तथा सम्बन्धित प्रकारण पर अपनी टिप्पणी एवं परामर्श देता है। योग्य, चतुर तथा धैर्यवान मुख्य सचिव, कुछ विवादित प्रकरणों में कानून की पतली गलियों के माध्यम से अपने मुख्यमंत्री को संकट से उबार भी सकता है। मुख्यमंत्री के पास आने वाली जन-शिकायतों की जाँच तथा सुनवाई का कार्य मुख्य सचिव के माध्यम से ही सम्बन्धित विभाग तक भेजा जाता है।

2. **मुख्य प्रशासनिक अधिकारी के रूप में-** राज्य सचिवालय के विभागों के सभी सचिवों, निदेशालयों के निदेशकों, संभागीय आयुक्तों, जिला कलेक्टरों तथा अन्य सभी राज्य कर्मचारियों का शीर्षस्थ अधिकारी मुख्य सचिव होता है। इस स्थिति में मुख्य सचिव का यह दायित्व हो जाता है कि सम्पूर्ण प्रशासनतंत्र को निर्देशित तथा समन्वित करें, ताकि किसी प्रकार की शिथिलता तथा संघर्ष की स्थिति उत्पन्न न हो। राज्य प्रशासन की किसी भी इकाई द्वारा किया गया विवादित कार्य या उच्च स्तरीय प्रशंसनीय कार्य अथवा दिखाई गयी लापरवाही के क्रम में अन्ततः मुख्य सचिव को जिम्मेदार बनना पड़ता है। इसलिए राज्य कार्मिकों के मनोबल को बढ़ाने हेतु उनके वेतनमानों, भत्तों तथा सुविधाओं में वृद्धि, पदोन्नति, पुरस्कार एवं प्रशिक्षण व्यवस्था में सुधार तथा सेवानियमों में समयानुकूल परिवर्तन तथा

अनुशासन हीनता के मामलों में दण्ड की कार्यवाहियॉं इत्यादि में मुख्य सचिव महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

3. **कुछ विभागों के प्रमुख के रूप में-** यद्यपि मुख्य सचिव राज्य के सम्पूर्ण प्रशासनतंत्र का प्रशासनिक प्रमुख है। तथापि कुछ विभाग ऐसे हैं, जिनका सचिव पद, मुख्य सचिव द्वारा ही धारित किया जाता है। इन विभागों में प्रशासनिक सुधार विभाग, कार्मिक विभाग, सामान्य प्रशासन विभाग तथा नियोजन विभाग प्रमुख हैं। यह स्थिति प्रत्येक राज्य में भिन्न-भिन्न है, फिर भी मुख्य सचिव की भूमिका संघीय सरकार के कैबिनेट सचिव से भिन्न है, क्योंकि कैबिनेट सचिव के अधीन प्रत्यक्षतः कोई मंत्रालय नहीं होता है, जबकि राज्यों के मुख्य सचिव के अधीन कुछ विभाग होते हैं।

   सामान्यतः महत्वपूर्ण प्रकृति के उन विभागों को जो राज्य प्रशासन में समन्वय स्थापित करने में अग्रणी हैं, को मुख्य सचिव के अधीन रखा जाता है। मुख्यमंत्री के साथ मिलकर राज्य की वार्षिक तथा पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण तथा श्नियोजन एवं विकास समन्वय समिति के अध्यक्ष के रूप में मुख्य सचिव महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कार्मिक विभाग में मुख्य कार्यों में अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों; राज्य संवर्ग के कार्यों का बंटवारा, पद-स्थापन, पदोन्नति, सेवानिवृत्ति, प्रशिक्षण, वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट, सेवानियम, आधार संहिता तथा उच्च स्तरीय निकायों जैसे लोकायुक्त, लोक सेवा आयोग, लोक उपक्रम इत्यादि में अधिकारियों की नियुक्ति के क्रम में मुख्यमंत्री, मुख्य सचिव से परामर्श करता है। प्रशासनिक सुधार विभाग के मुखिया के रूप में राज्य प्रशासनतंत्र से सुधार, संशोधन, प्रक्रिया परिवर्तन तथा नवाचारों को प्रोत्साहन देने का जिम्मा मुख्य सचिव का है। सामान्य विभाग के सचिव के रूप में मुख्य सचिव की भूमिका, उच्च स्तरीय प्रतिनिधि मंडलों या महत्वपूर्ण व्यक्तियों के दौरों के समय व्यवस्थाएँ करवाने, पुरस्कार निर्धारण एवं वितरण, स्वयंसेवी संगठनों को सहायता देने, राजकीय भवनों तथा अतिथि गृहों की रक्षा, राज्य मोटर गैराज का प्रबन्ध तथा स्वतंत्रता सेनानियों के मामले, इत्यादि से सम्बन्धित होती है। सामान्यतः ये विभाग किसी मंत्री के अधीन नहीं होते, बल्कि मुख्यमंत्री ही इनका प्रभारी होता है, जिसे मुख्य सचिव प्रशासनिक सहायता प्रदान करता है।

4. **विभिन्न स्तरों पर समन्वयक के रूप में-** वर्तमान में जटिल होती प्रशासनिक संस्थाओं तथा विशेषज्ञता के कारण फैलते प्रशासनिक क्षेत्र में विवधि अभिकरणों के मध्य सामंजस्य एवं समन्वय स्थापित करना परमावश्यक है। राज्य प्रशासन के प्रमुख अधिकारी के रूप में मुख्य सचिव को राज्य सरकार तथा केन्द्र सरकार एवं उनके विभिन्न मंत्रालयों या अभिकरणों से समन्वय स्थापित करना पड़ता है। विभिन्न प्रकार की पंचवर्षीय योजनाओं, विकास कार्यक्रमों, शांति एवं व्यवस्था, वित्तीय सहायता की प्राप्ति, अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों का कार्मिक प्रबन्ध तथा राज्य की विकास परियोजनाओं की मंजूरी इत्यादि के क्रम में मुख्य सचिव राज्य सरकार के विभागों और केन्द्र सरकार के कैबिनेट सचिव, मंत्रालयों एवं वित्तीय संस्थाओं के मध्य समन्वय स्थापित करता है। प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले मुख्य सचिव सम्मेलन में वह राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। कैबिनेट सचिव की अध्यक्षता में होने वाले इस वार्षिक सम्मेलन में मुख्यतः केन्द्र-राज्य समन्वय की चर्चा होती है।

   राज्य पुनर्गठन अधिनियम- 1956 के अनुसरण में केन्दीय गृहमंत्री की अध्यक्षा में बनी क्षेत्रीय परिषद में सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों, योजना आयोग के प्रतिनिधि, विकास आयुक्त तथा राज्यों के मुख्य

सचिवों की अहम भूमिका होती है। दो या अधिक राज्यों के मध्य वाणिज्यिक, जलीय तथा करों से सम्बन्धित विवादों के मध्य अन्तर्विभागीय विवादों को निबटाने, विकास कार्यों में प्रत्येक विभाग का सहयोग सुनिश्चित करने, सचिवालय स्टॉफ को निर्देशित करने, विभागों की बैठकों को सम्बोधित करने, संभागीय आयुक्तों, विभागाध्यक्षों तथा जिलाधीशों की संगोष्ठियों की अध्यक्षता करने में मुख्य सचिव की एकमात्र उपयुक्त अधिकारी सिद्ध होता है, जो सहज रूप से सम्पूर्ण राज्य प्रशासन को एक सूत्र में पिरो सकता है। राज्य सरकार तथा प्रेस के मध्य, राज्य एवं दबाव समहों उद्योगपति/कर्मचारी संगठन तथा राज्य सरकार एवं निजी संगठनों के बीच सौहार्द्रपूर्ण वातावरण स्थापित कराने में भी मुख्य सचिव की महती भूमिका है।

5. **आपातकाल में महत्वपूर्ण भूमिका-** युद्ध तथा अशांति या वित्तीय संकट के कारण घोषित होने वाले राष्ट्रीय आपातकाल; इमर्जेन्सी तथा राज्य में संवैधानिक तंत्र की असफलता पर राष्ट्रपति शासन की घोषणा के समय राज्य सरकार का मंत्री-मण्डल चूँकि निष्क्रिय हो जाता है, अतः राज्यपाल वास्तविक सत्ता बन जाता है। इस स्थिति में मुख्य सचिव की राज्यपाल के प्रति आस्था वैसी ही हो जाती है, जैसी कि पूर्व में मुख्यमंत्री के साथ थी। राज्य के शासन-प्रशासन कार्यों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए मुख्य सचिव को राज्यपाल महोदय के परामर्शदाता एवं कार्यकारी या निष्पादक अधिकारी की भूमिका निभानी पड़ती है। आपातकालीन परिस्थितियों में गठित की जाने वाली कमेटियों में भी मुख्य सचिव अहम भूमिका निभाता है।

   मुख्य सचिव राज्य के पुलिस महानिदेशक तथा महानिरीक्षक एवं गुप्तचर अभिकरणों के अधिकारियों के माध्यम से राज्य की कानून एवं व्यवस्था की अद्यतन सूचनाएँ निरन्तर प्राप्त करता है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, राष्ट्रीय आयोगों, स्वयंसेवी संस्थाओं, कल्याणकारी न्यासों, साहसिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में संलग्न निकायों एवं आम जनता से मुख्य सचिव दैनन्दिन सम्पर्क करता है। सारांशतः राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण एवं गंभीर दायित्वों से युक्त है।

अभ्यास प्रश्न-

1. राज्य पुनर्गठन अधिनियम- 1956 में पारित किया गया? सत्य/असत्य
2. राज्य सचिवालय राज्य स्तर पर विद्यमान समस्त विभागों का सामूहिक रूप होता है। सत्य/असत्य
3. मुख्य सचिव का मुख्य कार्य राज्य के प्रशासनतंत्र को सफलतापूर्वक संचालित करने का है। सत्य/असत्य

12.4 सारांश

राज्य सचिवालय राज्य स्तर पर विद्यमान समस्त विभागों का सामूहिक रूप होता है। इसका मुख्य कार्य सुशासन हेतु नीतियों का निर्माण करना है। इसके साथ ही नीतियों के सफल क्रियान्वयन हेतु अनुश्रवण एवं मूल्यांकन की व्यवस्था भी सचिवालय के ही जिम्मे है। प्रत्येक राज्य के सचिवालय में विभागों की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। विभागों की संख्या का निर्धारण राज्य का मंत्री-मण्डल करता है। संगठनात्मक दृष्टि से राज्य सचिवालय का मुखिया मुख्यमंत्री होता है, क्योंकि वह मंत्री-परिषद का अध्यक्ष भी होता है। प्रशासनिक स्तर पर सचिवालय का मुख्य अधिकारी मुख्य सचिव होता है। राज्य स्तर पर मुख्य सचिव केन्द्रीय स्तर के कैबिनेट सचिव के समकक्ष माना जा सकता है। वह सचिवों का मुखिया तथा राजकीय लोक सेवाओं का अध्यक्ष है, इसके साथ ही

सचिवालय के सभी विभागों पर उसका नियंत्रण होता है। मुख्य सचिव का चयन राज्य का मुख्यमंत्री करता है। मुख्य सचिव का मुख्य कार्य राज्य के प्रशासनतंत्र को सफलतापूर्वक संचालित करने का है।

12.5 शब्दावली

निदेशालय- सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी संस्था।

ए0पी0सी0- कृषि उत्पादन आयुक्त।

आई0ए0एस0- भारतीय प्रशासनिक सेवा।

रूल्स आफ विजनेस- कार्य के सम्पादन हेतु नियमावली।

12.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य

12.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारत में लोक प्रशासन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया, 2002, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. इण्डियन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, रमेश अरोड़ा, रजनी गोयल, 2001, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. भारतीय प्रशासन, प्रो0 मधू सूदन त्रिपाठी, 2008, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
4. इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया, डॉ0 कुलदीप फाड़िया, 2001, साहित्य भवन, पब्लिकेशन्स, आगरा।

12.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन, अवस्थी एवं अवस्थी 2009, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. राज्य प्रशासन, डॉ0 सुरेन्द्र कटारिया 1999, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।

12.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. राज्य सचिवालय के संगठन एवं उपयोगिता का उल्लेख कीजिये।
2. राज्य सचिवालय के कार्यों का वर्णन कीजिये।
3. मुख्य सचिव के कार्यों का वर्णन कीजिये।
4. राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव की भूमिका का परीक्षण कीजिये।

इकाई- 13 लोक सेवाऐं- अर्थ, कार्य, आधुनिक प्रवृत्तियाँ और विशेषताऐं

इकाई की संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 लोक सेवाऐं- अर्थ एवं परिभाषा
13.3 लोक सेवाओं का उद्-भव
    13.3.1 प्राचीन काल
    13.3.2 मौर्य तथा गुप्त काल
    13.3.3 मुगल काल
    13.3.4 ब्रिटिश शासन काल
13.4 लोक सेवाओं के कार्य
13.5 लोक सेवाओं की आधुनिक प्रवृत्तियाँ
13.6 लोक सेवाओं की विशेषताऐं
13.7 सारांश
13.8 शब्दावली
13.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
13.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
13.12 निबंधात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

लोक प्रशासन विषय के रूप में अध्ययन हेतु लोक सेवाओं के बारे में जानना नितान्त आवश्यक है वरना विषय अधूरा रह जायेगा।

राज्य के बढ़ते हुये कार्यों के साथ कार्मिक वर्ग का योग एवं महत्व भी बढ़ता जा रहा है। पहले सरकारें प्रबन्ध नीति में विश्वास करती थीं एवं अपने कार्यों को केवल समाज में कानून व्यवस्था बनाये रखने तक ही सीमित रखती थीं, उस समय तो कर्मचारी-वर्ग में कार्य भी कुछ उद्देश्यों तक ही सीमित थे। परन्तु विज्ञान तथा शिल्पकला की प्रगति से विकासशील देशों में राज्य की क्रियाओं में असाधारण रूप में वृद्धि हुई है। वैश्वीकरण के दौर में सुशासन हेतु राज्य जन्म से मृत्यु-पर्यन्त मानवीय कल्याण में वृद्धि करता है। राज्य की क्रियाऐं अत्यन्त विस्तृत तथा विविध प्रकार की हो गयी हैं। राज्य, समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए कल्याणकारी योजनाओं का निर्माण करता है। इन योजनाओं के सफलतम क्रियान्वयन एवं अनुपालन को सुनिश्चित करने हेतु राज्य लोक सेवकों के माध्यम से नागरिकों तक पहुँचाता है।

मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास का इतिहास मनुष्य के अदम्य साहस, संघर्ष और जीजिविशा(जीने की इच्छा) का दर्पण है, दर्पण वर्तमान काल होता है। इसके माध्यम से सही एवं ताजी आकृति दिखाई देती है। वर्तमान कल्याणकारी राज्य के प्रवर्तन में सभ्यता का विकास एवमं विनाश पूर्णतः लोक सेवाओं तथा इसमें कार्यरत

कार्मिकों पर निर्भर करता है। प्रो0 डब्लू बी0 डोन हैम ने कहा है यदि हमारी वर्तमान सभ्यता का पतन हुआ, तो ऐसा मुख्यतः प्रशासन की विफलता का कारण होगा। राज्य, प्रशासनिक अधिकारियों एवं लोक सेवकों के माध्यम से ही अपने बढ़े हुए उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। देश का संविधान, नीति निमार्ता, मंत्रीगण कितने भी अच्छे क्यों न हो, परन्तु बिना दक्ष सेवी-वर्ग के उस देश का शासन सफल नहीं हो सकता है। राज्य की नीतियां कितनी ही अच्छी क्यों न हो, उसके अच्छे परिणाम तभी निकल सकते हैं, जब उन्हें कुशलतापूर्वक एवं सत्यनिष्ठा के साथ क्रियान्वित किया जाये।

लोक सेवा के महत्व का प्रतिपादन प्रो0 ऑग ने कुछ इस प्रकार कहा है सरकार का कार्य केवल राज्य सचिव तथा विभागों के अन्य प्रधानों, मण्डलों के सभापति, संसदीय अवर सचिवों, कनिष्ठ अधिपति तथा विशिष्ठ अधिपति। दूसरे शब्दों में मन्त्रीगण द्वारा पूर्ण नहीं किया जा सकता है। इन लोगों से यह आशा नहीं की जाती है कि वे कर एकत्र करें एवं लेखा परीक्षण, कारखानों का निरीक्षण, जनगणना आदि कार्य करें, हिसाब रखने, डाक के वितरण और समाचार ले जाने की तो बात ही दूर है। ऐसे बहुमुखी कार्य तो उन अधिकारियों द्वारा किये जाते हैं, जिन्हें स्थायी लोक सेवक कहा जाता है। स्त्री-पुरूषों का यह विशाल समूह ही राष्ट्र के एक छोर से दूसरे छोर तक विधि का पालन करता है और इन्हीं के द्वारा जनसाधारण नित्यप्रति राष्ट्रीय सरकार के निकट सम्पर्क में आता है। जनता की दृष्टि में इस निकाय का महत्व भले ही कम हो, किन्तु मन्त्रालयों के लिए काम करने वालों की यह सेना सरकार के उन उद्देश्यों को, जिनके लिए सरकार विद्यमान है, पूर्ण करने के लिए आवश्यक नहीं है। हरमन फाइनर के शब्दों में, लोक प्रशासन में सेवी-वर्ग को ही सर्वोच्च तत्व माना जाता है। पिफनर के अनुसार सेवी-वर्ग को प्रशासन की आधारशिला कहा जाता है।

उपरोक्त विचारकों के मत से सेवी-वर्ग के कथन में कोई अतिश्योक्ति नहीं है कि सुगठित तथा सुविचारित सेवी-वर्ग प्रशासन ही किसी प्रशासनिक संगठन की सफलता का मुख्य आधार है। फेलिम्स निग्रो का मानना है कि कार्मिकों की कुशलता तथा योग्यता ही संगठन की सफलता को निर्धारित करती है। योग्य तथा प्रतिबद्ध कर्मचारी कमजोर प्रशासनिक व्यवस्था की कमियों को दूर कर उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल रहते हैं, जबकि अयोग्य तथा निकृष्ट कर्मचारी सर्वोत्कृष्ट प्रशासनिक व्यवस्था को भी असफल सिद्ध कर देते हैं।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक सेवाऐं किसे कहते हैं, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- लोक प्रशासन के सन्दर्भ में लोक सेवा के अर्थ से भली-भाँति परिचित हो पायेंगे।
- लोक सेवा के उद्-भव एवं विकास के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- लोक सेवाओं के कार्यों से भी भली-भाँति परिचित हो पायेंगे। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक लोक सेवाओं के प्रकृति एवं कार्य क्षेत्र में परिवर्तित प्रारूप से भी ज्ञानार्जित होंगे।
- अंत में लोक सेवाओं की विशेषताओं को भी जान पायेंगे।

13.2 लोक सेवाऐं- अर्थ एवं परिभाषा

लोक सेवा शब्द का प्रचलित अर्थ राज्य की प्रशासनिक सेवा को असैनिक शाखाऐं हैं। ये वे कार्मिक वर्ग हैं, जो शासन की नीतियों, कार्यक्रमों तथा विधियों में क्रियान्वयन में संलग्न हैं, ताकि राज्य की रक्षा, जनकल्याण तथा विकास के लक्ष्य प्राप्त हो सके।

सैनिक सेवा देश के सैनिक प्रशासन से सम्बन्धित होती है तथा असैनिक सेवा असैनिक प्रशासन से। फाइनर के शब्दों में लोक सेवा अधिकारियों का एक व्यावसायिक निकाय है जो स्थाई है, वैतनिक है तथा कार्यकुशल है। ई0एन0 ग्लैडन ने लोक सेवा की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की है, प्रशासन के क्षेत्र में तटस्थ विशेषज्ञों का व्यावसायिक निकाय, जो निःस्वार्थ रूप से बिना राजनीतिक दलीय विचारों अथवा वर्ग हितों से प्रभावित हुए राष्ट्र की सेवा में प्राणप्रण से जुटा है। ब्रिटेन में 'लोक सेवा' शब्द का तात्पर्य उन कर्मचारियों से है जो राजनीतिक या न्यायिक पदाधिकारियों के अतिरिक्त ताज; महारानी के वे सेवक जो असैनिक रूप से सेवायोजित हों और जिनका पारिश्रमिक पूर्णतः तथा प्रत्यक्षतः उस धनराशि में दिया जाता है, जो संसद द्वारा इस हेतु स्वीकृत की गयी हो। एल0 डी0 व्हाइट के अनुसार लोक सेवाऐं प्रशासनिक संगठन का ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सरकार अपने लक्ष्यों को प्राप्त करती है। न्यू वेबस्टर विश्व कोश के अनुसार लोक सेवाओं से आशय निम्नलिखित सेवाओं से है-

1. रक्षा तथा न्यायिक कार्यों के अतिरिक्त वे सभी कार्मिक जो सरकारी प्रशासन में नियुक्त हैं।
2. ऐसी सरकारी सेवा जिसमें कार्मिक का कार्यकाल सुरक्षित है तथा प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से प्रवेश पाता है।
3. सरकारी विनियमों के अधीन गठित सेवा लोक सेवा है।

अमेरिकन विश्व कोश में लोक सेवा को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि लोक सेवाऐं उन संगठित वेतनभोगी कार्मिकों के निकाय को कहते हैं, जो सरकार के अधिकार-क्षेत्र में कार्यरत हैं। ये सेवाऐं तथा इनका नामकरण विभिन्न देशों की परम्पराओं के अनुसार होता है। यद्यपि आधुनिक राज्य में अधिकॉश सेवाऐं लोक सेवाऐं ही हैं, तथापि चुने हुए जनप्रतिनिधि तथा रक्षा कार्मिक 'लोक सेवा' से बाहर माने जाते रहे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक रूप में होता हैं, वहाँ संघीय सरकार में जो सरकारी कर्मचारी प्रतियोगिता परीक्षाओं के द्वारा योग्यता के आधार पर नियुक्त किये जाते हैं, उन्हें 'सिविल सर्विस प्रतियोगिता सेवा' अथवा 'वर्गीकृत सेवा' का नाम दिया जाता है। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों तथा नगरों की सेवा के लिए प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर जो व्यक्ति चुने जाते हैं, उन्हें भी सिविल सर्विस में सम्मिलित किया जाता है।

भारत में 1947 तक प्रतियोगिता के आधार पर चुने गये व्यक्ति 'इण्डियन सिविल सर्विस' के अंग होते थे। ये सैनिक सेवा के व्यक्तियों से पृथक होते थे, किन्तु इंग्लैण्ड की भॉति उस समय तक यहाँ न्यायाधीशों एवं सरकारी, प्रशासकों के पृथक वर्ग नहीं थे। स्वतन्त्रता के बाद इन दोनों को पृथक कर दिया गया है तथा इसे 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' का नया नाम दे दिया गया है।

भारतीय दण्ड संहिता की धारा- 21 में लोक सेवक को इस प्रकार परिभाषित किया गया है, सरकारी सेवारत या वेतन पाने वाला अथवा सरकारी कार्य के लिए शुल्क या कमीशन पाने वाला व्यक्ति 'लोक सेवक' की श्रेणी में आता है।

उपरोक्त कथनों के अनुसार लोक सेवकों की कोई निश्चित परिभाषा अभी तक नहीं विकसित हो पायी है। विभिन्न देशों की कार्मिक सेवाऐं तथा पदों का वर्गीकरण स्थानीय संस्कारों एवं पर्यावरण से प्रभावित होती है। सारांशतः

लोक सेवा से तात्पर्य उन सरकारी सेवाओं से है, जिसके पदाधिकारियों को वेतन सरकारी खजाने से प्राप्त होता है एवं जिन पर सरकार अपना नियंत्रण रखती है।

13.3 लोक सेवा का उद्-भव

भारत में 'लोक सेवा' शब्द का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन के साथ हुआ है। कम्पनी में कार्यरत व्यापारिक तथा प्रशासनिक कार्मिकों के कार्यों के सम्बोधन हेतु यह शब्द प्रचलन में आया। जबकि लोक सेवाओं का जन्म ईस्वी सन् 06 में चीन में हुआ। वर्तमान में लोक सेवा अनवरत विकास क्रम का परिणाम है। मानव सभ्यता के विकास के साथ ही शासक तथा शासित की प्रवृत्तियां विकसित होने लगी थीं। राज्य की शासकीय सत्ता का संचालन नियुक्त कर्मचारी द्वारा ही निष्पादित किया जाता था। इन्हीं को कालान्तर में लोक सेवक कहा जाने लगा एवं इनके द्वारा सम्पन्न कार्यों को लोक सेवाओं की संज्ञा दी गयी। आदि काल से वर्तमान तक की लोक सेवाओं की यात्रा का विभिन्न चरणों में निम्नलिखित रूप स्पष्ट किया जा सकता है-

13.3.1 प्राचीन काल

अनुमानतः पृथ्वी की उत्पत्ति साढ़े चार अरब वर्ष पूर्व हुई, परन्तु मानव की उत्पत्ति प्रागैतिहासिक काल में आज से तीस लाख वर्ष पूर्व हुई। वर्तमान मानव तीस-चालीस हजार वर्ष पूर्व में विकसित हुए। ज्ञानी, मानव की संतान है। ऐसा माना जाता है कि ईसा से चार से पांच हजार वर्ष पूर्व सभ्य मानव, समाज, परिवार, कबीले तथा शासन करने जैसी अवधारणाओं से परिचित हो चुका था। सिन्धु घाटी सभ्यता लगभग साढ़े तीन हजार से पन्द्रह सौ वर्ष ईशा पूर्व में अस्तित्व में आ गयी थी। मोहन जोदड़ों, हड़प्पा एवं सिन्धु घाटी सभ्यता; 2300 से 1750 ईसा पूर्व में मिले अवशेषों के अभिलेख से स्पष्ट होता है कि मानव सभ्यता के विकास के आरम्भिक चरणों में सुसंगठित शासन एवं प्रशासन था। सिन्धु घाटी सभ्यता को नगरीय संस्कृति का प्रतिरूप माना जाता है, जिसमें नगरीय प्रशासन से सम्बन्धित सारे क्रिया-कलापों का समावेश है। निःसंदेह प्रशासन के उत्तरदायित्वों की पूर्ति कुशल तथा प्रतिबद्ध लोक सेवकों; कार्मिकों द्वारा ही होती थी।

वैदिक काल में भारतीय प्रशासन का स्वरूप राजतंत्रात्मक था। राजा को उसके शासन कार्यों में सहयोग एवं सहायता प्रदान करने हेतु एक सभा होती थी। सभा के पदसोपन सिद्धान्त के अन्तर्गत पुरोहित का पद सर्वोच्च एवं प्रमुख होता था। ग्रामीण हितों की रक्षा हेतु ग्रामीण का पद होता था जो ग्राम वासियों के हित एवं सुख-सुविधा के लिए राजा को समयानुसार यथावश्यक परामर्श भी करता था। अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति आवश्यकतानुसार राजा के द्वारा सभा के सदस्यों के परामर्श पर की जाती थी। उत्तर वैदिक काल में राजा की सहायता हेतु मुख्यामात्य की नियुक्ति होने लगी थी। महाकाव्य काल में राजतंत्र तथा गणतंत्र दोनों प्रकार के राज्य थे। केन्द्रीय प्रशासन लगभग अट्ठारह से इक्कीस विभागों के द्वारा संचालित होता था। प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा देने के लिए गॉवों के समूह बना दिए जाते थे, जो वर्तमान में तहसीलों एवं जनपदों की तरह कार्य करते हैं। ग्राम, सबसे छोटी इकाई कहलाती थी। दस ग्रामों का 'ग्रामिक', बीस ग्रामों का 'विशंतये' एवं सौ ग्रामों का अधिकारी 'अधिपति' कहलाता था। प्रशासनिक कार्यों के स्वस्थ संचालन हेतु ये अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण रखते थे। कार्मिक प्रशासन का प्रमुख आधार योग्यता थी।

13.3.2 मौर्य तथा गुप्त काल

कौटिल्य द्वारा रचित 'अर्थशास्त्र' प्रशासन के सन्दर्भ में एक प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाता है। मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमन्त्री आचार्य चाणक्य; कौटिल्य थे। ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायों में लोक प्रशासन के बारे में

विस्तृत वर्णन किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्राचीन भारत में लोक सेवाओं के महत्व तथा कार्मिक प्रशासन की समसामायिक संरचना का आभास होता है। मेगस्थनीज ने भी 'इण्डिका' नामक पुस्तक में उस समय के प्रशासन के बारे में लिखा है कि सारे प्रशासनिक कार्य छः विभिन्न समितियों द्वारा निष्पादित किये जाते थे। प्रत्येक समिति में पॉच सदस्य होते थे। प्रथम समिति हस्तशिल्प कार्य के प्रति उत्तरदायी थी। द्वितीय समिति राज्य में अतिथियों के स्वागत हेतु निर्मित थी, अर्थात जब कोई अतिथि राज्य में आता था तो इस समिति के कर्मचारी उनका स्वागत करते थे। जन्म एवं मृत्यु प्रमाण-पत्र प्रदत्त करने का कार्य एवं दायित्व तृतीय समिति का था। वाणिज्य एवं व्यापार सम्बन्धित कार्यों के लिए चतुर्थ समिति ही जिम्मेदार थी। इनका काम राज्य में सही माप-तौल भी सुनिश्चित करना था। वस्तुओं के उत्पादन एवं गुणवत्ता बनाये रखने का दायित्व पंचम समिति करती थी। कर निर्धारण एवं वसूल करने का कार्य छठी समिति के पास था। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सफल संचालन हेतु सप्तांग सिद्धान्त को अनुसरण करना चाहिए। सप्तांग के अन्तर्गत स्वामी; राजा, अमात्य; मंत्री, जनपद; राज्य क्षेत्र, दुर्ग; किला, कोष; वित्त, दण्ड; सेना एवं मित्र; सहयोगी सम्मिलित हैं। मौर्य काल में प्रशासन तंत्र के संचालन हेतु सत्रह वरिष्ठ अधिकारियों की नियुक्त की जाती थी। ये सत्रह अधिकारी-गण विभिन्न विभागों के कार्यों के सुनिश्चित अनुपालन हेतु राजा को सहायता प्रदान करते थे। परामर्शदाता, धर्माधिकारी, सेना प्रमुख, राजा का पुत्र, महलों का रक्षक, राजा का सुरक्षाधिकारी, दण्डनायक, राजस्व एकत्रकर्ता एवं बजट निर्माता, आयुक्त, नगर रक्षक, नगर प्रमुख, खानों का प्रमुख अथवा लोक उपक्रम प्रभारी, समन्वयकर्ता, रक्षा विभाग, किले का रक्षक, सीमाओं का अधिकारी एवं वन अधिकारी क्रमशः होते थे। लोक सेवकों का वर्गीकरण का उल्लेख भी मौर्य काल में मिलता है। इन लोक सेवकों को क्रमानुसार तीन वर्गों में विभक्त किया गया था- उपयुक्त, युक्त एवं तत्पुरूष।

13.3.3 मुगल काल

मुगल साम्राज्य की नींव सन् 1526 में बाबर ने रखी थी। मुगलों की शासन-प्रणाली फारसी एवं अरबी शासन व्यवस्थाओं का मिश्रण थी। मुगल शहंशाह को राजकार्यों में सहायता प्रदान करने हेतु अनेक वरिष्ठ अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। मुगल शासन ने प्रशासन के दृष्टिकोण से सम्पूर्ण राज्य को विभिन्न चरणों में विभक्त कर दिया था। सर्वोच्च स्तर केन्द्रीय प्रशासन का था, इसके अन्तर्गत शहंशाह होते थे। इनकी प्रशासनिक सेवाऐं विभिन्न कार्मिकों द्वारा प्रदत्त की जाती थी। वजीर को प्रधानमन्त्री के समान उच्च स्थल प्राप्त था। फिर दीदान का पद सृजित था जिसको उपमंत्री का अधिकार प्राप्त था। मुशारिफ; मुख्य लेखा अधिकारी, उलेमा; धार्मिक कार्यों के लिए इत्यादि पद हुआ करते थे।

प्रान्तीय स्तर पर जिसको सूबा कहते थे, उस पर नियंत्रण करने वाले को सूबेदार या नाजिम कहते थे। सूबेदार की सहायता हेतु प्रान्तीय दीवान एवं बख्शी भी हुआ करते थे। सूबे को सरकार अर्थात जिलों में बांटा हुआ था। सरकार का अधिकारी फौजदार के नाम से प्रचलित था। फौजदार के अन्तर्गत अमीर; राजस्व अधिकारी, वितिक्ची; राजस्व कागजात तथा खजानदार लोग कार्य करते थे। प्रशासनिक दृष्टिकोण से सरकार परगना में विभक्त था। परगना का सर्वोच्च अधिकारी परगनाधिकारी कहलाता था। परगनाधिकारी को अन्य नामों से भी पुकारा जाता था। जैसे शिकदोर या शिगदार, परगना के अधीन गाँव होते थे। गाँव को 'भावडाह', 'डिह' या 'नगलाह' भी कहा जाता था। गांवों की देखभाल हेतु मुकदम, लगान वसूली हेतु पटवारी तथा झगड़ों को निपटाने हेतु चौधरी होते थे। पटवारी शब्द आज भी लोक सेवक के रूप में विख्यात एवं प्रचलन में हैं। अकबर के शासन-काल में मनसबदारी प्रथा शुरू हुई। मनसब के मायने रखना या निश्चित करने से है। मनसबदारी शाही सेवा में कार्यरत अधिकारियों की पद, प्रतिष्ठा,

सत्ता एवं अधिकार को दर्शाने वाली प्रथा थी। 'आर्मी ऑफ द इण्डियन मुगल्स' पुस्तक के अनुसार मनसबदारी प्रथा को तीन श्रेणियों में बांटा गया था। श्रेणी के अनुसार मनसबदारियों का वेतन भी निर्धारित था। वेतन का विभाग 'दीवना-ए-तन' कहलाता था। 'तनख्वाह' शब्द भी मुगलशासन की देन है। आज के सन्दर्भ में लोक सेवकों को वेतन-मान दिया जाता है। यह शब्द 'तनख्वाह' शब्द का प्रर्यायवाची है। अकबर के नौ रत्नों में एक रत्न अबुल फजल भी थे। इनके द्वारा रचित 'आइने-अकबरी' में लोक सेवकों का कार्य एवं अधिकार वर्णित है। कोतवाल नाम से नियुक्त अधिकारी का वर्णन आइने-अकबरी में किया गया है।

13.3.4 ब्रिटिश शासन काल

आधुनिक लोक सेवाओं के इतिहास को ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के आगमन के साथ ही लिखने की परम्परा प्रारम्भ हुई। कम्पनी द्वारा नियुक्त होने वाला लोक सेवक को 'राइटर' कहते थे। इसका कार्य लिपीकीय गतिविधियाँ एवं रिकार्ड सम्बन्धी कार्यों के निष्पादन से सम्बद्ध रहता था। कम्पनी में दो प्रकार की प्रसंविद एवं अप्रसंविद लोक सेवाऐं हुआ करती थीं। प्रंसविद सेवा का अर्थ है, कि इस प्रकार की सेवाओं में सेवाकर्मी संविदा के रूप में रखे जाते थे। इनमें प्रायः उच्च पद जैसे- लेखाधिकारी, सुरक्षा अधिकारी आदि सम्मिलित थे। ये पद सिर्फ 'अंगेजों' द्वारा ही सुशोभित होते थे। अन्य लोगों अर्थात भारतीयों पर निष्ठा एवं विश्वास पर प्रश्न चिन्ह लगा था। अप्रंसविद सेवा में भारतीय, अंग्रेज, पेरिस के लोग एवं पुर्तगाली भी सम्मिलित थे। प्रारम्भिक दिनों में ये दोनों उपरोक्त प्रकार के लोक सेवक कम्पनी के व्यापारिक कार्यों में हाथ बंटाते रहे। सन् 1765 में मुगल बादशाह शाह आलम ने ईस्ट-इंण्डिया कम्पनी को बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा का दीवान बना दिया, क्योंकि इससे पहले भारतीय प्लासी एवं बक्सर की लड़ाई हार चुके थे। परिणाम स्वरूप उपरोक्त राज्यों से राजस्व एकत्र तथा दीवानी न्याय प्रशासन का दायित्व कम्पनी को मिल गया। यही वह समय था जब कम्पनी व्यापारिक संस्था से शासक बन गयी। सन् 1765 से कम्पनी के अभिलेख में 'सिविल सर्वेन्ट' शब्द प्रयुक्त होने लगा था। गर्वनर जनरल वारेन हेस्टिंग्स भारत में प्रथम रेगूलेटिंग एक्ट- 1773 के द्वारा पारित नियमों के क्रियान्वयन एवं अनुपालन सुनिश्चित करने हेतु आये। इसी समय से कम्पनी के लोक सेवाओं का रूप नौकरशाहीनुमा होने लगा था। इनका कार्य-क्षेत्र भी बढ़ गया था। जैसे- राजस्व एकत्र करना, शॉति तथा सुरक्षा की स्थापना आदि था। 'राल्फ शेल्डन' सन् 1772 में प्रथम जिला कलक्टर के पद पर आसीन हुए थे। यद्यपि यह पद अगले ही वर्ष समाप्त भी कर दिया गया। 1786 में जिला राजस्व इकाई का जन्म हुआ तथा सन् 1787 में राजस्व एवं दण्ड नायक कार्य संयुक्त करके जिला कलक्टर नियुक्त होने लगे। भारत में लोक सेवाओं में जनक लार्ड कार्नवालिस माने जाते हैं। इन्होंने लोक सेवाओं की संहिता भी तैयार की। इसके अन्तर्गत लोक सेवकों को प्रर्याप्त वेतनमान एवं उत्तरदायी भी बनाया गया। लार्ड वेलेजली के शासन काल में ही फोर्ट विलियम कालेज, नाम की एक संस्था कलकत्ता में, लोक सेवकों के प्रशिक्षण हेतु स्थापना हुई थी। इसमें तीन वर्ष का प्रशिक्षण कम्पनी के अधिकारियों को देने की परम्परा थी। इस प्रशिक्षण संस्थान में अधिकारियों को भारतीय भाषाओं के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था। सन् 1813 में लार्ड ग्रेनविले ने योग्यता आधारित भर्ती का प्रस्ताव भी रखा।

आधुनिक योग्यता प्रणाली सन् 1853 में आरम्भ हुई। सन् 1855 में सिविल सर्विस कमीशन के माध्यम से जो कि लन्दन में स्थित था, प्रवेश परीक्षा आयोजित करने लगी। प्रवेश परीक्षा में आयु सीमा 19 से 22 वर्ष की रखी गयी। इसका सारा श्रेय लार्ड मैकाले को जाता। सन् 1864 में पहली बार भारतीय मूल के निवासी सत्येन्द्र नाथ टैगोर ने सिविल सेवा परीक्षा उत्तीर्ण की थी। सन् 1855 से 1921 तक आई0सी0एस0 परीक्षा लन्दन में होती थी। सन्

1922 में लन्दन एवं इलाहाबाद में परीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई। लार्ड कैनिंग ने सन् 1859 में विभागीय व्यवस्था शुरू की। इसके अन्तर्गत प्रशासन के कार्यों को विभिन्न शाखाओं के बांटने की शुरूआत हुई। 'एचीसन आयोग' ने पूर्व में प्रचलित दोनों प्रकार की लोक सेवाओं की व्यवस्था को सामाप्त कर अन्य तीन प्रकार की लोक सेवाऐं प्रारम्भ की। ये सेवाऐं- इम्पीरियल सिविल सर्विस, प्रोविन्सियल सिविल सर्विस एवं सब-आर्डिनेट सिविल सर्विस नाम से जानी जाती थीं। इम्पीरियल सिविल सर्विस के अन्तर्गत भर्ती की प्रक्रिया लन्दन में होती थी। बाकी दोनों सेवाओं की भर्ती भारत में होनी शुरू हो गयी थी। प्रान्तों में सांविधिक लोक सेवा को समाप्त करके नई प्रोविन्सियल सिविल सर्विस के अधिकारियों को इम्पीरियल सिविल सर्विस में पदोन्नति दी जाने लगी।

भारतीयों द्वारा इग्लैण्ड तथा भारत में एक साथ सिविल सर्विस आयोजित करने की माँग पर सन् 1912 में इस्लिगंटन आयोग हुआ। आयोग ने भारतीयों के लिए 25 प्रतिशत पद 'इम्पीरियल सिविल सर्विस' में सुरक्षित करने की सिफारिश की। 1919 में गवर्नमेण्ट आफ इंण्डिया एक्ट के तहत दोहरे शासन की शुरूआत हुई। जो सेवाऐं प्रत्यक्षतः सुप्रीम गवर्नमेण्ट के अधीन थीं, उनको केन्द्रीय सेवाऐं माना गया। जैसे- रेलवे, कस्टम आदि। अन्य इम्पीरियल सेवाओं को अखिल भारतीय सेवाओं का नाम दिया गया, जिसके अन्तर्गत इण्डियन सिविल सर्विस, इण्डिया पुलिस, इण्डिया सर्विस आफ इन्जीनियर्स तथा इण्डिया एजूकेशन सर्विस सम्मिलित की गयी। प्रान्तीय सेवाओं को प्रांत के नाम से जाना जाने लगा। सन् 1923 में 'ली आफ फर्नहाम' की अध्यक्षता में बने आयोग की अनुशंसा पर भारत में केन्द्रीय लोक सेवा आयोग की स्थापना 1926 में की गयी । इस आयोग के गठन का उद्देश्य लोक सेवाओं में सुधार का था।

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के माध्यम से शासन तथा प्रशासन को उत्तरदायित्वपूर्ण बनाया गया। 15 अगस्त 1947 को भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र घोषित हुआ। फलस्वरूप ब्रिटिश काल में बना इम्पीरियल सेक्रेटेरिएट सन् 1950 में केन्द्रीय सचिवालय कहलाने लगा।

स्वतंत्रता के पश्चात 26 जनवरी, 1950 से संघीय लोक सेवा आयोग का नाम बदल कर संघ लोक सेवा आयोग पड़ा तथा इण्डियन सिविल सर्विस; आई0सी0एस0 को इण्डियन एडमिनिस्टेटिव सर्विस नाम दिया गया। ब्रिटिश कालीन लोक सेवाओं का विकास दो शताब्दियों के संक्रमणकाल से गुजरा था। ब्रिटिश शासन में सिविल सेवाओं में महिलाओं का स्थान नहीं था। दिनांक 18 जुलाई 1948 से भारत में महिलाओं को सिविल सर्विस के अनुमति दी गयी तथा 1949 में कर्नाटक की चोनिरा वेलिप्पा मुथम्मा भारतीय विदेश सेवा की प्रथम महिला अधिकारी बनी। सन् 1950 में एना राजम जार्ज, प्रथम महिला आई0ए0एस0 अधिकारी बनी तथा सन् 1972 में किरण बेदी प्रथम महिला आई0 पी0एस0 अधिकारी बनी।

अभ्यास प्रश्न-1

1. स्वतंत्रता पश्चात लोक सेवा आयोग का क्या नाम है?
2. आई0सी0एस0 के नाम को बदल कर अब क्या कहा जाता है?

13.4 लोक सेवा के कार्य

वर्तमान में विश्व की किसी भी शासन व्यवस्था में लोक सेवाओं के बगैर शासन की नीतियों एवं कार्यक्रमों के संचालन की कल्पना तक नहीं की जा सकती है। आधुनिक समय में लोक सेवा को अनेक प्रकार के कार्य करने होते हैं। मुख्य रूप से इनके कार्यों का विभाजन तीन प्रकार से किया जा सकता है- प्रशासनिक, विधायी एवं न्यायिक। अरस्तू के अनुसार राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया और अच्छे जीवन के लिए उसका अस्तित्व

बना हुआ है। स्पष्ट है कि वर्तमान शासन व्यवस्थाओं में राज्य के कंधों पर जन-कल्याण तथा सुरक्षा के दायित्व हैं, जिनके क्रियान्वयन का माध्यम लोक सेवाऐं ही हैं। लोक सेवाओं में विपुल, योग्य तथा निपुण कार्मिकों की सहायता से ही शासन की नीतियों, योजनाओं तथा कार्यक्रमों की व्यावहारिक स्तर पर क्रियान्वित सम्भव हो पाती है। लोक सेवा के समस्त कार्यों का वर्णन करना यहाँ सम्भव नहीं है, परन्तु इनके द्वारा निष्पादित मुख्य कार्यों का विवेचन निम्नलिखित है-

1. **नीति निर्माण-** नीति निमार्ण करना मंत्रियों व संसद का कार्य है, क्योंकि वे जन प्रतिनिधि होते हैं और जनता द्वारा सीधे चुनाव से जीत कर आते हैं जो कि लोकतंत्र का परिचायक भी है। किन्तु व्यावहारिक रूप से नीति-निर्माण में परोक्ष रूप से लोक सेवकों का बहुत बड़ा हाथ होता है। अपने कुशाग्र बुद्धि एवं निपुण होने से ये लोक सेवक, नीति निमार्ण में काफी सहायक होते हैं।
2. **नीति क्रियान्वयन-** नीति निधार्रण के पश्चात उनका क्रियान्वयन अत्यन्त आवश्यक है। इसका सम्पूर्ण दायित्व लोक सेवकों पर ही होता है। कार्यक्रम तभी सफल होते हैं, जब उनको सही रूप से क्रियान्वित किया जाये वरना अच्छी से अच्छी नीतियां कागज के पन्नों में सिर्फ शब्द बन कर रह जाती हैं।
3. **परामर्शकर्ता-** लोक सेवा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य राजनीतिक कार्यपालिका के सदस्यों अर्थात मंत्रीगण को सलाह देना भी है। यद्यपि शासन मंत्रियों द्वारा ही संचालित होता है। परन्तु उनके सफल संचालन का उत्तरदायित्व लोक सेवकों पर ही होता है। मन्त्रियों को शासन प्रणाली तंत्र का बहुत ज्ञान नहीं होता है। प्रशासन के सफल संचालन में अपने विश्वसनीय अधिकारियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। रैमजेम्योर कहते हैं कि सौ में से निन्यानवे मामलों में मन्त्रीगण लोक सेवकों की राय मान लेते हैं और नियत स्थान पर हस्ताक्षर भी कर देते हैं। जोसेफ चैम्बर लेन, बिट्रिश प्रधानमन्त्री ने यहाँ तक कहा है कि मुझे सन्देह है कि आप लोग; लोक सेवक हमारे बिना काम चला सकते हैं, परन्तु मेरा पक्का विश्वास है कि हम लोग; मंत्रिगण आपके बिना काम नहीं चला सकते।
4. **प्रत्यायोजित विधि निर्माण-** वर्तमान में लोक सेवकों को प्रत्यायोजित विधि निर्माण का कार्य भी करना पड़ता है। अधिक कार्य एवं समयाभाव के कारण संसद अनेक जटिल विषयों पर विधि का मूर्तरूप प्रदत्त कर पाती है, जब कि वास्तविक रूप से लोक सेवक ही सूक्ष्म एवं व्यापक रूपरेखा प्रदान करते हैं।
5. **अर्ध-न्यायिक कार्य-** लोक सेवकों को अर्ध-न्यायिक प्रकृति के कार्य भी करने पड़ते हैं। प्रशासनिक कानून तथा प्रशासनिक अधिनिर्णय के फलस्वरूप प्रशासक न केवल प्रशासन करते हैं, अपितु न्याय भी करते हैं। राज्य के कार्य-क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ प्रशासनिक अधिनिर्णय की मात्रा भी बढ़ती जा रही है।
6. **विकास एवं परिवर्तन में सहायक-** कृषि एवं आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने वाले समस्त उद्योगों का विकास, मशीनीकरण, संसाधनों का समुचित दोहन, आयात-निर्यात में संतुलन, उत्पादन तथा आय में वृद्धि एवं जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में सहायक कारकों को प्रगतिशील बनाये रखने हेतु लोक सेवाओं की भूमिका अहम और सर्वविदित है। आर्थिक एवं सामाजिक विकास प्रत्यक्षतः सम्बद्ध हैं। जे0जे0 स्पेंगलर के मतानुसार सामान्यतः विकास तब माना जाता है, जब वांछनीय तथा प्राथमिक माने जाने वाली वस्तुओं का सूचकांक बढ़ जाए।

7. **राष्ट्रीय एकता में सहायक-** भारत सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विविधताओं से ओत-प्रोत है। जिसमें भाषावाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता की सामाजिक समस्याऐं भी विद्यमान है। इन समस्याओं को सुलझाने में लोक सेवकों का बहुत बड़ा योगदान रहता है। लोक सेवकों का कार्यक्षेत्र राष्ट्रीय स्तर के होते हैं एवं तटस्थता तथा समानता के आधार पर कर्य करते हैं जो कि समस्याओं के समाधान में बहुत कारगर होती है।
8. **लोक सेवक के रूप में-** विकासशील एवम लोकतांत्रिक देश में लोक सेवक शब्द अप्रत्यक्ष सेवा करने का नाम है। यहाँ उनसे अपेक्षा की जाती है कि लोक सेवाऐं अपनी भूमिका निभाने के लिए जन-साधारण के साथ तादात्म्य स्थापित करें।

सारांशतः कहा जा सकता है कि आधुनिक कल्याणकारी शासन व्यवस्थाओं में लोक सेवाऐं एक महत्वपूर्ण निकाय हैं, जो सम्पूर्ण विकास तंत्र का मुख्य आधार भी है।

13.5 लोक सेवाओं की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

लोक सेवाओं की प्रवृत्तियाँ समयानुकूल होती हैं। कहने का तात्पर्य है कि राजनीतिक परिवर्तनों, वैज्ञानिक एवं तकनीकी अविष्कारों, मानव मूल्य के नये आयामों एवं परिवर्तित समस्याओं की चुनौती द्वारा इसके लक्ष्य, संगठन, प्रक्रिया, औचित्य इत्यादि को उन्हीं के अनुरूप परिवर्तित किया जाता है। उपरोक्त परिवर्तित परिवेश से उत्पन्न हुई नई समस्याओं को हल करने के लिए लोक सेवाओं की प्रवृत्तियों के बदलाव आज भी परमावश्यक है। वर्तमान में लोक सेवाओं की प्रवृत्तियाँ निम्नवत् हैं-

1. **संख्यात्मक विकास-** लोक सेवा की संख्या में निरन्तर तेजी से वृद्धि हो रही है। पार्किन्स के नियमानुसार सन् 1955 में लोक कर्मचारियों की संख्या में अनवरत वृद्धि से भली-भाँति परिचित हैं। विकसित राष्ट्र, जैसे- संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के संघीय कर्मचारियों की संख्या सन् 1817 में छः हजार पाँच सौ के लगभग थी, वहीं 1957 में इनकी वृद्धि तेईस लाख हो गयी थी। पार्किन्स नियम के अनुसार प्रतिवर्ष 5.75 प्रतिशत औसत की दर से नौकरशाही वृद्धि करती है। इसे 'राइजिंग पिरामिड आफ ब्यूरोक्रेसी' के नाम से भी जाना जाता है।

   वैज्ञानिक एवं तकनीकी विशेषज्ञ- लोक सेवा में सरकारी कार्यों की प्रकृति के परिवर्तन के साथ-साथ वैज्ञानिकों एवं तकनीकी विशेषज्ञों की नियुक्ती होने लगी है। सरकार अब अधिकाधिक वैज्ञानिकों, डाक्टरों, अभियन्ताओं, अर्थशास्त्रियों, कृषिशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों को भी नियुक्त करती है।
2. **लोक सेवक की बढ़ती शक्तियाँ-** लोक प्रशासन के उद्-भव काल से लेकर अब तक कई पड़ाव आये, साथ ही साथ इसकी व्याख्या भी बदलती गयी जो पहले संकुचित विचारधारा तक ही सीमित थी। अब वो काफी व्यापक हो गयी है और उसे नवीन लोक प्रबंधन की संज्ञा से परिभाषित किया जाता है। परिणामतः लोक प्रशासन के विस्तार में वृद्धि हुई और उसका कार्य अधिकाधिक प्राविधिक स्वरूप धारण करता गया है। अब लोक कर्मचारी पहले की भाँति केवल पुलिस या राजस्व अधिकारी मात्र नहीं हैं, वरन् विकास कार्यक्रम के अनेक पहलुओं से जुड़े हैं। स्वतन्त्र भारत की आर्थिक तथा सामाजिक कठिनाइयों ने एक कल्याणकारी राज्य तथा समाजवादी समाज की धारणा एवं उसकी स्थापना के विचार को बल दिया है।

3. **तटस्थता-** लोक सेवा का परम्परागत गुण तटस्थता रहा है। तटस्थता का अर्थ है लोक सेवकों को राजनीतिक कार्यों व गतिविधियों से अलग बनाये रखना एवं अपने को निर्लिप्त रखना। आज के परिप्रेक्ष्य में निष्पक्षता का स्थान प्रतिबद्धता ले चुकी है। फलस्वरूप नीति-निर्माण में भी लोक सेवकों की अहम भूमिका रहती है। इनके उपलब्धियों का मूल्यांकन राजनीतिक कार्यपालिका करती है।
4. **सकारात्मक प्रकृति-** लोक सेवकों के चरित्र में काफी परिवर्तन आ गया है। प्रारम्भ में ये नकारात्मक सोच रखते थे एवं नागरिक के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करते थे। वर्तमान में बिल्कुल विपरीत हो रहा है, जो सोच नागरिक के विश्वास एवं विकास में बांधा बनती थी, वही अब उनकी कठिनाइयों के समाधान खोजने एवम मार्ग प्रशस्त करने को तत्पर रहती है।
5. **व्यावसायिक मानदण्ड-** लोक सेवकों में उच्च मनोबल तथा ईमानदारी बनाये रखने हेतु व्यावसायिक मानदण्डों पर काफी बल दिया जाता है। अन्य व्यवसायों जैसे चिकित्सा, पत्रकारिता, विधि आदि की भाँति यदि लोक सेवा भी एक व्यवसाय बन जाता है तो व्यावसायिक मानदण्ड तथा आचरण की संहिताएं शीघ्र ही स्थापित हो जायेंगी।
6. **प्रबन्धक के रूप में-** विकासशील देशों में विकास का लक्ष्य मुख्य है। समाज के प्रत्येक वर्ग को विकास कार्यक्रमों की जानकारी देना एवं उन तक पहुँचाने के लिए विकास कार्यक्रमों का अनुपालन सुनिश्चित करना लोक सेवकों का दायित्व बन गया है।

13.6 लोक सेवा की विशेषताऐं

डॉ0 एल0डी0 व्हाइट के शब्दों में, लोक सेवाऐं प्रशासनिक संगठन का ऐसा माध्यम हैं, जिसके द्वारा सरकार अपने लक्ष्यों को प्राप्त करती है। आधुनिक लोक सेवा की विशेषताऐं निम्नलिखित विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं-

1. **निपुण लोक सेवक-** लोक सेवा ऐसे कार्यकर्ताओं; अधिकारियों का एक व्यवसायिक वर्ग है जो कि प्रशिक्षित, कुशल, स्थायी तथा वेतन भोगी है। लोक सेवकों का कार्य, कुशल रूप से प्रशासन का संचालन करना होता है। प्रशासन का कार्य करना ही लोक सेवकों का पूर्णकालिक प्रशासनिक व्यवसाय है। प्रशासनिक कार्यों के निष्पादन हेतु उन्हें वेतन मिलता है।
2. **पदानुक्रम का सिद्धान्त-** लोक सेवकों का संगठन लोक प्रशासन के पद-सोपान के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अन्तर्गत वरिष्ठ अधिकारी अपने द्वारा दिये गये आदेशों का अनुपालन, अपने अधीनस्थ अधिकारी द्वारा सुनिश्चित कराता है।
3. **तटस्थता का दृष्टिकोण-** लोक सेवकों की यह महत्वपूर्ण विशेषता है। वे राज्य के सेवक होते हैं। इन्हें सत्तारूढ़ दलों की सेवा करनी पड़ती है।
4. **अनामता का सिद्धान्त-** लोक सेवक प्रत्येक कार्य के निष्पादन के पश्चात अनाम ही बने रहते हैं। इनके द्वारा निष्पादित कार्यों का सेहरा जन-प्रतिनिधियों के सर मढ़ता है।
5. **निष्पक्षता-** निष्पक्ष रूप से लोक सेवा का कार्य करना ही निष्पक्षता है। ये समाज के प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति के लिए बिना पक्षपात के राज्य के आदेशों एवं नियमों को लागू करने से लेकर अनुपालन तक सुनिश्चित करते हैं।

6. **वचनबद्धता-** सत्तारूढ़ दल के कार्यक्रमों के साथ लोक सेवक वचनबद्ध होते हैं। सार्वजनिक अधिकारियों को राजनीतिक दलों का सदस्य बनने एवं उनकी बैठकों में भाग लेने की अनुमति नहीं होती है।
7. **कर्तव्य-** देश के कानून द्वारा लोक सेवकों के कर्तव्यों की व्याख्या की जाती है। अतः उन्हें संविधियों में उल्लिखित न्यूनतम तथा अधिकतम अनुज्ञाओं की सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करना होता है।
8. **उत्तरदायी-** जनता के द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। क्योंकि प्रजातंत्र में जनता ही सम्प्रभु होती है।

फाइनर ने अपनी रचना "ए प्रीमियर ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन" में कहा है, कि लोक सेवा का अस्तित्व लाभोपार्जन के लिए नहीं होता है। अतः इसके सदस्यों की प्रेरणा अन्तिम आश्रय के रूप में, वेतन प्राप्त करने की ही होती है, जोखिम उठाकर अधिक धन कमाने की नहीं। दूसरी बात यह कही है कि लोक सेवा सार्वजनिक होती है, अतः इनके कार्यों की दृढ़ एवं सूक्ष्म जाँच की जाती है और वे अस्वीकृत भी किये जा सकते हैं। इस प्रकार से उनकी लोचशीलता तथा तत्परता सीमित हो जाती है और अन्त में लिखते हैं कि लोक सेवकों तथा उनके मन्त्रियों को निरन्तर संसद की आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। इससे उन्हें अवसरों के प्रति सतर्क एवं सन्नद्ध रहने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। अन्ततः इनकी सेवाऐं व्यापक होती हैं। अतः ये अपने स्टाफ सम्बन्धों की ओर विशेष ध्यान दें और इनमें पारम्परिक प्रेम के अभाव अथवा विवाद को दूर करने के लिए सेवा की कोटि के सम्भावित व्यय पर व्यवहार की समानता उत्पन्न करें।

अभ्यास प्रश्न- 2

1. लोक सेवाओं का जन्म चीन में हुआ। सत्य/असत्य
2. कौटिल्य द्वारा रचित ग्रन्थ अर्थशास्त्र है। सत्य/असत्य
3. मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य था। सत्य/असत्य
4. मेगस्थनीज की पुस्तक 'इण्डिका' है। सत्य/असत्य
5. कौटिल्य के अनुसार राज्य के सफल संचालन हेतु सप्तांग सिद्धान्त को अनुसरण करना चाहिए। सत्य /असत्य

13.7 सारांश

संगठन को बनाने का एक उद्देश्य होता है। उस उद्देश्य के पूर्ति के लिए मानव संसाधन की भी आवश्यकता पड़ती है। लोक प्रशासन की भाषा में संगठन में कार्यरत कार्मिक को निकाल दें, तो वह एक अमूर्त वस्तु बन जाता है, अर्थात वह पारस्परिक सम्बन्धों की एक ऐसी व्यवस्था मात्र रह जाता है जो संगठन के मस्तिष्क में अथवा कागज पर होती है। संगठन के भीतर विविध पदों पर कार्य करने वाले सामूहिक रूप से प्रथक सेवाओं के नाम से पुकारे जाते हैं।

13.8 शब्दावली

सेवी वर्ग- पिफनर के अनुसार 'सेवी वर्ग' को प्रशासन की आधारशिला कहा जाता है।

इण्डियन सिविल सर्विस- 1947 तक प्रतियोगिता के आधार पर चुने जाते थे। स्वतंत्रता पश्चात इसे भारतीय प्रशासनिक सेवा का नया नाम दिया गया है।

13.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न-1 **1.** संघ लोक सेवा आयोग, **2.** आई0ए0एस

अभ्यास प्रश्न-2 **1.** सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य, 5. सत्य,

13.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कटारिया, सुरेन्द्र- कार्मिक प्रशासन।
2. शर्मा एवं जैन- लोक सेवीवर्गीय प्रशासन।
3. शर्मा एवं सडाना- लोक प्रशासन।

13.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. योडर, डेल- कार्मिक प्रबन्धन एवम औद्योगिक सम्बन्ध।
2. केरने आर0 सी0- लोक कार्मिक।

13.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोक सेवा की परिभाषा दीजिए। भारत में लोक सेवा की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. लोक सेवा के अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र की विवेचना कीजिए।
3. लोक सेवा के विकास पर एक निबन्ध लिखिए।

इकाई- 14 अखिल भारतीय सेवाऐं , केन्द्रीय सेवाऐं, भर्ती एवं प्रशिक्षण

इकाई की संरचना

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 अखिल भारतीय सेवाऐं

- 14.2.1 अखिल भारतीय सेवाओं की आवश्यकता एवं ऐतिहासिक विकास
- 14.2.2 अखिल भारतीय सेवाओं का गठन
- 14.2.3 भारतीय प्रशासनिक सेवा का महत्व
- 14.2.4 अखिल भारतीय सेवाओं के कार्मिकों का प्रशिक्षण एवं उसका महत्व

14.3 केन्द्रीय सेवाऐं

- 14.3.1 केन्द्रीय सेवाओं में प्रशिक्षण
- 14.3.2 भारतीय विदेश सेवा

14.4 भर्ती एवं प्रशिक्षण

- 14.4.1 भर्ती का अर्थ
- 14.4.2 भर्ती प्रणाली के महत्व एवं मूल सिद्धान्त
- 14.4.3 भर्ती की रीतियाँ
- 14.4.4 चयन
- 14.4.5 योग्यता प्रणाली का मापदण्ड
- 14.4.6 प्रशिक्षण
- 14.4.7 प्रशिक्षण के प्रकार

14.5 सारांश

14.6 शब्दावली

14.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

14.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

14.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

14.10 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

कार्मिक-वर्ग सरकारी तन्त्र का संचालन करता है। नीति, विधियों, नियमों तथा विनियमों को क्रियान्वित करने के लिए प्रशासन जो भी कार्यवाहियाँ करता है, वे सब कर्मचारी-वर्ग द्वारा ही की जाती हैं। इनके द्वारा प्रदत्त सेवाओं को अखिल भारतीय सेवाऐं कहा जाता है। अखिल भारतीय सेवाओं का गठन संविधान के अनुच्छेद- 312 के अन्तर्गत किया गया है। इसी को अखिल भारतीय सेवा अधिनियम की संज्ञा दी गयी है।

इनके चयन में तीन चरणों की प्रक्रिया अपनायी जाती है। इन्हें क्रमशः प्रारम्भिक परीक्षा, मुख्य परीक्षा एवं साक्षात्कार।

चयनोपरान्त भर्ती एवं प्रशिक्षण का कार्य प्रारम्भ होता है। भर्ती वह प्रक्रिया है, जिसमें परोक्ष रूप से संगठन का भविष्य निहित होता है, क्योंकि संगठन की सफलता एवं कुशलता कार्मिकों की प्रर्याप्तता पर आश्रित होती है। प्रशिक्षण कार्मिक प्रशासन का अभिन्न अंग है। इसके द्वारा कार्मिकों में आत्म विश्वास, निपुणता, निर्णय की क्षमता आदि में वृहद बढ़ोत्तरी होती है।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के अपरान्त आप-

- अखिल भारतीय सेवाओं के गठन, महत्व एवं सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- केन्द्रीय सेवाओं के विषय में जान पायेंगे।

14.2 अखिल भारतीय सेवाऐं

अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना की आवश्यकता पर टिप्पणी करते हुए संविधान प्रारूप निर्मात्री समिति के अध्यक्ष डॉ0 भीम राव अम्बेडकर ने संविधान सभा के समक्ष अपने वक्तव्य में कहा था कि यह मानी हुई बात है कि प्रत्येक देश में उसकी प्रशासकीय रचना में कुछ ऐसे पद होते हैं, जो प्रशासनिक स्तर को बनाये रखने के विचार से महत्वपूर्ण हो सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रशासनिक स्तर, इन पदों पर नियुक्त लोक सेवकों की योग्यता पर निर्भर होता है। संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि एक अखिल भारतीय सेवा होगी और केवल उस सेवा के ही सदस्य संघ भर में ऐसे महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किये जा सकेंगे। इस प्रकार अम्बेडकर ने उस योगदान पर बल दिया, जिससे इस प्रकार की सेवा द्वारा संघ और राज्यों के प्रशासन में अधिक कार्यकुशलता उत्पन्न की जा सके।

14.2.1अखिल भारतीय सेवाओं की आवश्यकता एवं ऐतिहासिक विकास

साइमन कमीशन के अनुसार इतने विशाल क्षेत्र में यदि सम्पर्क बनाये रखना है तो केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच सेवाओं का उचित चक्र आवश्यक है। ए0 डी0 गोरवाला के शब्दों में, राष्ट्रीय एकता की स्थापना में यह सेवा एक मूल्यवान योगदान सिद्ध होगी। प्रत्येक प्रान्त अपने प्रशासन में बहुत से ऐसे तत्वों की एक प्रतिकृति उत्पन्न कर लेगा, जो इस प्राचीन देश की सम्पन्नता में योग देते हैं। एक बड़ा नाटककार ऐसी विश्व सरकार की बात सोचता है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक देश का स्थानीय प्रशासन उस देश के निवासियों द्वारा ही चलाया जाता है, जिससे प्रशासन निष्पक्ष हो और साथ ही सभी देशों के निवासियों को विश्व एकता की अनिवार्यता का ज्ञान हो सके। हम भारतीय इतने भाग्यशाली हैं कि यदि हम चाहें तो इस प्रयोग को एक बड़े पैमाने पर कार्यान्वित कर सकते हैं। विघटनकारी प्रवृत्तियों को सफलतापूर्वक रोक कर एकरूपता स्थापित कर सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह सेवा देश भर में प्रशासकीय प्रणाली में समरूपता स्थापित करने में प्रभावशाली एवं आवश्यक है।

भारत में ब्रिटिश काल में ‘ईस्ट इण्डिया कम्पनी’ के समय में ही भारतीय सिविल सेवा की रचना हुई थी। अतः भारत में हमेशा ही सेवाओं का अखिल भारतीय संवर्ग उपस्थित रहा है, जो कि बाद में धीरे-धीरे अखिल भारतीय संवर्गों की संघीय सरकार के विभिन्न विभागों में अधिकारियों का संवर्ग स्थापित हो गया, परन्तु ये सभी सेवाऐं गवर्नन जनरल के नियन्त्रण में न होकर सीधे भारत मंत्री और उसकी परिषद के अधीन थीं। अखिल भारतीय सेवा के किसी भी पदाधिकारी को ‘सपरिषद भारत मंत्री’ के अतिरिक्त अन्य कोई अधिकारी सेवा से अपदस्थ नहीं कर सकता था। भारतीय सिविल सेवा के द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था की गयी थी कि अखिल भारतीय सेवा के किसी

अधिकारी के साथ अनुचित व्यवहार न हो, और यदि हो तो उस अधिकारी को भारत मंत्री से अपील करने का अधिकार प्राप्त होता था एवं प्रान्तीय गवर्नर की जाँच की उपरान्त सही शिकायत के निवारण का भी विधान था। अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी के वेतन, पेंशन; सेवानिवृत्ति, वेतन इत्यादि पर किसी भी भारतीय विधान-मण्डल को कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। चूँकि अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी लोकमत; जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं थे, अतः अपने विशेषाधिकार से पूर्णतः सुरक्षित भी थे। इसलिए भारतीय शासन अधिनियम; 1919 द्वारा इसमें कुछ सुधार प्रक्रिया को अमल में लाया गया। 1924 में भारत में उच्च लोक सेवा विषयक शाही आयोग; की नियुक्ति की गयी, जिसके सभापति लार्ड के0 ली थे, अतः इसे ली आयोग से भी जाना जाता है। ली आयोग ने कुछ अखिल भारतीय सेवाओं की समाप्ति की अनुशंसा की, जो उन विभागों से सम्बन्धित थी, जिन्हें 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत भारतीयों को 'हस्तान्तरित' कर दिया गया था। जैसे भारतीय शिक्षा सेवा/इण्डियन एजूकेशनल सर्विस, भारतीय कृषि सेवा/इण्डियन एग्रीकल्चरल सर्विस, भारतीय पशु-चिकित्सा सेवा/ इण्डियन वेटरिनरी सर्विस और भारतीय अभियन्ता सेवा की सड़क तथा भवन निर्माण शाखा/ इण्डियन सर्विस ऑफ इंजीनियर्स की रोड्स एवं बिल्डिंग शाखा। लेकिन आयोग ने भारतीय सिविल सर्विस/इण्डियन सिविल सर्विस, भारतीय पुलिस सेवा/इण्डियन पुलिस, भारतीय वन सेवा/इण्डियन फॉरेस्ट सर्विस, भारतीय चिकित्सा सेवा/इण्डियन मेडिकल सर्विस और भारतीय अभियन्ता सेवा की सिंचाई शाखा/इण्डियन सर्विस ऑफ इंजीनियर्स की सिंचाई शाखा को कायम रखने की अनुशंसा और साथ ही इन सेवाओं के निरन्तर भारतीयकरण किये जाने की भी सिफारिश की थी। इसके अतिरिक्त, आयोग ने यह भी सिफारिश की कि यदि किसी विभाग का नियन्त्रण उत्तरदायी भारतीय मंत्रियों को हस्तान्तरित किया जाए तो उस विभाग में उस समय कार्यरत किसी भी ब्रिटिश पदाधिकारी को आनुपातिक पेंशन लेकर सेवानिवृत्त होने का अधिकार होना चाहिए। इन सिफारिशों को क्रियान्वित किया गया था।

1935 के भारत शासन अधिनियम; द्वारा अखिल भारतीय सेवाओं में कुछ अन्य परिवर्तन भी लाए गये। इस अधिनियम की धारा 224 के अनुसार, आई0सी0एस., आई0पी0एस0 और आई0एम0एस0; सिविल की सेवाओं को जारी रखने की व्यवस्था की गयी। 1947 में जब राज्य सत्ता का हस्तान्तरण भारतीयों को किया गया तो केवल दो अखिल भारतीय सेवाऐं अर्थात् आई0सी0एस0 और आई0पी0एस0 में ही भर्ती जारी रखी गयी और आई0एम0एस0 एस0 भर्ती को निलम्बित कर दिया गया। इनमें से आई0सी0एस0 सबसे महत्वपूर्ण और सर्वोच्च श्रेणी की सेवा थी, क्योंकि इनका वेतनमान, उच्च और अधिकार व्यापक होने के साथ-साथ सामाजिक प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त थी, इसी कारण इसे 'हेवेन बौर्न-सर्विस' और 'स्टीम फ्रेम' के नाम से भी जाना जाता था।

चूँकि ब्रिटिश सरकार अपनी शक्ति के लिए अपने लोक सेवकों पर निर्भर करती थी अतः उसने उन्हें वे सभी अनुग्रह, विशेषाधिकार तथा रियायतें प्रदान कर रखी थीं, जिनके फलस्वरूप लोक सेवा को 'एक विशेष' स्थिति प्राप्त हो गयी थी।

सत्ता हस्तान्तरण के दौरान अधिकारियों की सेवा शर्तों के सम्बन्ध में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की सन्तुष्टि के अनुरूप व्यवस्था की गयी। इस प्रकार जुलाई 1947 के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम; में समुचित गारण्टी संनगीकृत की गयी। पुरानी सेवाओं की गारण्टी देते समय नयी भारत सरकार ने इस बात की आवश्यकता का ध्यान रखा कि इन सेवाओं के स्थान पर ऐसी सेवा की स्थापना की जाए, जो भारतीयों द्वारा नियन्त्रित हों तथा जिसमें केवल भारतीय पदाधिकारी ही हों। गवर्नन जनरल की कार्यपालिका परिषद में सरदार बल्लभ भाई पटेल तत्कालीन गृह मंत्री थे,

जिनके द्वारा 1946 में ही पुरानी आई0सी0एस0 और आई0पी0एस0 के स्थान पर दो नवीन अखिल भारतीय सेवाओं के संगठन के लिए प्रान्तीय सरकारों की स्वीकृति प्राप्त कर ली गयी थी। ये दो नवीन अखिल भारतीय सेवाऐं हैं- भारतीय प्रशासनिक सेवा; आई0ए0एस0 एवं भारतीय पुलिस सेवा; आई0पी0एस0। अखिल भारतीय सेवाऐं हैं- भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई0ए0एस0)भारतीय पुलिस सेवा (आई0पी0एस0) और भारतीय वन सेवा (आई0एफ0एस0)।

14.2.2 अखिल भारतीय सेवाओं का गठन

अखिल भारतीय स्तर पर संविधान में सिविल सेवाओं के गठन की व्यवस्था की गयी है। संविधान के अनुच्छेद-312 में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है।

अनुच्छेद- 312 संसद को विधि द्वारा संघ और राज्यों के लिए सम्मिलित एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन करने की शक्ति प्रदान करता है। इसके अनुसार यदि राज्य सभा राष्ट्रहित में आवश्यक या इष्टकर समझती है तो राज्य सभा के उपस्थित और मतदान में भाग ले रहे सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा ऐसी सेवाओं का सृजन कर सकती है और इन सेवाओं की भर्ती तथा नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तो का विनियमन कर सकती है। चूँकि राज्य सभा में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं, इसलिए इसके समर्थन से नवीन सेवाओं के गठन हेतु राज्यों की सहमति सुनिश्चित हो जाती है। इसी अधिकार के अनुसार अक्टूबर 1951 में ‘अखिल भारतीय सेवा अधिनियम’ पारित किया गया।

संविधान निर्माण के बाद केवल एक अखिल भारतीय सेवा ‘भारतीय वन सेवा’ का गठन किया। जबकि भारतीय इंजीनियरिंग सेवा; सिंचाई, शक्ति, भवन निर्माण एवं सड़कें तथा भारतीय चिकित्सा व स्वास्थ्य सेवा के प्रस्ताव को अस्वीकृत किया गया।

संघ सरकार ने अखिल भारतीय सेवा अधिनियम के अनुच्छेद-3 के उप-अनुच्छेद- 1 में दिए गये अधिकारों के अन्तर्गत, पुराने नियमों के कई हिस्सों के अर्थहीन हो जाने के कारण, अखिल भारतीय सेवाओं के लिए नवीन नियम एवं उपबन्ध स्थापित किए। इस अधिनियम के प्रभावी होने के पूर्व के क्रियान्वित नियमों को जारी रखा गया, अतः इस प्रकार अखिल भारतीय सेवाओं की सेवा-शर्तो के नियमों के दो वर्ग बन गये। पहले, भारत मंत्री और काउंसिल सहित गवर्नर जनरल द्वारा बनाए गये पुराने नियम, जिनके अन्तर्गत आई0सी0एस0 एवं आई0पी0एस0 पदाधिकारियों की सेवा शर्तें निर्धारित की जाती थीं तथा दूसरे, 1951 के अधिनियम के अनुसार निर्मित नवीन नियम जो कि ‘भारतीय प्रशासनिक सेवा’ और ‘भारतीय पुलिस सेवा’ पर लागू किए गये।

1. **भारतीय प्रशासनिक सेवा-** भारतीय प्रशासनिक सेवा; आई0ए0एस0 को पुरानी भारतीय सिविल सेवा का नवीन प्रारूप कहा जा सकता है। यह सेवा अखिल भारतीय सेवा के रूप में केन्द्र सरकार के नियन्त्रण के साथ-साथ राज्य संवर्गो में भी विभाजित है, अतः यह सम्बन्धित राज्य सरकारों के भी प्रत्यक्ष नियन्त्रण में होती है। भारतीय प्रशासनिक सेवा के पदाधिकारियों का वेतन और सेवानिवृत्ति वेतन; पेंशन राज्य सरकारों द्वारा प्रदान किया जाता है, परन्तु इन पर अनुशासनिक नियन्त्रण रखने और दण्डित करने का कार्य केन्द्र सरकार द्वारा किया जाता है। केन्द्र सरकार अपना यह दायित्व संघ लोक सेवा आयोग की सलाह पर निभाती है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी केन्द्र और राज्य के बीच परिभ्रमण के नियमानुसार प्रतिनियुक्त होते हैं, जिससे केन्द्र और राज्य दोनों ही सरकारों को लाभ होता है। इस प्रणाली को सरकारी भाषा में 'अवधि प्रणाली' अथवा टेन्योर सिस्टम के नाम से जाना जाता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा की दूसरी विशेषता इसका बहुउद्देशीय स्वरूप का होना भी है। इसमें ऐसे 'सामान्यज्ञ' प्रशासक होते हैं, जिनसे समय-समय पर व्यापक विविधतापूर्ण दायित्व एवं कार्य निभाने की अपेक्षा की जाती है। उदाहरणस्वरूप कानून व्यवस्था का दायित्व, राजस्व वसूली, व्यापार, वाणिज्य या उद्योग का विनियमन, कल्याणकारी कार्यक्रम, विकास तथा प्रसार कार्य आदि। इस प्रकार भारतीय प्रशासनिक सेवा एक बहु-पक्षीय सेवा का स्वरूप ले लेती है।

अखिल भारतीय सेवाओं में से एक 'भारतीय पुलिस सेवा' स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व की सेवा है, जो कि भारतीय प्रशासनिक सेवा से निम्न दो बातों से अलग है- पहला, इसके अधिकतर अधिकारी राज्यों में ही कार्य करते हैं, कारण केन्द्र में पुलिस से सम्बन्धित अधिक पद नहीं होते हैं। दूसरा- इनका वेतनमान और स्तर आई0ए0एस0 से कम है। जबकि इस सेवा के अधिकारी भी इसी सम्मिलित अखिल भारतीय सिविल सेवा परीक्षा के माध्यम से ही नियुक्त किये जाते हैं।

भारतीय पुलिस सेवा के लिए सर्व प्रथम पाँच महीने का बुनियादी प्रशिक्षण दिया जाता है। तत्पश्चात विशेष प्रशिक्षण हेतु 'सरदार पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादमी' हैदाराबाद भेजा जाता है। जहाँ इन्हें हथियारों से सम्बन्धित प्रशिक्षण आदि भी दिया जाता है। लगभग एक वर्ष के प्रशिक्षण कार्यक्रम के पाठ्यक्रम में अपराध, मनोविज्ञान, अपराध का पता लगाने में काम आने वाले वैज्ञानिक उपकरण, भ्रष्टाचार निवारक उपाय एवं तत्काल सहायता पहुँचाने के तरीकों आदि का समावेश होता है। तत्पश्चात परिवीक्षाधीन अधिकारी को संघ लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित परीक्षा में सफलता प्राप्त करनी होती है, उसके बाद ही पुलिस उप-अधीक्षक के पद पर नियुक्ति होती है। यहाँ पर भी नियुक्ति पूर्व एक वर्षीय व्यावहारिक प्रशिक्षण का प्रावधान है।

राज्य संवर्गों में बंटा हर संवर्ग, सम्बन्धित राज्य सरकार के नियन्त्रण में होता है, जो कि मूलतः संघ सरकार के नियन्त्रण में भी होता है। पुलिस सेवा का प्रशासन गृह मंत्रालय करता है, लेकिन इसके कार्मिकों के बारे में सामान्य नीति निर्धारण कार्मिक तथा प्रशासनिक सुधार विभाग के अधीन है।

2. **भारतीय वन सेवा-** अखिल भारतीय सेवाओं में 'भारतीय वन सेवा' का गठन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद किया गया है। भारतीय वन सेवा सन् 1967 में संसद द्वारा एक अधिनियम पास किए जाने के बाद प्रारम्भ हुई। इसका वेतनमान एवं स्तर दोनों अखिल भारतीय सेवाओं आई0ए0एस0 और आई0पी0एस0 से निम्न है। इस सेवा के लिए अधिकारियों का चयन, संघ लोक सेवा आयोग द्वारा ही अलग से एक परीक्षा आयोजित करके किया जाता है। चूँकि इसकी प्रकृति एवं कार्य में विशिष्टता एवं विशेषज्ञता पायी जाती है, अतः यह सामान्य सिविल सेवा के अन्तर्गत नहीं आती है। इस सेवा का प्रबन्ध भी कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार विभाग के अधीन ही होता है, जो कि सभी अखिल भारतीय सेवाओं में नियुक्ति, अनुशासन एवं सेवा की शर्तों आदि की व्यवस्था करता है। इसका बुनियादी प्रशिक्षण मसूरी में लगभग तीन महीने का होता है। यह प्रशिक्षण इन्हें अखिल भारतीय एवं केन्द्रीय सेवाओं के चयनित अधिकारियों के साथ ही दिया जाता है। तत्पश्चात परिवीक्षाधीन अधिकारी को देहरादून स्थित 'भारतीय वन संस्थान'

में दो वर्ष का सख़्त प्रशिक्षण प्राप्त करना होता है, जिसकी समाप्ति के बाद इन्हें एक और अन्तिम परीक्षा पास करती होती है तभी इन्हें नियुक्ति मिलती है।

भारतीय वन सेवा भी अन्य अखिल भारतीय सेवाओं की भाँति संवर्ग सेवा है। इसके पदाधिकारी भी प्रतिनियुक्ति होकर केन्द्र सरकार की सेवा में आ सकते हैं, परन्तु यह अवधि पूरी होते ही इन्हें अपनी सेवा में वापस जाना पड़ता है।

14.2.3 अखिल भारतीय सेवाओं का महत्व

अखिल भारतीय सेवा देश में सर्वाधिक प्रतिष्ठा वाली सेवा है। सर्वोच्च स्थान प्राप्त होने के कारण इसका महत्व भी बढ़ जाता है। इस सेवा के पदाधिकारी प्रशासकीय शक्ति एवं अधिकारों का पूरी तरह उपयोग करते हैं। चूँकि भारत में संघीय शासन प्रणाली है। अतः इस प्रणाली द्वारा केन्द्र व राज्य दोनों ही सरकारों को लाभ होता है। साथ ही अधिकारियों को भी संघ व राज्य दोनों सरकारों की नीतियों और कार्यक्रमों से परिचय प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ये अधिकारी संघीय तथा राज्य प्रशासनों के बीच प्रशासकीय समन्वय स्थापित करने के सर्वोत्तम माध्यम सिद्ध हो जाते हैं।

यहाँ यह भी गौरतलब है कि संघीय शासन में संघ और राज्यों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बने होने चाहिए और इसके लिए सबसे महत्वपूर्ण यह है कि अधिकारी तन्त्र पर किसी एक का पूर्ण नियन्त्रण न हो। इस आवश्यकता की पूर्ति प्रशासकीय सेवा के द्वारा की जाती है। क्योंकि भारतीय प्रशासनिक सेवा पर न तो पूर्णतः केन्द्र का नियन्त्रण रहता है और न ही राज्य का नियन्त्रण रहता है। इस सेवा के द्वारा नियुक्त पदाधिकारी को राज्य संवर्ग प्राप्त होता है, जो 'अवधि प्रणाली' (टेन्योर सिस्टम) के अन्तर्गत केन्द्र या अन्य राज्य में प्रतिनियुक्त किए जाते रहते हैं।

अखिल भारतीय सेवाओं में भर्ती प्रक्रिया के अर्न्तगत भारत में अखिल भारतीय तथा केन्द्रीय सेवाओं में भर्ती का कार्य संघ लोक सेवा आयोग, नई दिल्ली द्वारा परीक्षाओं के संचालन के माध्यम से किया जाता है। विदित हो कि 1979 से पहले सिविल सेवा की केवल एक परीक्षा होती थी। 1975 में सरकार द्वारा प्रो0 डी0एस0 कोठारी की अध्यक्षता में नियुक्त समिति की अनुशंसा के आधार पर, 1979 से सिविल सेवा की प्रारम्भिक परीक्षा प्रारम्भ हुई, जिसका उद्देश्य प्रधान परीक्षा/मुख्य परीक्षा के लिए उम्मीदवारों का चयन, छटनी या स्क्रीनिंग करना है। यह परीक्षा प्रायः जून में आयोजित होती है। सिविल सेवा की प्रधान/मुख्य परीक्षा; लिखित और साक्षात्कार द्वारा विभिन्न अखिल भारतीय और केन्द्रीय सेवाओं के पदों के लिए उम्मीदवारों का चयन किया जाता है। यह प्रधान/मुख्य परीक्षा प्रायः दिसम्बर माह में होती हैं। इस परीक्षा में बैठने की न्यूनतम उम्र 21 वर्ष और अधिकतम 30 वर्ष है।

14.2.4 अखिल भारतीय सेवाओं के कार्मिकों का प्रशिक्षण एवं उसका महत्व

भारत सरकार के कार्यक्षेत्र में निरन्तर वृद्धि तथा प्रशासकीय कार्यों के अत्यन्त प्राविधिक, विशिष्टि तथा जटिल रूप धारण करने के कारण लोक सेवकों का प्रशिक्षण बहुत अधिक महत्व रखता है। लोक प्रशासन में प्रशिक्षण का अर्थ कार्मिकों के पदों से सम्बन्धित ज्ञान तथा कौशल में सुधार अथवा वृद्धि के लिए किया गया प्रयास है। साथ ही यह कार्मिकों के दृष्टिकोण तथा मूल्यों को एक खास दिशा में उन्मुख करने का एक माध्यम है।

भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग की रिर्पोट के अनुसार 'प्रशिक्षण मानवीय साधनों में निवेश है। यह मानवीय क्षमता को सुधारने और सेवीवर्ग की कुशलता बढ़ाने का महत्वपूर्ण साधन है।'

अमरीका की 'सेवायोजन समिति' की रिर्पोट के अनुसार प्रशिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है, जो मुख्य रूप से लोक सेवक में वर्तमान तथा भावी कार्य को सम्पन्न करने के लिए गतिशीलता देती है। वह उपयुक्त स्वभाव, विचार, क्रिया, ज्ञान और दृष्टिकोण का उसी के अनुरूप विकास करती है।

अखिल भारतीय और केन्द्रीय सेवाओं के लिए चुने गये प्रत्याशियों को पॉच महीने के आरम्भिक प्रशिक्षण देने के उपरान्त उन्हें उनकी सेवा के अनुरूप विभिन्न संस्थानों में विशेष प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की जाती है।

आरम्भिक प्रशिक्षण में सिविल सेवाओं के लक्ष्य, कर्त्तव्य तथा पेशे की नैतिकता सम्बन्धित सूचनाएं प्रदान की जाती हैं। इनके पाठ्यक्रम का महत्वपूर्ण उद्देश्य उच्च सेवाओं के अधिकारियों को देश के संवैधानिक, आर्थिक व सामाजिक स्वरूप की जानकारी प्रदान करना होता है, जिसके अन्तर्गत उन्हें कार्य सम्पादित करना होगा एवं नीति और उनसे जुड़े कार्यक्रमों का निर्धारण कर उन्हें निर्मित एवं लागू करने के कार्य में योगदान देना होगा। प्रशिक्षण का उद्देश्य इन अधिकारियों को सरकारी तन्त्र एवं लोक प्रशासन के व्यापक सिद्धान्तों की जानकारी देना भी है और साथ-साथ इस प्रकार के प्रशिक्षण से विभिन्न सेवाओं के अधिकारियों के मध्य न केवल समान जनसेवा की भावना पैदा होती है, बल्कि व्यापक रूप से समान दृष्टिकोण के प्रति जुड़ाव भी पैदा हो जाता है।

पॉच महीने से इस बुनियादी पाठ्यक्रम के बाद आई0ए0एस0 को छोड़कर अन्य सेवाओं के परिवीक्षाधीन अधिकारी अपनी-अपनी सेवाओं के अनुरूप संस्थागत प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं में अग्रसर किये जाते हैं परन्तु आई0ए0एस0 के परिवीक्षाधीन अधिकारी अकादमी में ही संस्थागत प्रशिक्षण के दूसरे पाठ्यक्रम में प्रवेश कर जाते हैं।

द्वितीय चरण, व्यावहारिक प्रशिक्षण; राज्य, बुनियादी प्रशिक्षण प्रथम चरण; 5 माह, सेंडविच पाठ्यक्रम, नवीन प्रशिक्षण प्रणाली।

'भारतीय प्रशासनिक सेवा' हेतु 1969 से सरकार द्वारा 'सेंडविच पाठ्यक्रम' जैसे नवीन प्रशिक्षण का आरम्भ किया जा चुका है। इसके अन्तर्गत पहले चरण तथा बुनियादी पाठ्यक्रम के मध्य अधिकारी को राज्य में व्यावहारिक प्रशिक्षण हेतु भेजा जाता है, यह वह राज्य होता है, जिसका उसे संवर्ग प्राप्त है। तत्पश्चात दूसरे चरण में फिर प्रशिक्षण हेतु अकादमी भेजा जाता है। इस प्रकार पूरे प्रशिक्षण में उसे व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसके उपरान्त प्रशिक्षण सम्बन्धी अन्य नियमों को पूरा करने के बाद ही नियुक्ति होती है।

सन् 1970 तक भारत सरकार का कार्मिक प्रबन्ध देखने वाली मुख्य एजेन्सी गृह मंत्रालय थी, जो कि वित्त मंत्रालय के साथ मिल-जुलकर सार्वजनिक सेवाओं का प्रबन्धन करती थी। इसके अन्तर्गत सामान्य सेवा-शर्तें गृह मंत्रालय द्वारा निर्धारित होती थी तथा वित्त सम्बन्धी सेवा शर्तें वित्त मंत्रालय के द्वारा निर्धारित की जाती थीं। परन्तु गृह मंत्रालय कार्मिक प्रबन्ध की मुख्य एजेंसी थी, अतः अखिल भारतीय सेवाओं पर इसका सम्पूर्ण नियन्त्रण था। मंत्रालय विभिन्न सेवाओं में चयन, अनुशासन एवं सेवा शर्तों के समान स्तर को कायम रखने हेतु सभी सेवाओं पर एक समान रूप से लागू होने वाले विषयों की देख-रेख किया करता था। 1970 के बाद गृह मंत्रालय के कार्मिक विभाग द्वारा 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' एवं 'भारतीय वन सेवा' का प्रबन्धन किया जाने लगा तथा 'भारतीय पुलिस सेवा' का प्रबन्धन कार्य गृह मंत्रालय द्वारा ही किया जता है।

14.3 केन्द्रीय सेवाऐं

केन्द्रीय सेवाऐं, वो सिविल सेवाऐं हैं जो पूरी तरह केन्द्र सरकार के अधीन होती हैं, जबकि अखिल भारतीय सेवाओं पर केन्द्र का पूर्णतः नियन्त्रण नहीं होता है। केन्द्रीय सेवा भी राष्ट्रीय स्तर की सेवा में नियुक्ति तथा सेवा

शर्तों के सम्बन्ध में कानून संसद बनाती है। इस सेवा के अन्तर्गत शामिल सेवाऐं हैं- भारतीय राजस्व सेवा, भारतीय रेलवे लेखा सेवा, भारतीय चुंगी तथा केन्द्रीय आबकारी सेवा, भारतीय लेखा तथा संपरीक्षा सेवा, भारतीय प्रतिरक्षा लेखा सेवा, भारतीय डाक सेवा, भारतीय रेलवे यातायात सेवा, सैन्य भूमि एवं छावनी सेवा, भारतीय आयुध कारखाना सेवा तथा केन्द्रीय सूचना सेवा।

केन्द्र सरकार की सविल सेवाओं में नियमित केन्द्रीय सिविल सेवाऐं तथा इनके अतिरिक्त ऐसे बाहरी सिविल पद होते हैं, जिन्हें मिलाकर इसे सामान्य केन्द्रीय सेवा कहा जाता है। इस सेवा के कर्मचारी राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर बने रहते हैं। केन्द्रीय सिविल सेवाओं और अन्य सिविल पदों को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है- प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ। इनमें से प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी की केन्द्रीय सेवाओं में भर्ती संघ लोक सेवा-आयोग द्वारा आयोजित 'अखिल भारतीय सिविल सेवा परीक्षा' के माध्यम से होती है।

14.3.1 केन्द्रीय सेवाओं में प्रशिक्षण

केन्द्रीय सेवाओं में प्रथम श्रेणी के पद हेतु 'लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासनिक अकादमी' मसूरी में पाँच महीने का बुनियादी/अथवा आरम्भिक पाठ्यक्रम पूरा करना होता है। तत्पश्चात अपनी-अपनी सेवाओं के अनुरूप अन्य संस्थानों में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है, जहाँ पर उनको सेवा के अनुरूप ही प्रशिक्षण देने की व्यवस्था होती है। इसी दौरान इन्हें व्यावहारिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है, जिसके उपरान्त परिवीक्षाधीन अधिकारी को एक विभागीय परीक्षा पास करनी होती है, जिसके विषय उसकी सेवा से सीधे सम्बन्धित होते हैं। फिर इनकी नियुक्ति कर दी जाती है।

केन्द्रीय सेवाओं की सेवा-शर्तों के निर्धारण का कार्य कार्मिक विभाग का है तथा वित्त मंत्रालय द्वारा इन पदों के वेतनमान तथा अन्य वित्तीय पक्षों जैसे- वेतन निर्धारण, वेतन वृद्धि की मंजूरी, पेंशन, ग्रेच्युटी एवं भविष्य निधि में अंशदान आदि विषयों को देखा जाता है।

14.3.2 भारतीय विदेश सेवा

भारतीय विदेश सेवा, प्रथम श्रेणी की एक केन्द्रीय सिविल सेवा है। इस सेवा का गठन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद किया गया एवं इस पर पूर्णतः केन्द्र सरकार का नियन्त्रण होता है। अखिल भारतीय सिविल सेवा परीक्षा के प्रथम श्रेणी के सफल उम्मीदवारों को इस सेवा में नियुक्त किया जाता है। सिविल सेवाओं में इस सेवा को सर्वाधिक सम्मान, प्रतिष्ठा, उच्चस्तर, वेतन तथा भत्ते मिलते हैं। इसके अधिकारियों को विदेशों में भारतीय मिशनों एवं दूतावासों में नियुक्त किया जाता है।

भारतीय विदेश सेवा का प्रबन्धन विदश मंत्रालय के पास होता है। जिसमें कार्मिक विभाग एवं वित्त मंत्रालय भी शामिल है। भारतीय विदेश सेवा के नवनियुक्त अधिकारी का प्रशिक्षण कार्यक्रम तीन वर्ष का होता है, जिसके अन्तर्गत इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राजनय, भूगोल आदि विषयों की जानकारी दी जाती है तथा इन्हें आई.ए.एस. के परिवीक्षाधीनों के साथ 'संस्थागत प्रशिक्षण' भी दिलाया जाता है। इनके प्रशिक्षण कार्यक्रम में मुख्यतः जिले के व्यावहारिक कार्य, सचिवालय सम्बन्धी कार्य तथा भाषाओं से सम्बन्धित प्रशिक्षण कार्यक्रम शामिल होता है।

14.4 भर्ती एवं प्रशिक्षण

पिछले अध्याय में 'लोक सेवाओं के बारे में विस्तृत चर्चा की जा चुकी है, जो कि कार्मिक प्रशासन का अभिन्न अंग है। 'भर्ती' वह प्रक्रिया है जिसमें परोक्ष रूप से संगठन का भविष्य निहित होता है, क्योंकि प्रत्येक संगठन की सफलता एवं कुशलता कार्मिकों की पर्याप्तता पर आश्रित रहती है। किसी भी देश के लिए, जो कि लोक सेवाओं

के लिए कुशल अधिकारियों व कर्मचारियों को प्राप्त करना चाहता है, अत्यन्त आवश्यक है कि वह भर्ती की एक सुदृढ़ एवं युक्तिसंगत नीति अपनाये।

14.4.1 भर्ती का अर्थ

सामान्य अर्थ में 'भर्ती' शब्द को नियुक्ति का समानार्थक माना जाता है। परन्तु, यह सही नहीं है। प्रशासन की तकनीकी शब्दावली में भर्ती का अर्थ किसी पद के लिए समुचित तथा उपयुक्त प्रकार के उम्मीदवारों को आकर्षित करना है।

भर्ती से आशय भावी कर्मचारियों को खोजने एवं उन्हें संगठन में रिक्त कृत्यों के लिए आवेदन करने हेतु प्रोत्साहित करने की प्रक्रिया है।

इडविन बी0 फिलिप्पो के अनुसार, भर्ती का आशय प्रयाप्त मानवशक्ति स्रोतों का विकास करना एवं उनको बनाये रखना है। इसमें उपलब्ध कार्मिकों का एक निकाय स्थापित करना भी सम्मिलित है, ताकि संगठन में अतिरिक्त कार्मिकों की आवश्यता पड़ने पर प्राप्त किया जा सके।

डेल ए0 बीच ने भर्ती एक ऐसी प्रक्रिया माना गया है, जिसके द्वारा कार्य करने को तत्पर भावी कार्मिकों का पता लगाया जाता है और उन्हें नौकरी के लिए आवेदन-पत्र देने को प्रोत्साहित किया जाता है। अतः भर्ती का कार्य संगठन में उपेक्षित मानव शक्ति के पूर्वानुमान बनाये जाने के उपरान्त सम्पादित किया जाता है।

निषेधात्मक और निश्चयात्मक भर्ती की विचारधारा राजनैतिक प्रभाव को समाप्त करने अथवा पक्षपात को रोकने के उद्देश्य से यदि भर्ती की जाती है तो इसे निषेधात्मक विचारधारा का नाम दिया जाता है। प्रारम्भ में जब 'योग्यता प्रणाली' ने 'लूट प्रणाली' का स्थान ग्रहण कर लिया था तो लोक सेवा आयोग को 'लूट की राजनीति' को समाप्त करने का एक अस्त्र समझा जाता था। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु भर्ती प्रक्रिया में सभी व्यक्तियों को लोक सेवा के लिए खुले बाजार में प्रतियोगिता करने के लिए योग्य वर्ग वंचित रह जाता, क्योंकि भर्ती की प्रक्रिया खुले रूप में हो रही थी।

कालान्तर में 'लूट प्रणाली' के द्वारा किये गये निर्णयों पर अंकुश लगने के साथ-साथ भर्ती के सम्बन्ध में सर्वश्रेष्ठ एवं सबसे योग्य सक्षम व्यक्ति को प्राप्त करने पर बल दिया जाने लगा। कार्मिक-वर्ग का चुनाव करने वाला अभिकरण सक्रिय होकर योग्य एवं सर्वोत्तम अर्हताओं वाले व्यक्तियों को चुनने लगा। इस विचारधारा को निश्चयात्मक भर्ती की संज्ञा दी जाती है।

14.4.2 भर्ती प्रणाली के महत्व एवं मूल सिद्धान्त

किसी भी संगठन में भर्ती की प्रक्रिया का अत्यधिक विशेष महत्व होता है। इसके द्वारा ही लोक सेवाओं का स्तर एवं योग्यता सुनिश्चित की जाती है और प्रशासनिक संरचना में परिवर्तन लाया जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो भर्ती प्रणाली द्वारा ही प्रशासनिक मशीनरी को जनकल्याणकारी तथा समाजोन्मुख बनाया जाता है। भर्ती ही लोक सेवा का आधार होती है, जो इसे लक्ष्य तक पहुँचाती है, क्योंकि राज्य में सरकार के कल्याणकारी दायित्वों की पूर्ति लोक सेवाओं के माध्यम से होती है। अतः योग्यता आधारित, निष्पक्ष तथा व्यावहारिक भर्ती प्रणाली का महत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है।

ओ0 ग्लेन स्टॅाल ने अपनी महत्वपूर्ण रचना में कहा है 'भर्ती सम्पूर्ण लोक सेवाओं के ढॉचे की आधार शिला है।'' उन्होंने भर्ती को कार्मिक ढॉचे का 'कॉर्नर स्टोन' कहा है। वास्तव में भर्ती की प्रक्रिया में आधारभूत सामग्री उचित होनी चाहिए एवं साथ-साथ यह प्रक्रिया जितनी ईमानदारी से होगी, प्रशासन की सफलता उतनी ही अधिक होगी।

भारत में आधुनिक लोक सेवाओं की शुरूआत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के दौरान सन् 1853 के राजलेख के माध्यम से हुई थी। हालांकि इसके पहले भी लोक सेवाऐं थीं, किन्तु उनमें भर्ती का आधार नितांत स्वैच्छित था। जबकि 1853 से योग्यता का सिद्धान्त को अपनाया गया। भारत में भर्ती प्रणाली के मूल सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

1. सिविल सेवाओं में भर्ती योग्यता के आधार पर की जाती है। योग्यता की परख खुली प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से होती है। जिसको संचालन कराने का संवैधानिक कार्य 'लोक सेवा आयोग' संस्था का है।
2. लोक सेवा आयोग; भर्ती हेतु संस्था को निर्मित करने में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि यह संस्था राजनीतिक प्रभावों से दूर रहकर एवं निष्पक्ष होकर भर्ती का कार्य करे।
3. भारत में भर्ती की दो प्रक्रियाऐं हैं- प्रत्यक्ष भर्ती और पदोन्नति द्वारा भर्ती। प्रायः पदोन्नति द्वारा भरे जाने वाले पदों का अनुपात सेवा की प्रकृति पर निर्भर करता है।

अखिल भारतीय सेवाओं के 33 प्रतिशत पद राज्य प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारियों में से पदोन्नति द्वारा भरे जाते हैं। संघ लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से, अखिल भारतीय सेवाओं में से अनेक सेवाओं, जैसे- भारतीय विदेश सेवा, भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा और केन्द्रीय सेवाओं की विभिन्न श्रेणियों के लिए एक ही परीक्षा आयोजित होती है। इसमें बैठने वाले की आयु वर्तमान में नवीन सरकार द्वारा प्रत्याशी की उच्चतम आयु 26 वर्ष से बढ़ाकर 30 वर्ष कर दी है। ब्रिटिश 'सामान्य'; जनरल प्रणाली पर आधारित इस परीक्षा में विश्वविद्यालय की स्नातक उपाधि वाला; बी0ए0/बी0एस0सी0 या समकक्ष उपाधि का प्रत्याशी बैठ सकता है। इसके अन्तर्गत पहले एक उच्च स्तर की लिखित परीक्षा ली जाती है, जिसमें प्रत्याशी की बौद्धिक क्षमता एवं किताबी जानकारी का अनुमान लगाया जाता है, तत्पश्चात संघ लोक सेवा आयोग साक्षात्कार के रूप मे व्यक्तित्व एवं चरित्र को आंकने हेतु परीक्षा लेता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा में चयन हेतु तीन परीक्षाऐं आयोजित की जाती हैं- प्रारंभिक परीक्षा, मुख्य परीक्षा और साक्षात्कार।

- आयु- भारतीय नागरिक,जिसकी न्यूनतम आयु 21 वर्ष, अधिकतम आयु के सम्बन्ध में भिन्नता है। सामान्य के लिए 30 वर्ष, पिछड़ा वर्ग के लिए 35 वर्ष, अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए 35 वर्ष शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति के लिए 40 वर्ष निर्धारित है।
- शैक्षिक योग्यता- किसी मान्यता प्राप्त संस्था से स्नातक उपाधि प्राप्त हो ,मुक्त और दूरस्थ शिक्षा से प्राप्त डिग्री सामान रूप से मान्य होगी।
- परीक्षा के अवसर- सामान्य को चार अवसर, पिछड़ा वर्ग को सात अवसर, अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए कोई सीमा नहीं और शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति के लिए सात अवसर होते हैं। परीक्षा के लिए आवेदन करने वाले यदि परीक्षा में भाग नहीं लेते तो वह अवसर के रूप में नहीं गिना जायेगा। परन्तु यदि प्रारंभिक परिक्षा का एक प्रश्न-पत्र दे देते हैं तो वह एक अवसर माना जायेगा।

14.4.3 भर्ती की रीतियाँ

भर्ती दो प्रकार से की जाती है। प्रत्यक्ष एवं पदोन्नति, सरकारी कर्मचारी-वर्ग की भर्ती दोनों उपरोक्त तरीकों से की जाती है। जब योग्य उम्मीदवारों का चयन खुला रखा जाय तो प्रत्यक्ष भर्ती अथवा सीधी भर्ती कहा जाता है। इसके विपरीत विभाग में कार्यरत कार्मिकों तक ही सीमित करते हुए उन्हें उच्च पद आसीन करने की प्रक्रिया को

पदोन्नति कहते हैं। इसे सेवा के अन्दर से की जाने वाली भर्ती कहा जाता है। प्रत्यक्ष भर्ती की प्रणाली का गुण लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के अनुरूप है, जिसमें समस्त योग्य व्यक्तियों को सेवा पद प्राप्त करने का समान अवसर प्रदान होता है। दूसरा गुण है कि इस प्रकार के भर्ती प्रक्रिया के द्वारा अधिक विस्तृत स्रोतों के माध्यम से योग्य एवं प्रतिभाशाली लोगों को लोक सेवक बनने का अवसर प्रदान होता है।

अखिल भारतीय सेवाऐं अपने आप में एक अलग वर्ग है। उनके लिए अधिकांश भर्ती प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर प्रत्यक्ष रीति से की जाती है। दोनों प्रकार के भर्ती प्रक्रिया में गुण एवं दोष दिखते हैं। उदाहरणार्थ सीधी भर्ती वाला कम आयु का होकर अपने अधीनस्थ को जो आयु में बड़ा है, आदेश का अनुपालन सुनिश्चित कराने की सत्ता रखता है।

वहीं दूसरी तरफ पदोन्नति पाने वाला सेवीवर्ग आधिक कार्य अनुभव एवं आयु का आधार होता है। फलस्वरूप नई भर्ती को संगठन के वातावरण, कार्य-शैली एवं संगठन के प्रति निष्ठा का अनुभव प्राप्त होता है। इनके द्वारा नई प्रत्यक्ष भर्ती को मार्गदर्शन भी प्राप्त होता है, जो कि हमारे समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

व्यावहारिक अनुभव से यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष भर्ती एवं पदोन्नति की रीति में से किसी से भी अकेले ही काम नहीं चल सकता। यदि उच्चतर पदों पर बाहर से बड़े पैमाने पर भर्ती की जाये तो यह सेवाओं के भीतर उपलब्ध योग्यता एवं प्रतिभा का निरादर है और उससे सेवाओं में आजीवन व्यवसाय की धारणा को ठेस लगती है। इसके विपरीत, प्रत्यक्ष भर्ती की पद्धति न अपनाये जाने से भी सेवा का विकास बांधित होता है, क्योंकि उस स्थित में सेवाओं के भीतर आत्मसंतोष की भावना उत्पन्न हो जायेगी और वे प्रतिभागी बन जायेगी।

14.4.4 चयन

चयन, भर्ती का दूसरा सोपान है। आवेदक के आवेदन-पत्र प्राप्त होने के पश्चात यह प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। योग्यतम अभ्यर्थी का चयन करके उसे नियुक्ति के लिए प्रमाणित किया जाता है। कार्मिक प्रशासन के इतिहास में चयन प्रक्रिया में तीन प्रकार की प्रणाली का प्रयोग होता था। ये प्रकार थे- पदों की नीलामी, संरक्षण प्रथा एवं लूट प्रथा।

पदों की नीलामी, फ्रांस में क्रान्ति के पहले पदों की नीलामी होती थी और उच्चतम बोली बोलने वाले को पद दिया जाता था। वर्तमान के सन्दर्भ में यह हास्यापद लगता है, परन्तु इस प्रकार की प्रक्रिया राज्य को आय स्रोत माना जाता था।

संरक्षण प्रथा, अधिकांश राज्यों में संरक्षण प्रथा के माध्यम से कार्मिकों का चयन किया जाता था। इस प्रणाली में वे ही अभ्यर्थी योग्य होते थे जो व्यक्तिगत अथवा राजनीतिक दृष्टिकोण से बहुत प्रिय होते थे।

लूट प्रथा, संयुक्त राज्य अमेरिका में यह प्रचलन प्रारम्भ से ही प्रचलित था। इस प्रथा के अन्तर्गत वे ही कार्मिक योग्य पाये जाते थे, जिनके समर्थन एवं सहयोग से राजनीतिक दल विजयी होता था। जीतने के उपरान्त सत्ताधारी दल अपने ही समर्थकों को पदों पर नियुक्त करते थे। जब कभी अगले चुनाव में राजनीतिक दल जीतता था तो वह पहले वाले विरोधी सभी कार्मिकों को पदच्युत कर देता था।

कालान्तर में जैसे-जैसे लोकतन्त्र विश्व में व्याप्त होता गया, उपरोक्त प्रकार के भर्ती प्रक्रिया पर प्रश्न चिन्ह उठने लगा। अंततः इस प्रकार के भर्ती स्वरूप में बदलाव आया और योग्यता प्रणाली को अपनाया गया। थोड़े ही समय में यह योग्यता प्रणाली सर्वव्यापक रूप से पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गयी।

14.4.5 योग्यता प्रणाली का मापदण्ड

अधिकांश राष्ट्रों में अधिकतर नियुक्तियाँ योग्यता के आधार पर ही की जाती है। कुछ राष्ट्र अपवाद हो सकते है। योग्यता का आंकलन परीक्षण के माध्यम से होता है। अभ्यार्थियों की तुलनात्मक योग्यता और उपयुक्तता की जाँच करने के लिए चार प्रकार के परीक्षण प्रचलित है। लिखित परीक्षा, मौखिक परीक्षा अथवा साक्षात्कार, कार्य कुशलता का प्रत्यक्ष प्रर्दशन तथा शिक्षा एवं अनुभव के मूल्यांकन द्वारा तुलनात्मक चयन।

लिखित परीक्षा, का प्रत्याशियों की योग्यताओं की जाँच करने के लिए सभी देशों द्वारा आमतौर पर उपयोग किया जाता है। हमारे देश में इस परीक्षा का उद्देश्य यह है कि प्रत्याशियों की सामान्य बुद्धिमत्ता अथवा श्रेष्ठता के ज्ञान का पता लगाया जाय। परीक्षाऐं उन विषयों में ली जाती हैं, जो कि स्नातक एवं स्नात्कोत्तर में पढ़ाए जाते हैं। इस प्रकार की परीक्षा के समर्थकों का यह विश्वास है कि श्रेष्ठतर वुद्धि एवं ज्ञान वाले व्यक्ति हर प्रकार का कार्य कर सकते हैं और अपने आपको सभी परिस्थितियों के अनूकूल बना सकते हैं। मैकाले इसी विचारधारा के समर्थक थे।

लिखित परीक्षा में लघु उत्तरीय लिखित परीक्षा द्वारा प्रत्याशी को प्रश्न-पत्र में सौ या अधिक प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते हैं। इन प्रश्नों का स्वरूप बहु विकल्पीय उत्तरों पर आधारित होता है। एक प्रश्न के चार उत्तर होते हैं, इन्हीं में से सही उत्तर को निशान लगाना होता है।

निबन्धात्मक परीक्षा में प्रत्याशी को इस प्रकार की प्रणाली में पुछे गये प्रश्नों का उत्तर विस्तृत रूप में लिखना पड़ता है। ये वर्णनात्मक एवं विवेचनात्मक प्रकृति के निबन्ध की परीक्षा होती है। अतः परीक्षा प्रणाली से प्रतिभागी के भावनात्मक तत्व का आंकलन किया जाता है।

लिखित परीक्षा के आधार पर प्रतियोगियों के व्यक्तित्व का पूर्ण परिचय नहीं हो पाता है। अभ्यर्थी लिखित परीक्षा में योग्य सिद्ध हो सकता है, तथापि उसके भीतर धैर्य, अभिक्रम, सर्तकता, निर्णायक क्षमता एवं कार्य करने की गति का सर्वथा अभाव है। जबकि ये गुण एक लोक सेवी के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है। इस प्रकार से लिखित परीक्षा के उपरान्त मौखिक परीक्षा के द्वारा ही उम्मीदवार का सही मूल्यांकन संभव है।

तकनीकी कार्यों अथवा व्यवसायिक रोजगार के लिए कर्मचारियों की भर्ती करते समय सम्पन्नता अथवा कार्य कुशलता की परीक्षा विधि का उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ मुद्रालेखकों, आशुलिपिकों अथवा तकनीकी कार्यों को करने की अपनी प्रवीणता एवं कुशलता का प्रदर्शन करना होता है। प्रत्याशी के चुनाव के लिए उसकी शैक्षणिक योग्यताओं एवं अनुभव का भी मूल्यांकन किया जाता है। ऐसे मूल्यांकन पद्धति में अभ्यर्थी के शारीरिक जाँच भी की जाती है। फलस्वरूप कार्मिक शारीरिक रूप से स्वथ्य है और अपने दायित्वों का निर्वाहन सुचारू रूप से सम्पन्न करेगा।

14.4.6 प्रशिक्षण

प्रशिक्षण, कर्मचारी को यथार्थता का पाठ पढ़ाने, आत्म निर्भर तथा स्वतंत्र बनाने और उसमें निर्णय की क्षमता उत्पन्न करने के लिए प्रशिक्षण बड़ा महत्वपूर्ण है। लोक सेवकों के प्रशिक्षण पर सन् 1944 में ग्रेट ब्रिटेन में गठित समिति ने कुछ उद्देश्य तथा सिद्धान्त निर्धारित किये थे। प्रशिक्षण के पॉच मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. प्रशिक्षण के द्वारा लोक सेवकों को कार्य निष्पादन की यर्थाथता एवं शुद्धता को सत्य के रूप में स्वीकार करने लायक बनाये।
2. परिवर्तनशील परिस्थितियों में लोक सेवक अपने आप को समयानुकूल कार्य निष्पादन करने के लिए उपयुक्त हों।

3. लोक सेवक यन्त्रवत न बने रहें। अपने विभाग द्वारा समाज के लिए सम्पादित की जाने वाली सेवा से उसके कार्य का क्या सम्बन्ध हैं? वह अपने विस्तृत संगठन में क्या कार्य सम्पन्न कर रहा है?
4. प्रशिक्षण किसी एक कार्य को सम्पन्न करने के लिए नहीं होना चाहिए वरन् अन्य कार्यों के कुशल निष्पादन हेतु भी तैयार करें।
5. कर्मचारी-वर्ग के मनोबल की ओर गम्भीरता से विचार करें।

14.4.7 प्रशिक्षण के प्रकार

प्रशिक्षण के कुछ महत्वपूर्ण प्रकार निम्नलिखित हैं-

1. **औपचारिक औरअनौपचारिक प्रशिक्षण-** विभागाध्यक्षों द्वारा प्रदत्त प्रशिक्षण जो भाषण अथवा अनुदेशों के रूप में होता है, औपचारिक प्रशिक्षण कहलाता है। यह औपचारिक प्रशिक्षण कुछ प्रवीणताओं तथा कार्यविधियों से सम्बन्धित वास्तविक अनुदेशों के रूप में होता है। कर्मचारी को विभाग की कार्य प्रणाली, उसके कार्यों की प्रकृति तथा उस आचार संहिता के बारे में दिये जाते हैं, जिसका कि उसे कार्यालय में पालन करना होता है। कार्य सम्पादन करते-करते जो अनुभव कर्मचारी को प्राप्त होता है, उसको अनौपचारिक प्रशिक्षण कहते हैं। जब वह अपना कार्य सम्पादित करता है, तो उसके बारे में अनेक बातों की जानकारी प्राप्त होती है। लोक प्रशासन में यही परम्परागत प्रशिक्षण होता चला आया है।
2. **अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन प्रशिक्षण-** समय की अवधि इस कौशल की सरलता अथवा कठिनता पर अवलम्वित होती है। सेवीवर्ग के अवधि प्रकृति के बारे में ध्यान रखा जाता है, स्थायी है अथवा अस्थाई।
3. **प्रवेश पूर्व या सेवाकालीन प्रशिक्षण-** सेवा में प्रविष्ट होने से पूर्व जो प्रशिक्षण दिया जाता है, उससे भर्ती के लोग भावी सेवा कार्य के लिए तैयार होते हैं। दूसरे शब्दों में स्कूल कालेजों की सभी शिक्षाऐं पूर्व प्रवेशीय प्रशिक्षण हैं, क्योंकि इस प्रकार भी लोग प्रायः राजकीय सेवाओं के लिए तैयार किये जाते हैं। उदाहरण के रूप में इंजिनीयरिंग, मेडिकल संस्थाऐं आदि। सेवाकालीन प्रशिक्षण उन लोगों के लिए होते हैं, जो पूर्व से ही सेवा में लगे होते हैं। इस प्रकार के प्रशिक्षण का उद्देश्य कार्य का समुचित एवं श्रेष्ठतम निष्पादन है। ऐसा प्रशिक्षण पदोन्नति के लिए भी आवश्यक होता है। सेवाकालीन प्रशिक्षण तभी दिया जाता है जब वे नौकरी में प्रवेश पा लेते हैं।
4. **विभागीय प्रशिक्षण-** जब स्वतः कार्यालय या विभाग में ही प्रशिक्षण का प्रबन्ध होता है, तब इसको विभागीय प्रशिक्षण कहते हैं। प्रत्येक विभाग अपनी विशेष आवश्यकताओं के अनुसार प्रशिक्षण करता है। इसी प्रकार भारतीय सेवा के लिए प्रशिक्षण संस्था दिल्ली में खोली गयी थी। वह अब मसूरी में है और इसको प्रशासनिक राष्ट्रीय अकादमी के नाम से जानते हैं।
5. **कौशल प्रशिक्षण-** इस प्रशिक्षण का उद्देश्य कर्मचारियों में उस विशेष योग्यता को उत्पन्न करना है, जो विशेष विभागों में सहायक हो सकता है। उदाहरण के लिए शिक्षकों का प्रशिक्षण, इसका उद्देश्य अध्यापन प्रणाली सिखाना है। भारत में भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय विदेश सेवा, भारतीय पुलिस सेवा, भारतीय लेखा प्रशिक्षण तथा लेखा सेवा, आयकर सेवा, केन्द्रीय सचिवालय सेवा प्रशिक्षण संस्थान हैं, जो प्रशिक्षण का कार्य सम्पन्न करते रहते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासनिक अकादमी मसूरी में है। सत्य/असत्य
2. 'लूट पद्धति' की शुरूआत कहाँ हुई?
3. भारत में भर्ती कितने प्रकार से की जाती है?

14.5 सारांश

उपरोक्त अध्याय के अध्ययन पश्चात हम अखिल भारतीय सेवाओं के स्वरूप से भली-भाँति परिचित हो चुके होंगे। साथ ही साथ केन्द्रीय सेवाओं का भी वर्णन किया गया है। भर्ती एवं प्रशिक्षण को भी लिपिबद्ध किया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमने भारत में प्रचलित अखिल भारतीय सेवाओं, केन्द्रीय सेवाओं के बारे में जानने का अवसर प्राप्त हुआ है।

साथ ही साथ राज्यों के लिए, राज्य लोक सेवाओं के बारे में जाना है और इसके साथ में हमने यह भी देखा है कि भारत में लोक सेवकों की भर्ती के कौन से तरीके अपनाये जाते हैं। इसी क्रम में हमने यह जाना है कि पदोन्नति भी भर्ती का एक तरीका है।

14.6 शब्दावली

आई0ए0एस0- भारतीय प्रशासनिक सेवा, आई0पी0एस0- भारतीय पुलिस सेवा, आई0एफ0एस0- भारतीय वन सेवा, आई0एफ0एस0- भारतीय विदेश सेवा, भर्ती- नियुक्ति का समानयिक अर्थ।

14.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.सत्य, **2.** संयुक्त राज्य अमेरिका, **3.** दो प्रकार,

14.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. एस0 डब्लू0 एवं केरने आर0 सी0- लोक कार्मिक।
2. शर्मा एवं सडाना- लोक प्रशासन।
3. योडर, डेल- कार्मिक प्रबन्धन एवम औद्योगिक सम्बन्ध।

14.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. गोयल एस0एल0- पब्लिक परसोनेल एडमिनिस्ट्रेशन।
2. कटारिया सुरेन्द्र- कार्मिक प्रशासन।
3. शर्मा एवं जैन- लोक सेवी वर्गीय प्रशासन।

14.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना के कारकों की व्याख्या कीजिए।
2. सेवीवर्ग नीति की परिभाषा दीजिए। सेवीवर्ग प्रशासन में इसके महत्व की व्याख्या कीजिए।
3. लोक कार्मिक प्रशासन में भर्ती अभिकरणों के कार्य एवं भूमिका की विवेचना कीजिए।
4. प्रशिक्षण से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न प्रकार क्या हैं?

इकाई- 15 जन शिकायत निवारण, लोकपाल तथा लोक सेवा में तटस्थता

इकाई की सरंचना

15.0 प्रस्तावना

15.1 उद्देश्य

15.2 जन शिकायत निवारण- अर्थ एवं महत्व

  15.2.1 नागरिक प्रशासन

  15.2.2 केन्द्रीय सतर्कता आयोग

  15.2.3 केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो (सी0बी0आई0)

15.3 लोकपाल, लोकायुक्त

  15.3.1 लोकपाल विधेयक

15.4 जन लोकपाल विधेयक

15.5 लोक सेवा में तटस्थता या निष्पक्षता

  15.5.1 तटस्थता के आयात

  15.5.2 तटस्थता की वर्तमान में प्रासंगिता

15.6 सारांश

15.7 शब्दावली

15.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

15.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

15.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

15.11 निबंधात्मक प्रश्न

15.0 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने अखिल भारतीय सेवाओं के स्वरूप का अध्ययन किया है। साथ ही साथ केन्द्रीय सेवाओं का भी वर्णन किया गया है। भर्ती एवं प्रशिक्षण को भी लिपिबद्ध किया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमने भारत में प्रचलित अखिल भारतीय सेवाओं, केन्द्रीय सेवाओं के बारे में जानने का अवसर प्राप्त हुआ है। इसके साथ में हमने यह भी देखा है कि भारत में लोक सेवकों की भर्ती के कौन से तरीके अपनाये जाते हैं। इसी क्रम में हमने यह जाना है कि पदोन्नति भी भर्ती का एक तरीका है।

इस इकाई में हम यह अध्ययन करेंगे कि सुशासन के अन्तर्गत प्रशासन का दायित्व जनता के प्रति जवाबदेही का है। लोकतांत्रिक व लोक कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषता है कि जनता के कल्याण हेतु उनके कार्यक्रमों को उन तक पहुँचाना है। परन्तु उनको इनका लाभ नहीं मिल रहा है, तो वे शिकायत करने का अधिकार रखते हैं। इस अध्याय में जन शिकायत निवारण के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे।

भ्रष्टाचार उन्मूलन हेतु शासन को प्रशासन से अवगत कराना है। यह लेखन कार्य करते समय राष्ट्र भी भ्रष्टाचार के बारे में चर्चा कर रहा है और लोकपाल एवं जन लोकपाल बिल को लेकर राष्ट्र में बहस छिड़ी हुई है कि किनको-किनको लोकपाल बिल के अन्तर्गत रखा जाय?

15.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- जन शिकायत निवारण के अर्थ एवं महत्व को जान सकेंगे।
- केन्द्रीय सतर्कता आयोग और उसके कार्यों के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- लोकपाल और जन लोकपाल विधेयक के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- लोक सेवा में तटस्थता के सम्बन्ध में जान सकेंगे।

15.3 जन शिकायत निवारण अर्थ एवं महत्व

सरकार जन शिकायत निवारण में संलग्न एवं सक्रिय है, परन्तु जनता की प्रशासन के प्रति शिकायतें बढ़ती जा रही हैं। शिकायत शब्द का अर्थ किसी नागरिक द्वारा किये गये उस दावे से है, जो उसे कुप्रशासन के कारण प्रस्तुत करना पड़ता है।

जनता की सेवा करना ही लोक प्रशासन का लोकतांत्रिक प्रणाली में महत्वपूर्ण एवं केन्द्रीय उद्देश्य है। लोकतांत्रिक व लोक-कल्याणकारी राज्य के, अस्तित्व के कारण सरकार के समक्ष नवीन कार्य एवं जिम्मेदारियां जन्म ले चुकी हैं। आज ये नई जिम्मेदारियाँ और कार्य विश्व के लगभग तमाम देशों में बढ़ते जा रहे हैं। आज लोक प्रशासन के सामने दो बातें महत्वपूर्ण हैं-

प्रथम, सरकारी प्रशासन का दायरा व्यापक हो गया है। द्वितीय, शिक्षा, सामाजिक और राजनीतिक चेतना बढ़ने से जनता की अपेक्षाएँ लोक प्रशासन के प्रति कुछ ज्यादा ही बढ़ गयी हैं। आज बहुत से विद्वानों के द्वारा नागरिकों और प्रशासन के परस्पर सम्पर्क और सम्बन्धों को बहुत महत्व दिया जा रहा है। जहाँ तक आदर्श स्थिति का प्रश्न है, तो इसे आपसी संबंधों के आधार पर और सक्रिय होना चाहिए, लेकिन व्यावहारिक धरातल पर इस विषय को लेकर बहुत ही विवाद और तनाव देखने को मिलता है। आज तो सरकार जन शिकायत निवारण में संलग्न एवं सक्रिय है, परन्तु जनता की प्रशासन के प्रति शिकायतें बढ़ती ही जा रही हैं; शिकायत शब्द का अर्थ किसी नागरिक द्वारा किये गये उस दावे से है, जो उसे कुप्रशासन के कारण प्रस्तुत करना पड़ा है।

आधुनिक समय में इंटरनेट के विस्तार के कारण जनता अपनी शिकायत 'जन शिकायत निवारण तंत्र' तक बहुत ही सरलतम तरीके से; हिन्दी अथवा अंग्रेजी दोनों भाषाओं में सम्बन्धित अधिकारी तक पहुँचा सकती है। इसके लिए टाइप करना होता है- इसके बाद हमें जन शिकायत निवारण अधिकारियों की सूची प्राप्त होती है। तत्पश्चात एक कार्य का प्रारूप प्रदर्शित होता है, जिसके अन्तर्गत जानकारियों का विवरण देना होता है। नाम, माता/पिता का नाम, पता, ई-मेल और शिकायत का विवरण।

जनता अपनी की गयी शिकारत पर हुई कार्यवाही का विवरण भी जान सकती है, जिसके लिए उसे अपना पी0जी0 कोड भरना होता है और ओ0के0 बटन को 'क्लिक' करके जमा करना होता है। यह पी0जी0 कोड नाम भरने के साथ प्राप्त हो जाता है।

15.2.1 नागरिक प्रशासन

आज राज्य की अवधारणा विकास मूलक और कल्याणकारी हो गयी है और इस विकास मूलक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए नागरिक और प्रशासन के बीच सम्पर्क का होना मात्र आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो गया है। प्रशासन लोगों की समस्याओं के निदान से सम्बन्धित हैं। प्रशासन को लोगों के लिए आवश्यक सुविधाओं को

उपलब्ध कराना अनिवार्य है। प्रशासन का मुख्य उद्देश्य अब नागरिकों की संतुष्टि को पूरा करना होता है, पर व्यावहारिक स्थिति कुछ अलग ही है। आज भी प्रशासनिक कार्यों में निरंकुशता की प्रवृत्ति देखने को मिलती है तथा जन भावनाओं को प्रशासन द्वारा नजरअंदाज किया जाता है। वास्तविकता तो यह है कि प्रशासन और नागरिकों के बीच परिवर्तन केवल बाहर से आया हुआ मालूम पड़ता है अर्थात् पुरानी प्रवृत्ति बदली नहीं है। आज भी नागरिक प्रशासन से अपना कार्य करवाते वक्त अप्रासंगित दिखता है।

जैसा कि यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वर्तमान समय में जनता और प्रशासन के बीच निरन्तर सम्पर्क रहता है। प्रशासन से नागरिकों के सम्पर्क के कई उद्देश्य हो सकते हैं, जैसे- पानी, बिजली, स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधा पाना, साथ ही साथ अन्य व्यक्तिगत मामलों में प्रशासन से सहयोग चाहना। इन आवश्यकताओं को लेकर जनता की प्रशासन से सम्पर्क में जितनी वृद्धि होती है, सरकारी नियंत्रण और नियम कानून उतने ही बढ़ते चले जाते हैं और इस दौरान ही प्रशासन की छवि बनती या बिगड़ती है।

अगर प्रशासनिक सफलता के लिए नागरिक और प्रशासन के बीच सम्बन्ध की अनिवार्यता है, तो दूसरी ओर प्रशासनिक असफलता का कारण नागरिक और प्रशासन के बीच अलगाव का होना है। चूँकि नागरिक अपने कार्यों का सम्पादन प्रशासन से तुरन्त चाहता है, जिसे प्रशासन के द्वारा तुरन्त पूरा करना सम्भव नहीं होता है। इसका कारण है कि प्रशासन को विभिन्न प्रकार के नियमों एवं कानूनों का अवलोकन करना पड़ता है, जिसके बाद ही नागरिकों की इच्छाओं की पूर्ति सम्भव होती है।

जन-शिकायतों का प्रशासन द्वारा त्वरित निष्पादन का न होना भी जनता में प्रशासन के प्रति अलगाव उत्पन्न करता है। जनता यह चाहती है कि उसके द्वारा जो प्रशासन के समक्ष शिकायत की जाती है, उस पर प्रशासन निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण ढंग से कार्य करें। प्रशासन से न्याय के मार्ग में निष्पक्षता हेतु जातिवाद, साम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद, लालफीताशाही, भाई-भतीजावाद से अलग रहने की आशा की जाती है। भारत में नागरिक और प्रशासन के बीच बेहतर सम्पर्क स्थापित करने तथा भ्रष्टाचार में लिप्त पाये जाने वाले कार्मिकों को दण्डित कर, जन शिकायतों का निवारण करने हेतु विभागीय नियन्त्रण की व्यवस्था है, जिसमें अधिकांश सरकारी विभागों में भ्रष्टाचार तथा जन शिकायत निवारण हेतु पृथक से एक अधिकारी नियुक्त किया जाता है जो प्राप्त परिवेदना की जाँच कर आवश्यक कार्यवाही करता है।

15.2.2 केन्द्रीय सतर्कता आयोग

केन्द्र सरकार के विभागों में प्रशासनिक भ्रष्टाचार की जाँच करने हेतु केन्द्रीय सतर्कता आयोग की स्थापना 'संथानम् समिति' की अनुशंसा पर सन् 1964 में की गयी थी। सितम्बर 2003 में संसद ने एक कानून बनाकर इसे वैधानिकता प्रदान कर दी।

केन्द्रीय सतर्कता आयोग में एक आयुक्त तथा दो अधीनस्थ आयुक्त होते हैं। इनकी नियुक्ति प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता वाली समिति की संस्तुति पर राष्ट्रपति करता है। इनका कार्यकाल 4 वर्ष या 65 वर्ष की आयु पूरी होने तक, जो भी पहले हो होता है। राष्ट्रपति इससे पूर्व भी भ्रष्टाचार, अपराध आदि मामलों में सम्बद्ध हो जाने पर इन्हें पद मुक्त कर सकता है।

केन्द्रीय सतर्कता आयोग के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

1. भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम 1988 के तहत केन्द्रीय सरकार के लोक सेवकों द्वारा किये गये अपराधों की जाँच करना।

2. अखिल भारतीय सेवाओं के संघ सरकार के अधिकारी और केन्द्रीय सरकार के समूह 'ए' के अधिकारियों द्वारा किए गये अपराधों की जाँच करना।
3. 'दिल्ली स्पेशल पुलिस एस्टाब्लिशमेंट' के कार्य की समीक्षा एवं निरीक्षण करना और इसे निर्देशित करना।
4. केन्द्र सरकार के मंत्रालयों में सतर्कता प्रशासन का निरीक्षण करना।

केन्द्रीय सतर्कता आयोग किसी भी शिकायत को जो उसे व्यक्तिगत, डाक, समाचार-पत्रों, संसद सदस्यों के भाषणों या अंकेक्षण; लेखा-परीक्षण रिपोर्ट इत्यादि स्रोतों से प्राप्त होती है, को सम्बन्धित विभाग या मंत्रालय अथवा केन्द्रीय जाँच ब्यूरो को जाँच हेतु भेज सकता है। मंत्रालय में मुख्य सतर्कता अधिकारी सम्बन्धित भ्रष्टाचार के मामले की जाँच करके अपनी रिपोर्ट आयोग को भेजते हैं। जाँच पूरी होने पर दोषी कार्मिक को दण्डित करने, विभागीय कार्यवाही करने या मामला बन्द करने के सम्बन्ध में आयोग से परामर्श किया जाता है। यदि मामला गंभीर प्रकृति का हो तथा विभागीय कार्यवाही के पश्चात कार्मिक को बड़ा दण्ड देना आवश्यक हो तो पुनः आयोग से परामर्श लिया जाता है। केन्द्र सरकार के सभी विभाग प्रति तिमाही एक रिपोर्ट आयोग को भेजते हैं, जिसमें प्राप्त शिकायतों, उनकी जाँच प्रगति तथा लम्बित प्रकरणों का विवरण होता है। इस प्रकार एक परामर्शदाता निकाय के रूप में केन्द्रीय सतर्कता आयोग नियंत्रणकर्ता का कार्य भी करता है।

15.3.4 केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो(सी0बी0आई0)

यह भारत सरकार की प्रमुख जाँच एजेन्सी है। इसका कार्यक्षेत्र, केन्द्र एवं राज्य सरकारों सहित समस्त भारत है। इसकी भ्रष्टाचार रोकने में अहम् भूमिका है। सी0बी0आई0 का गठन सन् 1963 में गृह मंत्रालय की एक अधिसूचना द्वारा किया गया था। इस समय यह कार्मिक मंत्रालय के साथ सम्बद्ध है। सन् 1941 में गठित 'स्पेशल पुलिस एस्टाबिलिशमेन्ट' को भी इसके साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। सी0बी0आई0 के गठन की संस्तुति संथानम् कमेटी ने की थी।

केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो (सी0बी0आई0) के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

1. केन्द्र सरकार के कर्मचारियों के भ्रष्टाचार, रिश्वत और दुर्व्यवहार से सम्बन्धित मामलों की विवेचना करना।
2. राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क वाले संगठित समूहों द्वारा किए गये गम्भीर अपराधों की जाँच करना।
3. आर्थिक अपराधों, जैसे- ब्रक्री कर, आय कर, उत्पाद शुल्क आदि से सम्बन्धित अपराधों, आयात-निर्यात नियमों का उल्लंघन आदि से सम्बन्धित मामलों की जाँच करना।
4. अनेक भ्रष्टाचार निरोधक एजेन्सीज एवं राज्यों की पुलिस में बीच सामंजस्य बनाए रखना।
5. राज्य सरकारों के निवेदन पर लोक महत्व के किसी भी मामले की जाँच करना।

सामान्यतः सी0बी0आई0 को विशेष पुलिस संगठन कानून के अन्तर्गत अनेक विशेषाधिकार प्राप्त हैं तथा इसकी जाँच प्रणाली बहुत गम्भीर, व्यापक, गहन तथा विश्वसनीय मानी जाती है।

15.3 लोकपाल और लोकायुक्त

भारतीय लोकपाल की अवधारणा स्वीडन के 'ओम्बुड्समैन' पर आधारित है। जहाँ यह व्यवस्था 1809 से प्रभावी है और जिसके कारण वहाँ के प्रशासन को बहुत साफ-सुथरा माना जाता है। ओम्बुड्समैन नामक यही संस्था भारत में लोकपाल/लोकायुक्त कहलाती है। जिसका शाब्दिक अर्थ 'लोक' अर्थात 'जनता या लोग' एवं 'पाल' अर्थात

'संरक्षक या रक्षा करने वाला' है। लोकपाल की स्थापना का मुख्य उद्देश्य लोक सेवकों तथा जन-प्रतिनिधियों के कुप्रशासन तथा भ्रष्टाचार के विरूद्ध जनता की शिकायत सुनने तथा उस पर जाँच कर अपनी संस्तुति प्रस्तुत करना है।

सन् 1966 में मोरारजी देसाई की अध्यक्षता वाले प्रशासनिक सुधार आयोग ने 'प्रोब्लम्स ऑफ रिडेसल ऑफ सिटिजन ग्रीवेंसज' पर रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए 'लोकायुक्त' तथा 'लोकपाल' की नियुक्ति की संस्तुति की थी। इसका मुख्य उद्देश्य लोक सेवकों तथा जन-प्रतिनिधियों के कुप्रशासन तथा भ्रष्टाचार के विरूद्ध जनता की शिकायत सुनने तथा उस पर जाँच कर अपनी संस्तुति प्रस्तुत करना है।

भारत सरकार ने प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा केन्द्र में लोकपाल और राज्यों में लोकायुक्त की स्थापना का निर्णय लिया। इसके बाद केन्द्र सरकार ने अब तक दस बार 'लोकपाल' की स्थापना लिए विधेयक संसद में प्रस्तुत किए, लेकिन लोक सभा के बार-बार विघटित हो जाने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से यह अभी तक पारित न हो सका। संसद में लोकपाल विधेयक सर्वप्रथम मई 1968 में तथा आठवीं बार अगस्त 2001 में प्रस्तुत किया गया था। इनके अतिरिक्त अप्रैल 1971, जुलाई 1971, जून 1977, अगस्त 1985, दिसम्बर 1989, सितम्बर 1996, अगस्त 1998 तथा अगस्त 2001, में 2005 एवं 2008, में विधेयक प्रस्तुत किया गया।

सर्वप्रथम लोकायुक्त अधिनियम 1970 में उड़ीसा सरकार ने बनाया था, लेकिन वहाँ लोकायुक्त की नियुक्ति सन् 1983 में हो सकी। महाराष्ट्र में लोकायुक्त अधिनियम सन् 1971 में बना तथा वहाँ उसी वर्ष इसकी नियुक्ति भी हो गयी, अतः महाराष्ट्र पहला राज्य है। अन्य राज्यों में लोकायुक्त अधिनियम निर्माण एवं नियुक्ति का वर्ष निम्नलिखित तालिका में दिया गया है-

क्रम संख्या	**राज्य**	**वर्ष**
1	उड़ीसा	1970
2	महाराष्ट्र	1971
3	बिहार	1973
4	राजस्थान	1973
5	तमिलनाडु	1974
6	जम्मू काश्मीर	1975
7	मध्य प्रदेश	1981
8	आन्ध्र प्रदेश	1983
9	केरल	1983
10	हिमाचल प्रदेश	1983
11	कर्नाटक	1984
12	असम	1985
13	गुजरात	1986
14	पंजाब	1995

प्रत्येक राज्य के लोकायुक्त की संरचना, कार्यप्रणाली तथा अधिकार-क्षेत्र पृथक रखा गया। लोकायुक्त के क्षेत्राधिकार, कार्यकाल तथा नियुक्ति प्रक्रिया भी भिन्न-भिन्न अपनायी जाती है। लोकायुक्त को लोक सेवकों के विरूद्ध निम्नलिखित मामलों में आरोप एवं शिकायत प्राप्त कर जाँच कराने का अधिकार है-

1. स्वयं या अन्य व्यक्तियों के लाभ या पक्षपात के लिए अपने पद का दुरूपयोग किया हो या दूसरे व्यक्ति की क्षति या अभाव का कारण बना हो।
2. सरकारी कर्मचारी के रूप में व्यक्तिगत स्वार्थ या अनुचित या भ्रष्ट विचार से प्रेरित होकर काम किया हो।
3. भ्रष्टाचार के आरोप में दोषी हो या सरकारी पद पर ईमानदार न रहा हो।
4. ज्ञात आय से असंगत सम्पति हो या परिवार का कोई अन्य सदस्य उसकी तरफ से असंगत सम्पति रखता हो।
5. जिस पद पर वह है, उस पद पर लोक सेवक द्वारा ईमानदारी एवं सत्यनिष्ठा आचरण के मापदण्ड के अनुसार कार्य करने में असफल रहा हो।

इसी प्रकार शिकायत शब्द का अर्थ किसी नागरिक द्वारा किए गये उस दावे से है, जो उसे कुप्रशासन के कारण प्रस्तुत करना पड़ा है।

कुप्रशासन का अर्थ निम्नलिखित कार्यवाहियों से है-

1. जहाँ इस प्रकार का कार्य या प्रशासनिक प्रक्रिया व्यवहार जो असंगत, अनुचित, दमनात्मक या पक्षपातपूर्ण हो, या
2. जहाँ इस प्रकार की कार्यवाहियों में लापरवाही या अनावश्यक विलम्ब हुआ हो या इस प्रकार की प्रशासकीय प्रक्रिया या व्यवहारों में अनावश्यक देरी हुई हो।

लोकायुक्त संस्था सैद्वान्तिक दृष्टि से सुदृढ़ दिखाई देती है, किन्तु व्यावहारिक रूप से किसी भी राज्य में लोकायुक्त संस्था प्रभावी सिद्ध नहीं हो पायी है। लोकायुक्त की भूमिका सरकार को परामर्श देने की है। कई बार लोक-सेवकों का अपराध सिद्ध हो जाने पर भी लोकायुक्त की सिफारिश पर राज्य सरकार समुचित कार्यवाही नहीं करती है। इस प्रकार प्रशासन में अनैतिकता तथा अकार्यकुशलता पर अंकुश नहीं लग पाता है। भ्रष्टाचार निवारण में निस्संदेह लोकायुक्त सशक्त भूमिका निर्वाहित कर सकता है, किन्तु पहले लोकायुक्त को प्रभावी बनाना आवश्यक है।

15.3.1 लोकपाल विधेयक

भारत में सर्वप्रथम इसकी स्थापना की माँग डॉ0 लक्ष्मीमल सिंघवी द्वारा सन् 1956 में की गयी थी। सन् 1966 में मोरारजी देसाई की अध्यक्षता वाले प्रशासनिक सुधार आयोग ने 'प्रोब्लम्स ऑफ रिडेसल ऑफ सिटिजन्स ग्रीवेंसज' पर रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए लोकायुक्त तथा लोकपाल की नियुक्ति की संस्तुति की।

पहली बार 09 मई 1968 को लोकपाल विधेयक संसद में प्रस्तुत किया गया जो कि लोक सभा में पारित हो चुका था, लेकिन लोक सभा के भंग हो जाने के कारण राज्य सभा में पारित न हो पाया।

पिछले 42 वर्षों से लोकपाल विधेयक लोक सभा के बार-बार विघटित हो जाने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से अभी तक पारित न हो सका है। इस दौरान छोटी-बड़ी कुल चौदह कोशिशें की गयी। आठ बार सरकारी विधेयक के रूप में और छह बार गैर-सरकारी विधेयक के रूप में इसे स्थापित करने की कोशिश की गयी है, लेकिन किसी न किसी बहाने उसमें रोड़ा अटकाया जाता रहा है अतः अब तक यह मृग-मरीचिका ही साबित हुआ है।

शुरूआत में प्रधानमन्त्री को इस दायरे में रखे जाने को लेकर मतभेद थे, किन्तु ऊँचे पदों पर आसीन लोगों से जुड़े भ्रष्टाचार के प्रकरण इस प्रकार उजागर हो चुके हैं और उनका आभामंडल इतना क्षीण हो चुका है कि सार्वजनिक जीवन का कोई भी पदधारक अब अपने को जाँच के दायरे से अलग रखने की सिफारिश करने का साहस नहीं कर सकता।

संसद में सर्वप्रथम लोकपाल विधेयक मई 1968 में तथा अन्तिम बार 2008 में प्रस्तुत किया गया था। इनके अतिरिक्त अप्रैल 1971, जुलाई 1971, जून 1977, अगस्त 1985, दिसम्बर 1989, सितम्बर 1996, अगस्त 1998, अगस्त 2001, 2005 तथा 2008 में विधेयक प्रस्तुत किया गया। परन्तु प्रत्येक बार, समिति के ऊपर नई समितियों के गठन का अनवरत सिलसिला चलता रहा। इस विधेयक में निम्नलिखित प्रावधान थे-

- लोकपाल के रूप में एक उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश एवं दो अन्य सदस्य उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों अथवा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों में से नियुक्त करने का प्रावधान था।
- लोकपाल के अधीन मंत्रियों, अधिकारियों एवं प्रधानमन्त्री को भी रखा गया।
- लोकपाल तथा अन्य सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा करने का प्रावधान था।

लोकपाल विधेयक में न तो भ्रष्टाचार से कमाये गये धन को वापस लाने(वसूली) का प्रावधान है और न ही न्यायपालिका को इसके दायरे में रखा गया है। इस विधेयक के अन्तर्गत लोक सभा के स्पीकर अथवा राज्य सभा के चेयनमैन की अनुमति के बिना किसी की शिकायत की जाँच ही नहीं की जा सकती है और न ही भ्रष्टाचार के विरूद्ध आंतरिक रूप से आवाज उठाने वाले लोगों को सुरक्षा देने का कोई प्रावधान है। अतः भ्रष्टाचार पर नकेल कसने के लिए खासतौर पर बनाया गया लोकपाल विधेयक; सरकारी लोकपाल विधेयक को प्रभाव विहीन बताया जा सकता है। इसमें ऐसा कोई प्रावधान नहीं है, जिससे भ्रष्टाचार के दानव का खात्मा अंत: किया जा सके। इस विधेयक की तमाम खामियों को दूर करने के लिए जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ता अन्ना हजारे; किशन बाबूराव हजारे; असली नाम, की अगुवाई में 'इंडिया अंगेस्ट करप्शन' आंदोलन के तहत 'जन लोकपाल विधेयक' को कानून बनाए जाने की माँग की है।

'ओम्बुडसमैन' की स्थापना सर्वप्रथम सन् 1809 में स्वीडन में उसके बाद 1919 में फिनलैण्ड में, 1955 में डेनमार्क में तथा 1962 में नार्वे में हुई। इन स्कैन्डिनेवियन देशों के अतिरिक्त यह संस्था न्यूजीलैण्ड, ब्रिटेन, कनाडा तथा अमेरिका में भी कार्यरत है। 'ओम्बुड्समैन' नामक यही संस्था भारत में 'लोकपाल/लोकायुक्त' कहलाती है। 1966 में प्रशासनिक सुधार आयोग ने जहाँ केन्द्रीय स्तर पर लोकपाल की सिफारिश की थी, वहीं उन्हीं कार्यो के लिए राज्य स्तर पर लोकायुक्त की सिफारिश की थी। उड़ीसा लोकायुक्त अधिनियम 1970 बनाने वाला पहला राज्य बना, जबकि महाराष्ट्र में सबसे पहले 1971 में लोकायुक्त की नियुक्ति की गयी। राजस्थान में 1973 में, बिहार में 1973 में, उत्तर प्रदेश में 1975 में, मध्य प्रदेश में लोकायुक्त एवं उपलोकायुक्त अधिनियम अक्टूबर 1981 से प्रभावी है। अब तक कुल 17 राज्यों में यह संस्था कार्य कर रही है। पंजाब में लोकायुक्त की जगह लोकपाल की नियुक्ति की जाती है। अलग-अलग राज्यों में संस्था की प्रभाविकता अलग-अलग है तथा इनके शिकायत तथा अभिकथन सम्बन्धी अधिकार भी अलग-अलग हैं। शिकायत का तात्पर्य कुप्रशासन से है, जिसकी सूचना लोकायुक्त को उस रूप में घटना के एक वर्ष के भीतर दी जानी चाहिए।

अभिकथन का तात्पर्य किसी लोकसेवक के भ्रष्टाचार, सत्यनिष्ठा में कमी अथवा पद के दुरूपयोग से है, जिसकी सूचना घटना के पाँच वर्ष के भीतर लोकायुक्त को दी जा सकती है।

15.4 जन लोकपाल विधेयक

देश के प्रबुद्ध नागरिकों द्वारा तैयार 'जन लोकपाल विधेयक' एक ऐसा विधेयक है, जिसे कानून बनाकर भ्रष्टाचार को पूर्णत: खत्म किया जा सकता है। इस विधेयक में बगैर किसी की अनुमति लिए लोकपाल द्वारा किसी भी जाँच को शुरू करने का, भ्रष्टाचार के खिलाफ आवाज उठाने वाले की सुरक्षा का भी प्रावधान है। प्रधानमन्त्री से लेकर मंत्री और संतरी तक सभी को इसकी जाँच के दायरे में रखा गया है। देश में पहली बार एक विधेयक का प्रस्ताव देश के 'नागरिक समाज' की ओर से संसद में विचार करने के लिए दिया गया है। जैसा कि पूर्व मे बताया जा चुका है कि इस विधेयक में सत्ता के शीर्ष पर बैठे लोगों, चाहे वह प्रधानमन्त्री, सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश या फिर अफसरशाही हो, के खिलाफ लगे भ्रष्टाचार के आरापों की न केवल निष्पक्ष जाँच करने की ताकत है, बल्कि उन्हें दण्डित भी करने की क्षमता है। इसमें लूटखसोट, भ्रष्टाचार द्वारा अर्जित धन भी जनता को वापस दिलाने का प्रावधान किया गया है।

हांगकांग में 1974 में जन लोकपाल जैसा कानून; 'इंडिपेडेंट कमीशन अगेंस्ट करप्शन एक्ट' के आधार पर आई0सी0ए0सी0 (ICAC) बनाया गया था, जिससे वहाँ से भ्रष्टाचार समाप्त करने में कामयाबी मिली। भारत में भी अगर यह कानून बना दिया गया तो यहाँ पर भी भ्रष्टाचार को नष्ट किया जा सकता है।

भारत में जन लोकपाल विधेयक की निम्नलिखित विशेषताऐं हैं-

1. अध्यक्ष समेत दस सदस्यों वाली एक लोकपाल संस्था होनी चाहिए।
2. भ्रष्टाचार के मामलों की जाँच करने वाली सी0बी0आई0 के हिस्से को इस लोकपाल में शामिल कर दिया जाना चाहिए।
3. सी0वी0सी0 और विभिन्न विभागों में कार्यरत 'विजिलेंस विंग्स' का लोकपाल में विलय कर दिया जाना चाहिए।
4. लोकपाल का सरकार से एकदम स्वतंत्र होना।
5. नौकरशाह, राजनेता और जजों; न्यायाधीशों पर इनका अधिकार-क्षेत्र होगा।
6. बगैर किसी एजेंसी की अनुमति के ही कोई जाँच शुरू करने का इसे अधिकार होगा।
7. जनता को प्रमुख रूप से सरकारी कार्यालयों में रिश्वत माँगने की समस्या से गुजरना पड़ता है। लोकपाल एक अपीलीय प्राधिकरण और निरीक्षण निकाय के तौर पर केन्द्र सरकार के सभी कार्यालयों में कार्यवाही कर सकेगा।
8. शिकायत कर्ता को संरक्षण प्रदान करेगा।
9. लोकपाल के सदस्यों और अध्यक्ष का चुनाव पारदर्शी तरीके से किया जाना चाहिए।
10. लोकपाल के किसी अधिकारी के खिलाफ यदि कोई शिकायत होती है तो उसकी जाँच पारदर्शी तरीके से एक महीने के भीतर होनी चाहिए।

जन लोकपाल विधेयक के मूल स्वरूप के सूत्रधार (अरविन्द केजरीवाल, प्रशांत भूषण और संतोष हेगड़े) के द्वारा जन लोकपाल विधेयक का मूल आधार तैयार किया गया है। बाद में इस विधेयक पर अलग-अलग क्षेत्रों से जुड़े विद्वानों और गणमान्य लोगों की राय को भी इसमें शामिल किया गया है। इसके अलावा यह विधेयक लोगों द्वारा

बेबसाइट; इंटरनेट पर दी गयी प्रतिक्रिया और जनता के साथ विचार-विमर्श के बाद तैयार किया गया है। इस विधेयक को शांति भूषण, जे0एम0 लिंग्दोह, किरन बेदी, अन्ना हजारे, स्वामी अग्निवेश आदि का समर्थन प्राप्त है। इस विधेयक की प्रासंगिकता, सरकारी लोकपाल विधेयक का अधिकार-क्षेत्र केवल राजनेताओं तक सीमित है। सरकारी अधिकारियों के लिए 'सतर्कता आयुक्त' जैसी संस्थाऐं हैं, जो अब तक निष्प्रभावी साबित हुई हैं। न्यायपालिका के भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के लिए कोई संस्था नहीं है। जनता के लिए राजनेता के भ्रष्टाचार, सरकारी कार्मिकों की रिश्वत खोरी और न्यायाधीशों की बेईमानी में कोई अंतर नहीं है। इस पृष्ठभूमि में जन लोकपाल विधेयक के उपबंध सरकारी विधेयक की तुलना में ज्यादा प्रभावी और प्रासंगिक हैं।

इस विधेयक की आवश्यकता इसलिए है कि, भ्रष्टाचार निरोधक कानून-1988 में भ्रष्ट अफसरों के खिलाफ सजा का प्रावधान महज पांच वर्ष है, जबकि दोषी साबित किये जाने पर उनकी संपत्ति को हड़पने का कोई प्रावधान नहीं है। 'ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशन' की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में सरकारी महकमों में काम कराने के लिए कम से कम 50 फीसदी लोगों को अपना वाजिब काम निकालने के लिए अधिकारियों को घूस देनी पड़ती है। उन्हें इस काम के लिए भी घूस देनी पड़ती है, जिसे पाने के वे हकदार हैं। लगभग तीन-चौथाई लोगों को किसी न किसी काम के लिए रिश्वत देनी पड़ी है। इस स्थिति के चलते ही भ्रष्टाचार की सूची में भारत 87 वें स्थान पर है।

15.5 लोक सेवा में तटस्थता

लोकसेवा में 'तटस्थता' सिविल सेवा का एक आवश्यक अंग है। इसका एक अर्थ सेवक की निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र और स्पष्ट सेवा से होता है। अर्थात यदि सिविल सेवक स्वयं को राजनीतिक कार्यों एवं गतिविधियों से दूर रख कर अपना कार्य पूर्णरूपेण दक्षता एवं ईमानदारी के साथ करता है, तो वह गुण 'तटस्थता' को व्यक्त करता है। यह कहना सर्वथा उचित होगा कि निष्पक्षता ही तटस्थता को जन्म देती है। तटस्थता के अन्तर्गत अनुशासन, निष्ठा, ईमानदारी, निष्पक्षता एवं स्वतंत्र व स्पष्ट विचार प्रमुख गुण होते हैं। अजोय बागची के शब्दों में, निष्पक्षता की अवधारणा इस बात की ओर है कि राजनीतिक दलों के साथ सम्पूर्ण तटस्थता के साथ-साथ सरकार के कार्यक्रमों के राजनीतिक पक्षों के साथ संतुलित सम्मान और विवेकपूर्ण सहानभूति का भी मिश्रण होना चाहिए। साथ ही साथ सरकार के कार्यक्रमों और निर्णयों की पृष्ठभूमि में मूल दार्शनिक तथा सामाजिक-आर्थिक वाद-विवाद के प्रति जागरूकता और लोकतांत्रिक धारणाओं के प्रति भक्ति भी होनी चाहिए। जोसेफ पालोम्बरा के मतानुसार, एक प्रशासनक को राजनीतिक दलों के बीच प्रभुत्व को लेकर हो रहे दल झगड़े में उलझना नहीं चाहिए। इसका अर्थ यह है कि प्रशासन को जागरूक होकर निरंतर यत्न करना चाहिए कि वह राजनीति कैसी भी हो उससे अपने आप को अलग रखे। मोर्सटीन मार्क्स निष्पक्षता को दो दृष्टिकोण से देखते हैं- सकारात्मक एवं नकारारात्मक। सकारात्मक निष्पक्षता का अर्थ है कि बिना किसी शर्त के काम करने के अनुशासन को स्वीकार करें। अर्थात वे किसी भी विधिवत सत्तारूढ़ सरकार की सफलता के लिए भक्ति से काम करें। नकारात्मक विचारधारा के अन्तर्गत लोक सेवक नीति, कार्यक्रम तथा प्रबन्ध जैसे मुद्दों पर अपना सर्वोत्तम निर्णय पेश करें। इनसे अपनों को अलग न रखें और अपनी विशेष योग्यता के अनुरूप इनको अपना भरपूर योगदान प्रदत्त करें। उपरोक्त कथन के अनुसार जिसमें निष्पक्षता की धारणा की व्याख्या की गयी है, कुछ तथ्य निकल कर आते हैं। जैसे- जनता को लोक सेवा के अराजनीतिक चरित्र में विश्वास हो। मंत्रियों को चाहे वे किसी भी राजनीतिक दल के हों, अपने स्थायी अधीनस्थ अधिकारियों की वफादारी में विश्वास होना चाहिए तथा लोक सेवकों का उच्च्च मनोबल जो इस विश्वास पर आधारित होता है कि पदोन्नतियॉं राजनीतिक विचारों के आधार पर नहीं, अपितु गुण के आधार पर की जायेंगी।

सर्वप्रथम मैक्स वैबर ने नौकरशाही की निष्पक्षता की धारणा पेश की थी। तब से लेकर अनेक विद्वानों ने निष्पक्षता की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। मास्टर मैन के शब्दों में, निष्पक्षता ब्रिटिश प्रशासक का गुण रहा है, जिसमें लोक सेवक अपने सार्वजनिक जीवन में राजनीतिक धारणाओं से पूर्ण मुक्त रहता है।

हूबर का कथन है कि लोक सेवकों को केवल औपचारिक वक्तव्य ही प्रेस को देने चाहिए, सार्वजनिक या निजी वक्तव्य नहीं देने चाहिए। उन्हें राजनीतिक या विवादास्पद ढंग से सार्वजनिक भाषण नहीं देने चाहिए। विभिन्न राष्ट्रों में तटस्थता के अलग-अलग रूप मिलते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में लोक सेवकों के राजनीतिक कार्यों पर कम बन्धन है। राजनीतिक कार्यों में भाग लेने की सबसे अधिक सुविधाऐं ग्रेट ब्रिटेन में ही हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में लोक सेवकों के कार्यों पर कठोर प्रतिबन्ध है। लोक सेवकों को राजनीतिक प्रबन्ध या राजनीतिक अभियानों में सक्रिय भाग लेने की सख्त मनाही है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के जस्टिस ब्लैक ने कहा है कि सरकारी कर्मचारियों को प्राप्त राजनीतिक विशेषाधिकार का सारांश है कि वे मौन रूप में मतदान कर सकते हैं तथा सावधानी से एवं शान्तिपूर्वक वे कोई भी राजनीतिक विचार स्वयं को संकट में डालकर ही प्रकट कर सकते हैं और चुनाव अभियान की सभाओं में वे केवल दर्शक मात्र होते हैं। पश्चिमी यूरोप तथा 'स्केण्डिनेवियन देशों' में लोक-सेवक राजनीतिक क्रियाकलापों में भाग लेने के लिए स्वतंत्र होते हैं। बेल्जियम तथा स्विटजरलैण्ड में लोक-सेवक संसदीय चुनावों में भाग तो लेते हैं, परन्तु चुने जाने पर अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता है। जर्मनी में लोक सेवक को पहले ही अपने पद से त्यागपत्र देकर चुनाव अभियान में भाग लेता है। परन्तु अगर चुनावी प्रत्याशी हार गया है, तो पुनः अपने पद को ग्रहण कर सकता है। चुनाव जीतने पर लोक सेवक पेंशन पर सेवानिवृत्त हो सकता है।

राष्ट्रमण्डलीय देशों में लोक सेवकों के राजनीतिक अधिकारों पर कड़ा प्रतिबन्ध है। कनाडा में लोक सेवकों को राजनीति में सहभागिता वर्जित है। आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैण्ड में लोक सेवक चुनाव तो लड़ सकते हैं, परन्तु राजनैतिक मुद्दों में उनकी निष्पक्षता तथा तटस्थता पर काफी बल दिया जाता है।

भारत में लोक सेवा सम्बन्धी नियमावली के अनुसार सरकारी कर्मचारियों पर राजनीतिक कार्यों में क्रियात्मक रूप से भाग लेने पर पूर्ण प्रतिबन्ध है। केन्द्रीय लोक सेवा नियम 1955 के अनुसार, लोक सेवक को किसी राजनीतिक संगठन के सदस्य, किसी भी राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने अथवा उसके लिए चन्दा देने या किसी प्रकार की सहायता करने पर निषेध है। विधान मण्डल तथा स्थानीय शासन के किसी चुनाव में भाग लेना भी प्रतिबंधित है।

15.5.1 तटस्थता के आयाम

लोक सेवा में निष्पक्षता की मूल शर्त होती है कि लोक सेवकों को प्रशिक्षण एवं परम्परा के द्वारा एक ऐसे राजनीतिक संस्थान का रूप दे दिया जाये कि वह अपने राजनीतिक विचारों के प्रभाव के बिना सार्वजनिक नीतियों को लागू करें। निष्पक्षता को निम्नलिखित पैमानों के आधार उसकी धारणा को गलत या सही ठहरा सकते हैं- निर्णय करने की प्रक्रिया के प्रभाव में मात्रा, किस दर्जे तक राजनीतिक कार्यकारिणी को नौकरशाही से अलग किया जाये, लोक सेवकों के कार्य में राजनीतिक हस्तक्षेप कहाँ तक होता है, जनता के विश्वास में कितना दम है? इन मापदण्डों के आधार पर लोक सेवकों के पक्ष या निष्पक्ष होने के प्रभाव सामने आ जाते हैं।

15.5.2 तटस्थता की वर्तमान में प्रासंगिता

निष्पेक्षता की अवधारणा देश की विशेष परिस्थितियों के अनुरूप हुआ करती थीं। भारत में एक निष्पक्ष लोक कर्मचारी बनाने के कई उद्देश्य थे। उनमें से एक प्रमुख उद्देश्य था कि उनको देश में चल रही राजनीतिक गतिविधियों से पृथक रखा जाये। कुलदीप माथुर न कहा था कि इस समय उनका राजनीतिकरण केवल ब्रिटिश विरोधी ही हो

सकता था। इस निष्पक्षता का अभिप्राय केवल नौकरशाही को कारणत्व का एक मात्र सिद्धान्त बनाना नहीं था, अपितु लोक सेवा को साम्राज्यवादी शक्ति को बनाये रखने के कार्यों के प्रति विश्वास ही न होने से बचाना था। निष्पक्षता की यह धारणा द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त तक ठीक ठाक काम करती रही, उसके उपरान्त इस धारणा को चुनौती दी जाने लगी। यहाँ तक जिस राष्ट्र ब्रिटेन ने सर्वप्रथम निष्पक्षता को सम्बोधित किया एवं कठोर अनुयायी था, उसने भी इसकी निरन्तर प्रमाणिकता पर सन्देह करने लगा। अपने लोक सेवकों को भारी मात्रा में राजनीतिक अधिकार प्रदत्त कर उन्होंने परोक्ष रूप से यह स्वीकार लिया है कि आज के बदलते राजनीतिक परिवेश एवं परिस्थितियों में लोक सेवकों को पूर्णतया राजनीतिक दृष्टि से निष्पक्ष अथवा अलग रखना सम्भव नहीं है। लोक सेवकों को अब मूल्य रहित नहीं समझा जाता है, अपितु ये राजनीतिक शक्ति का उपयोगी तंत्र माना जाता है। फलस्वरूप निष्पक्षता को त्यागने के कई कारण माने जाते हैं। जैसे नीति निर्णय प्रक्रिया में सहभागिता, राजनीतिक व्यवस्थाओं में लोक सेवा के नेतृत्व की भूमिका, कल्याणकारी कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु, पालन पोषण के उत्पादन हेतु, विकासशील देशों में राजनीतिक मतभेदों को समाप्त करने इत्यादि हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. सी0बी0आई0 का गठन 1963 में हुआ। सत्य/असत्य
2. संसद में लोकपाल विधेयक सर्वप्रथम मई 1968 में पेश किया गया था। सत्य/असत्य
3. सर्वप्रथम लोकायुक्त अधिनियम 1970 में उड़ीसा सरकार ने बनाया था। सत्य/असत्य
4. राज्यों में लोकायुक्त की नियुक्ति 1971 से प्रारम्भ होगयी है। सत्य/असत्य
5. महाराष्ट्र प्रथम राज्य है, जिसने 1971 में लोकायुक्त की नियुक्ति की। सत्य/असत्य

15.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आप जन शिकायत निवारण के बारे में भली-भाँति परिचित हो जायेंगे। इसके अन्तर्गत शिकायत कैसे की जाती है एवं उसके निवारण हेतु किसको आवेदन करना पड़ता है? लोक प्रशासन के दृष्टिकोण से लोकपाल विधेयक अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु पिछले कई वर्षो से अधर में लटका हुआ है। अभी-अभी इसकी चर्चा काफी जोरों पर है, कि इसका स्वरूप क्या होगा? एवं कौन-कौन से शासन के तंत्र इसमें सम्मिलित किये जायें?

15.7 शब्दावली

सी0बी0सी0- केन्द्रीय सर्तकता आयोग।

सी0बी0आई0- केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो।

ए0आर0सी0- प्रशासन सुधार आयोग।

ओम्बुडसमैन- संस्था का नाम है, जिसके अन्तर्गत लोकपाल एवं लोकायुक्त आते हैं।

स्कैंडिनेवियन देश- फिनलैण्ड, डेनमार्क, स्वीडन और नार्वे।

15.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य , **2.** सत्य , **3.** सत्य **4.** सत्य , **5.** सत्य

15.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. बसु, रूमकी- लोक प्रशासन।

2. सडाना एवं शर्मा- लोक प्रशासन के सिद्धान्त।

15.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. शर्मा एवं शर्मा- कार्मिक प्रशासन।
2. कटारिया, सुरेन्द्र- कार्मिक प्रशासन।

15.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. जन शिकायत निवारण से क्या समझते? सर्तकता आयोग के कार्यों को विस्तार से लिखिये।
2. लोकपाल विधेयक क्या है? इसके कार्यों को विवेचना कीजिए।
3. लोक प्रशासन में तटस्थता पर एक निबन्ध लिखिए।

इकाई- 16 प्रशासन में भ्रष्टाचार

इकाई की संरचना

16.0 प्रस्तावना
16.1 उद्देश्य
16.2 भ्रष्टाचार का अर्थ
16.3 भ्रष्टाचार का इतिहास
16.4 भ्रष्टाचार की अवधारणा
16.5 भ्रष्टाचार की गतिविधियाँ
    16.5.1 केन्द्रीय सतर्कता आयोग के अनुसार भ्रष्टाचार के रूप
    16.5.2 भ्रष्टाचार की सीमाऐं
    16.5.3 भ्रष्टाचार की विशेषताएँ
16.6 भ्रष्टाचार के कारण
16.7 भ्रष्टाचार के परिणाम
16.8 प्रशासन में भ्रष्टाचार
16.9 वर्तमान में भ्रष्टाचार के बदलते आयाम
16.10 भ्रष्टाचार उन्मूलन के प्रयास एवं सुझाव
16.11 प्रशासनिक सुधार आयोग की भ्रष्टाचार कम करने के लिए महत्वपूर्ण सिफारिशें; 2007
16.12 भ्रष्टाचार चक्र
16.13 सारांश
16.14 शब्दावली
16.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
16.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
16.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
16.18 निबंधात्मक प्रश्न

16.0 प्रस्तावना

भ्रष्टाचार विश्व व्यापी समस्या है। विकासशील देशों में भ्रष्टाचार काफी व्याप्त है। लोक प्रशासन के क्षेत्र में यह एक ऐसा रोग है जिससे समस्त समाज को परेशानियॉ उठानी पड़ रही हैं। भारत देश में यह मुद्दा काफी तूल पकड़े हुए है। वैसे कौटिल्य ने भी अपने समय में चालीस प्रकार के भ्रष्टाचार बताये थे। प्रस्तुत लेख में इसी पर विस्तार से चर्चा की गयी है।

सुशासन के अन्र्तगत शासन द्वारा स्वीकृत कार्यक्रमों को प्रशासन से जनता तक पहुँचाना ही एक मात्र कार्य है। परन्तु प्रशासन अपने दायित्वों का निर्वहन इमानदारी से नहीं करता। फलस्वरूप समाज में फैली विकृतियां कम होने के बजाय बढ़ती जा रही हैं। उदाहरण के रूप में गरीबी उन्मूलन, अमीर एवं गरीब के बीच काफी अन्तर बढ़

गया है। विकास के हर क्षेत्र में यही समस्या विद्यमान है। इससे निपटने के लिए समय-समय पर बहुत सुझाव भी दिये गये।

16.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भ्रष्टाचार के अर्थ एवं इतिहास के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- भ्रष्टाचार के कारणों और भ्रष्टाचार के परिणाम को जान सकेंगे।
- भ्रष्टाचार उन्मूलन के विभिन्न पक्षों को जान सकेंगे।
- प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा भ्रष्टाचार कम करने के लिए, सुझाओं का अध्ययन कर सकेंगे।

16.2 भ्रष्टाचार का अर्थ

संकीर्ण दृष्टि में भ्रष्टाचार का अभिप्राय किसी कार्य को करने या न करने के लिए रिश्वत लेना है। व्यापक दृष्टि में भ्रष्टाचार, सार्वजनिक पद या सत्ता का दुरूपयोग करने को कहते हैं।

16.3 भ्रष्टाचार का इतिहास

भ्रष्टाचार का मानव से सम्बन्ध किसी न किसी रूप में हमेशा से अस्तित्व में रहा है। भले ही इसका क्षेत्र सीमित से व्यापक हुआ है। मौर्यकाल के सन्दर्भों में अर्थशास्त्र के रचयिता प्रसिद्ध भारतीय विद्वान कौटिल्य ने भ्रष्टाचार के 40 प्रकार बताए थे। उनके अनुसार जिस प्रकार जिवा के लिए परखे हुए शहद का स्वाद न लेना असम्भव है, उसी प्रकार किसी शासकीय कर्मचारी के लिए राज्य के राजस्व के एक अंश का भक्षण न करना असम्भव है। सल्तनत एवं मुगलकाल में भ्रष्टाचार प्रचलित था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में भ्रष्टाचार भारतवर्ष में सर्वत्र फैल गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारियों ने समस्त आदर्शों एवं मान्यताओं को जड़ से उखाड़ फेंका, जिससे ईस्ट इण्डिया कम्पनी पूरी तरह से कमजोर हो गयी और अन्त में कम्पनी को हटना पड़ा। तत्पश्चात ब्रिटिश सरकार ने भारतवर्ष का शासन अपने हाथ में ले लिया।

लगभग 150 वर्षों के शासन में अंग्रेजों ने एक श्रेष्ठ प्रशासन तन्त्र की स्थापना की थी। ब्रिटिश भारतीय प्रशासन में राजस्व, पुलिस व आबकारी विभागों को विस्तृत स्वविवेकी की शक्तियाँ प्राप्त थीं। परिणामस्वरूप, उनके भ्रष्ट होने की पर्याप्त गुजाइश थी। न्यायपालिका के छोटे न्यायालयों का भी यही हाल था। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक भ्रष्टाचार अधिकांशतः प्रशासन के निम्न स्तर तक ही समिति था। उच्च लोक सेवक पतित नहीं हुए थे। वरिष्ठ अधिकारी अधिकांशतः अंग्रेज थे। वे भारतीय जनमानस से दूर रहते थे तथा सेवा निवृत्ति के बाद वे इग्लैण्ड चले जाते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें अच्छा वेतन मिला था, इसके कारण वे सच्चरित्र बने रहे।

वास्तव में भारतवर्ष को कुशल तथा अपेक्षाकृत ईमानदार लोक सेवा विरासत में प्राप्त हुई। स्वतंत्रता के पश्चात लोगों की सच्चरित्रता में कमी आई है।

मौर्यों के महाअमात्य; प्रधानमन्त्री चाणक्य ने कहा था, ‘अगर राज्य को कर्त्तव्य निष्ठा और नियमों के अनुरूप चलाना है तो प्रशासनिक अनुक्रम में सबसे ऊपर बैठे व्यक्ति को पारदर्शिता लानी होगी।’

इसी सन्दर्भ में चाणक्य की एक कहानी मशहूर है। एक बार वे रात्रि में अपनी कुटिया में करणिक; क्लर्क के साथ सरकारी कामकाज निपटा रहे थे। थोड़े समय बाद जब सरकारी काम निपट गया तो उन्होंने दीया बुझा दिया और

कलम रख दी। इसके बाद उन्होंने वहीं पड़ा एक दूसरा दीया जलाया और अपने पास से दूसरी कलम और स्याही निकाल कर कुछ लिखने लगे। इस पर उनके क्लर्क ने आश्चर्य से पूछा कि इसका क्या मतलब है? इसके जवाब में उन्होंने कहा कि जब मैं सरकारी काम कर रहा था तो उस समय सरकारी दीपक और सरकारी कलम का उपयोग नीति सम्मत था। अब मैं निजी काम कर रहा हूँ, इसलिए निजी दीये और कलम का उपयोग व्यावहारिक है। इस तरह की पारदर्शिता अगर पदानुक्रम में उच्च स्तर पर बैठे लोग दिखाने लगे तो राज्य का विकास कोई नहीं रोक सकता।

16.4 भ्रष्टाचार की अवधारणा

भ्रष्टाचार शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थों में हुआ है। पुलिस एवं सरकारी अधिकारियों द्वारा रिश्वत लेना, औद्योगिक प्रष्ठिानों की भ्रष्ट व्यवस्था, यौन अनाचार, व्यापारियों द्वारा कम तोलना, मिलावट करना, स्मगलिंग, कालाबाजारी, सेल-टैक्स आदि की चोरी, न्यायाधीशों द्वारा पैसा लेकर अपराधी को मुक्त कर देना, चुनाव जीतने के लिए गडबड़ियॉं करना, अधिकारियों द्वारा राज्य की भूमि और संपत्ति की चोरी, आदि सभी भ्रष्टाचार के अन्तर्गत आते हैं।

भ्रष्टाचार के अनेक प्रकार होने के कारण इसकी परिभाषा कठिन प्रतीत होती है। भ्रष्टाचार की कुछ परिभाषाऐं इस प्रकार हैं-

भ्रष्टाचार निरोध समिति, 1964 अनुसार, 'शब्द के व्यापक अर्थ में एक सार्वजनिक पद अथवा जनजीवन में उपलब्ध एक विशेष स्थिति के साथ संलग्न शक्ति तथा प्रभाव का अनुचित या स्वार्थपूर्ण प्रयोग ही भ्रष्टाचार है।'

राबर्ट सी0 ब्रुक्स के अनुसार, 'कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने के लिए जान बूझकर प्रदत्त कर्तव्य का पालन न करना राजनैतिक भ्रष्टाचार है। भ्रष्टाचार सदैव कभी किसी स्पष्ट अथवा अस्पष्ट लाभ के लिए कानून एवं समाज के विरोध मे किया जाना वाला कार्य है।'

इटियट व मैरिन के अनुसार, 'प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष लाभ प्राप्ति हेतु जान-बूझकर निश्चित कर्त्तव्य का पालन न करना ही भ्रष्टाचार है।'

भारतीय दण्ड विधान की धारा 161 के अनुसार, कोई भी सार्वजनिक कर्मचारी वैध पारिश्रमिक के अतिरिक्त अपने या किसी दूसरे व्यक्ति के लिए जब कोई आर्थिक लाभ इसलिए लेता है कि सरकारी निर्णय पक्षपातपूर्ण ढंग से किया जाये, तो यह भ्रष्टाचार है तथा इससे सम्बन्धित व्यक्ति भ्रष्टाचारी है। यह परिभाषा केवल राज्य कर्मचारियों तक ही सीमित है। कानून की दृष्टि में यह परिभाषा भ्रष्टाचार की परख है तथा उपरोक्त प्रकार से वर्णित भ्रष्टाचार केन्द्र या अन्य राज्य सरकार या सांसद या विधान-मण्डल या किसी लोक सेवक के सन्दर्भ में किया गया है, तो उसे तीन वर्ष तक के कारावास का दण्ड या अर्थ दण्ड या दोनों दिये जायेंगे।

लोक कर्मचारियों के सम्बन्ध में भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम, 1947 ने भ्रष्टाचार के क्षेत्र की निम्नलिखित परिभाषा दी है। एक लोक सेवक अपने कर्त्तव्य के सम्पादन में आपराधिक दुराचरण का दोषी होता है-

1. यदि वह आदतन अपने लिए या अन्य किसी व्यक्ति से अपने लिए या अन्य व्यक्ति के लिए ऐसी धनराशि, जो विधिक पारिश्रमिक के अतिरिक्त होती है, किसी उद्देश्य या पुरस्कार के रूप में, जैसा भारतीय दण्ड विधान की धारा 161 में उल्लिखित है, स्वीकार करता है या प्राप्त करता है या स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाता है।

2. यदि वह आदतन अपने लिए या अन्य किसी व्यक्ति से अपने लिए या अन्य व्यक्ति के लिए कोई मूल्यवान वस्तु बिना कारण या किसी ऐसे कारण के लिए, जो वह जानता है कि अनुचित है, किसी जान-पहचान के व्यक्ति या किसी सम्पादित कार्य या व्यापार से सम्बन्धित या उसके या किसी ऐसे लोक सेवक के जिसका वह अधीनस्थ है, कार्यालय सम्बन्धी कार्यों या किसी ऐसे अन्य व्यक्ति से जिसे वह जानता है या जिससे सम्बन्धी व्यक्ति का हित है या सम्बन्धित है, ग्रहण करता है, तथा
3. यदि वह बेईमानी या जालसाजी से धन का दुरूपयोग करता है या लोक सेवक के रूप में अपने पद का दुरूपयोग करते हुए अपने या अन्य किसी व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण वस्तु या आर्थिक लाभ प्राप्त करता है।

भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम, 1947 के प्रावधानों की पकड़ मजबूत करने के लिए सन् 1988 में संशोधन किया गया। लोक सेवक की परिभाषा भी अब अधिक विस्तृत कर दी गयी है, जो उचित भी है। मन्त्री तथा सांसद भी लोक सेवक हैं।

16.5 भ्रष्टाचार की गतिविधियाँ

भ्रष्टाचार की निम्नलिखित गतिविधियाँ हैं-

1. सरकारी पद या सत्ता का दुरूपयोग।
2. जानबूझ कर कार्य को रोकना।
3. सार्वजनिक सम्पत्ति को हानि पहुँचाना।
4. स्वार्थवश अनैतिक लाभ प्राप्त करना (मौद्रिक या अमौद्रिक)।
5. निर्धारित नियमों का उल्लंघन करना।
6. ऐसा कृत्य जिससे परिचित को लाभ मिले एवं किसी अन्य का अधिकार, प्राकृतिक न्याय छीना जाता हो।

16.5.1 केन्द्रीय सतर्कता आयोग के अनुसार भ्रष्टाचार के रूप

केन्द्रीय सतर्कता आयोग ने भ्रष्टाचार के 27 रूप द्वारा गिनाए हैं-

1. निम्न स्तरीय वस्तुओं या कार्य को स्वीकार करना।
2. सार्वजनिक धन और भण्डार का दुरूपयोग करना।
3. जिन वयक्तियों से अधिकारियों के कार्यालय स्तर पर सम्बन्ध हैं, उनके आर्थिक दायित्वों को वहन करना।
4. ठेकेदारों या फर्मों से कर्ज लेना, जिनसे उनके कार्यालय स्तरीय सम्बन्ध होते हैं।
5. ठेकेदारों एवं फर्मों को रियायतें देना।
6. झूठे दौरे, भत्ते एवं गृह-किराया आदि का दावा करना।
7. अपनी आमदनी से अधिक वस्तुओं को रखना।
8. बिना पूर्व सूचना या पूर्वानुमति के अचल सम्पत्ति अर्जित करना।
9. प्रभाव या अन्य कारण से शासन को हानि पहुँचाना।
10. शासकीय पद या सत्ता का दुरूपयोग करना।
11. भर्ती, नियुक्ति, स्थानान्तरण एवं पदोन्नति के सम्बन्ध में गैर-कानूनी रूप से धन लेना।
12. शासकीय कर्मचारियों का व्यक्तिगत कार्यों में प्रयोग करना।
13. जन्मतिथि एवं समुदाय सम्बन्धी जाली प्रमाण-पत्र तैयार करना।
14. रेल तथा वायुयान में स्थान सुरक्षित करने में अनियमितता।

15. मनीऑर्डर, बीमा एवं मूल्य देय पार्सलों को न देना।
16. नए डाक टिकटों को हटाकर पुराने टिकट लगाना।
17. आयात-निर्यात लाइसेंस देने में असहयोग एवं अनियमितता।
18. लोक सेवकों की जानकारी एवं सहयोग से विभिन्न फर्मों द्वारा आयातित एक निर्धारित कोटे का दुरूपयोग।
19. टेलीफोन कनेक्शन देने में अनियमितता।
20. अनैतिक आचारण।
21. उपहार ग्रहण करना।
22. आर्थिक लाभ के लिए आयकर तथा सम्पति कर आदि का कम मूल्यांकन प्रस्तुत करना।
23. स्कूटर एवं कार खरीदने के लिए स्वीकृत अग्रिम धनराशियों का दुरूपयोग करना।
24. विस्थापितों के दावों के निपटारे में अनुचित विलम्ब।
25. विस्थापितों के दावों का गलत मूल्यांकन।
26. आवासीय भूमि के हिस्सों के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में धोखा देना।
27. सरकारी आवासों पर अनाधिकृत कब्जा और उन्हें अनाधिकृत रूप से किराए पर उठाना।

16.5.2 भ्रष्टाचार की सीमाऐं

भ्रष्टाचार की सीमाऐं अनन्त हैं। भारतीय लोक प्रशासनिक व्यवस्था में व्यापक स्तर पर द्रष्टव्य(देखे जाने वाले) भ्रष्ट आचरण के कुछ उदाहरण-

1. सरकारी भवन, वाहनों तथा टेलीफोन को निजी प्रयोग में लाना।
2. झूठे चिकित्सा पुनसंरण बिल तथा बीमा राशि का भुगतान प्राप्त करना।
3. सरकारी चिकित्सक द्वारा चिकित्सालय समय में घर पर फीस लेकर रोगी को देखना।
4. शिक्षकों द्वारा ट्यूशन कराना, प्रश्न-पत्र बताना व अंक बढ़ाना।
5. किराया लेकन ट्रेन या बस का टिकट न देना या कम राशि की टिकट देना।
6. सरकारी स्टेशनरी, दवा, उपकरण, फर्नीचर इत्यादि को बेचना या अपने घर पर ले आना अथवा निजी इस्तेमान में लाना।
7. कम कीमत अदा करके अधिक की रसीद प्राप्त करना।
8. यात्रा बिल में वास्तविक श्रेणी के बजाए उच्च श्रेणी की राशि उठाना।
9. व्यक्तिगत कार्यों की क्रियान्विति हेतु सरकारी टूर बनाना।
10. सरकारी कार्य में घटिया स्तर की सामग्री प्रयुक्त करना।
11. राशन सामग्री गायब करना।
12. उपस्थिति पंजिका में हस्ताक्षर करके अनुचित रूप से सीट से गायब रहना।
13. लाइसेंस, परमिट, अनुमति तथा अनापत्ति प्रमाण-पत्र इत्यादि में अनियमितता बरतना।
14. निजी क्षेत्र से प्रतिस्पर्द्धा में अनैतिक कृत्य करके सरकार को हानि पहुँचाना।
15. झूठे प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करना या उनकी स्वीकृति देना।

16. सरकारी कर्मचारी द्वारा अपनी पत्नी या सम्बन्धी के नाम से कोई एजेंसी लेना या स्वयं उसके कार्य से संलग्न रहना।
17. वरीयता या प्राथमिकता क्रम को भंग करना।
18. सरकारी कानूनों व नियमों की कमियॉं दूसरों को बताकर प्रशासन को हानि पहुँचाना तथा
19. नि:शुल्क पास सुविधा का दुरूपयोग करना।

16.5.3 भ्रष्टाचार की विशेषताएँ

भ्रष्टाचार की विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

1. भ्रष्टाचार में स्वार्थपूर्ति के लिए लघुमार्ग अपनाया जाता है।
2. इसमें नगद या वस्तु के रूप में घूंस दी जाती है।
3. इसमें अयोग्य के प्रति पक्षताप व योग्य के प्रति अन्याय होता है। इससे अन्ततः समाज को हानि होती है।
4. यह लेन-देन के सिद्धान्त पर आधारित है।
5. भ्रष्टाचार में पैसा उद्देश्य भी है और साधन भी है।
6. भ्रष्टाचार में कानून या नियमों की अवहेलना की जाती है। कभी-कभी कानून के विपरीत न होने पर भी न्याय एवं नैतिकता के विरूद्ध आचरण भ्रष्टाचार कहलाता है।
7. भ्रष्टाचार में व्यक्ति अपने निश्चित कर्त्तव्य का उल्लंघन करता है।
8. भ्रष्टाचार में कर्तव्यों का उल्लंघन जान-बूझकर किया जाता है।
9. भ्रष्टाचार में कर्तव्यों का उल्लंघन प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कोई अनुचित लाभ उठाने के लिए किया जाता है।

16.6 भ्रष्टाचार के कारण

जैसा कि हम जानते हैं भ्रष्टाचार का मूल कारण मानव नीयत में विद्यमान है। यद्यपि भ्रष्टाचार के मूल में अनेक राजनीतिक, सामाजिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक कारक निहित हैं। आज हम समाज के किसी एक क्षेत्र विशेष को ही भ्रष्टाचार का दोषी नहीं ठहरा सकते। समाज के सभी क्षेत्र और वर्ग इस भ्रष्टता में बुरी तरह डूबे हुए हैं। समस्त देश की व्यवस्था सड़-गल गयी है, जिसमें आमूल-चूल परिवर्तन की तीव्र आवश्यकता है। तथाकथित सम्भ्रान्त लोगों ने भ्रष्टाचार का निर्वाह बड़ी शालीनता से किया है। इनका पहला कार्य शिक्षण को जीवन से अलग करना है। जनसाधारण से कहा जाता है कि शिक्षण के बिना राष्ट्र का कल्याण होने वाला नहीं है। वास्तविकता यह है कि शिक्षा को इस ढॉंचे में ढ़ाला जाता है कि पढ़कर नवयुवक अपने स्वावलम्बी जीवन में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। वह सिर्फ सरकार के अर्थ-तन्त्र में एक अफसर, क्लर्क या कारीगर बनकर रह जाता है। शिक्षा के माध्यम से एक ऐसी फौज खड़ी हो जाती है, जिसका इस युग में मुख्य काम पैसा कमाना हो जाता है। परिणामस्वरूप सीमित साधनों में भौतिक ऐश्वर्य जुटाने के लिए अनैतिक राह भ्रष्टाचार को जन्म देने का कारण बनती है। भ्रष्टाचार के कतिपय विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण कारण इस प्रकार से हैं-

1. **राजनैतिक इकाइयाँ-** राजनीति में भ्रष्टता का सबसे बड़ा कारण चुनाव, वोट और कुर्सी के लिए किये गये दांव-पेंच हैं। स्वतन्त्रता से पूर्व स्वाधीनता संग्राम के समय में राजनीति एक ‘मिशन’ के रूप में थी, किन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात इसनें ‘कमीशन’ का रूप ले किया है। वर्तमान समय में राजनेता के जीवन विकास की प्रक्रिया में एक क्रम है, पहले प्रभावी या सरकार जिसकी है, उस पार्टी का टिकट प्राप्त करने

की दौड़, जाति, पैसे आदि के आधार पर यदि टिकट मिल जाये तो फिर चुनाव की जोड़-तोड़ और विभिन्न प्रकार की सांठ-गांठ, चुनाव जीत गये तो फिर मंत्री पद प्राप्त करने और उसे बरकरार रखने तक यही राजनेता का जीवन-चक्र है। इस सब में जन-सेवा तो सबसे गौण बात है। सामाजिक परिवर्तन, नियन्त्रण तथा नैतिक विकास में राजनेताओं की आदर्श छवि किसी भी देश के लिए गर्व की बात होती है, लेकिन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का पतन तथा इसके कर्णधारों की धूमिल होती छवि एक गंभीर चिंता का विषय बन चुकी है। ये लोग प्रजा को मताधिकार तो देते हैं फिर उसका उपभोग स्वार्थी तत्वों द्वारा भी करते हैं। कहीं प्रलोभन, कहीं रूपया, कहीं धोखा और कहीं जूता, कहीं रिश्ता तो कहीं बिरादरी ये सारे हथकण्डे भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने के लिए अपनाते हैं। स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार का जन्म सत्ता के उच्च शिखरों में होता है, जो धीरे-धीरे सम्पूर्ण तन्त्र में रिस जाता है। राजनीति से ही प्रभावित यह भ्रष्टता प्रशासन-तंत्र में घुस बैठती है। वस्तुतः प्रशासन मंत्रियों की अधीनस्थ सेवा है, यदि मंत्रियों में भ्रष्टाचार फैला हुआ है, तो प्रशासन में उससे बेहतर व्यवहार की अपेक्षा नहीं की जा सकती। हमारे देश में रिश्वत के बिना फाइल क्या कोई कागज जरा भी आगे खिसकने से इनकार करता है। प्रान्तीय सेवाओं में हर पद का ऐसा ऊँचा रेट हो गया है कि उसे दे पाना हर एक के बूते की बात नहीं। जो इस ऊँचे रेट को देकर पद प्राप्त करते हैं, वे जल्दी ही इस रूपये को वसूलने के चक्कर में पड़ जाते हैं। इस प्रकार पूरा प्रशासन-तंत्र और नौकरशाही भ्रष्टाता में डूबी हुई है।

2. **व्यापार एवं राजनीति में निकट सम्बन्ध-** बड़े-बड़े व्यापरियों और राजनीतिज्ञों के बीच गठबन्धन के कारण कई उद्योगपति चुनाव के समय राजनीतिज्ञों तथा विशेषतः सत्तारूढ़ दल को भारी रकम, आर्थिक सहायता के रूप में देते हैं तथा उनके सत्ता में आने पर उनसे कई लाभ उठाते हैं। ऐसे लोग चाहते हैं कि वे कम टैक्स चुका कर टैक्स की चोरी करें, वस्तुओं में मिलावट करें और वस्तुओं को संग्रह करें। 'सत्यम घोटाला' अधिक मुनाफा कमाए और इन सारे कार्यों के लिए कई राजनेता उन्हें संरक्षण प्रदान करते हैं।
3. **प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के दोष-** प्रजातन्त्र में दलीय प्रणाली महत्वपूर्ण है। दल को समर्थन देने वाले व्यक्ति अपने हितों के अनुरूप शासक दल से कार्य करवाते हैं। दलगत राजनीति भी भ्रष्टाचार के लिये उत्तरदायी है। अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए सत्तारूढ़ दल सभी प्रकार के उचित व अनुचित कदम उठाता है। भारत में 'आया राम-गया राम' वाली दल-बदल की राजनीति ने भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया है।
4. **कार्मिक नीतियाँ-** कुछ वर्षों में कुछ ऐसे उद्देश्यों से गलत कार्मिक नीतियाँ अपनायी गयी, जिससे अफसरशाही कमजोर हो गयी हो, उसका मनोबल टूट सा गया है। आज उच्च सरकारी वर्ग में पदोन्नति कार्य कुशलता से जुड़ी नहीं है। अवसरवादी व्यक्ति जो अधिकतर योग्यता व ईमानदारी में शून्य होते हैं, परन्तु लचीली अन्तरात्मा व मुखौटे लिये घूमते हैं, महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त हो जाते हैं। कई बार वरिष्ठ, योग्य, ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ अधिकारियों को जानबूझकर ऐसे पदों से दूर रखा जाता है। कभी-कभार ऐसे योग्य व्यक्तियों को बार-बार स्थानान्तरित कर अन्य ऐसी युक्तियों के द्वारा परेशान किया जाता है। इन परिस्थितियों के कारण अधिकारी वर्ग का मनोबल इतना कमजोर हो गया है कि यह वर्ग अब सरकारी नीतियों को लागू करने में अपने को अक्षम पा रहा है। वह इतना हतोत्साहित है कि वह रोजमर्रा का सामान्य प्रशासन चलाने में भी कठिनाई अनुभव करता है। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय राजनीतिज्ञ भी इस दशा के लिए जिम्मेदार हैं। सरकार की नीतियों, कार्यक्रमों तथा नौकरशाही की कार्यशैली में कोटा,

परमिट तथा लाइसेंस प्रणालियों में भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया है। जिन व्यक्तियों के पास साधन थे, वे अपने व्यापार या उद्योग का विस्तार करते गये और इस प्रक्रिया में बॉधा अनुभव करने पर सम्बन्धित कार्मिक अथवा प्रशासन को खरीद कर भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते हैं।

5. **सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन-** वर्तमान समय में सामाजिक मूल्य बदलते जा रहे हैं। अब व्यक्तिवाद और भौतिक लाभ को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। आज व्यक्ति का मूल्यांकन धन के आधार पर होने लगा है। अतः व्यक्ति सभी प्रकार के अनुचित साधनों का प्रयोग कर सम्पत्तिशाली बनना चाहता है, जिसके लिये वह भ्रष्ट साधनों का उपयोग करने से भी नहीं हिचकिचाता। मानव का भौतिकवादी होना समस्या का सबसे गंभीर पक्ष है। इसमें व्यक्ति के पास एकत्रित भौतिक वस्तुऐं उसकी जीवन-शैली को और सुविधाजनक तो बनाती हैं, जिसको वह अपना प्रतिष्ठा का परिचायक समझता है। समाज में व्यक्ति के पास उपलब्ध सम्पत्ति का आकलन तो किया जाता है, किन्तु इस विषय पर विचार नहीं होता कि एकत्रित सम्पत्ति का स्रोत क्या है। अतः यह कहा जा सकता है कि इसके द्वारा भ्रष्टाचार को सामाजिक मान्यता प्राप्त हो जाती है।
6. **मुद्रा अर्थ-व्यवस्था-** मुद्रा अर्थव्यवस्था के प्रचलन के कारण धन संग्रह करना और उसे छिपाकर रखना सरल हो गया है। काका हाथरसी की कविता- धन्य तू रिश्वत रानी, अनगिनत तेरे नाम
हक, पानी, बक्शीस, भेंट, रिश्वत , घूस,
इनाम नजर, नजराना, पगड़ी, तेरे
कारन खॉऊ माल की इन्कम तगड़ी।
7. **विकास के असमान अवसर-** सभी लोगों को विकास के समान अवसर प्राप्त न होने के कारण भी कई लोग अपना विकास करने एवं साधन जुटाने के लिए भ्रष्टाचार का सहारा लेते हैं। पूरी व्यवस्था पर भ्रष्ट अफसरशाह और नेता काबिज हो गये हैं और कमाई वाले पदों पर बने हुये हैं। इन लोगों ने घूसखोरी और सरकारी योजनाओं के धन को हेराफेरी का एक फलता-फूलता व्यवसाय बना दिया है। इनके भ्रष्टाचार के लिए किसी सबूत की जरूरत नहीं है। देश के बड़े-बड़े महानगरों में इनकी आलीशान कोठियां, फार्म हाऊस, मंहगी गाड़ियॉ और तमाम नामी-बेनामी सम्पत्तियॉ हैं। आज भारतीय अफसरशाही को अधिकतर लोग दब्बू, अयोग्य व भ्रष्ट व्यक्तियों का समूह समझते हैं। यह छवि किसी भी मानक के अनुसार गलत या अतिश्योक्ति नहीं है।
8. **प्रशासकीय कठिनाइयाँ-** राजनीतिक संस्थाओं का विशाल क्षेत्र होने के कारण सभी व्यक्ति इन संस्थाओं के कार्यों का लाभ नहीं उठा पाते। वे इन प्रशासकीय कठिनाइयों और बारीकियों से पूर्णतः परिचित नहीं हो पाते। अतः झंझटों से मुक्ति पाने के लिए वे रिश्वत के रूप में रूपया देकर अपना काम निकलवा लेते हैं।
9. **अशिक्षा-** भारत में अधिकाश जनसंख्या अशिक्षित है। अशिक्षितों की अनभिज्ञता का लाभ उठाने के लिए कर्मचारी एवं अधिकारी-गण उनसे किसी न किसी प्रकार से रिश्वत के रूप में रूपया ऐंठ लेते हैं।
10. **कानून की अनभिज्ञता-** विभिन्न क्षेत्रों में कानून की अधिकता एवं कानून की बारीकियों से सभी लोग परिचित नहीं हैं। अतः जो लोग कानून के रक्षक माने जाते हैं, वे लोगों की कानून के प्रति अनभिज्ञता का लाभ उठाकर रिश्वत लेते है।

11. **नियन्त्रण प्रणाली-** प्रशासनिक कार्यों में नैतिकता समाहित करने तथा जवाबदेयता सुनिश्चित करने के लिये अनेक कानून तथा प्रशासनिक संरचनाऐं कार्यरत हैं, किन्तु नियंत्रण का यह तंत्र प्रायः निष्क्रिय और अकार्य कुशल पाया गया है। सतर्कता आयोग, भ्रष्टाचार निरोधक विभाग, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो, पुलिस एवं गुप्तचर विभाग। जन-प्रतिनिधि(मंत्री), लेखा परीक्षक तथा लोकायुक्त सहित भ्रष्टाचार नियंत्रण की विभागीय प्रणालियाँ सम्पूर्ण मारक क्षमता से क्रियाशील नहीं रह पाती हैं।
12. **चारित्रिक एवं नैतिक पतन-** चरित्र एवं नैतिकता में पतन भ्रष्टाचार के लिए काफी कुछ सीमा तक उत्तरदायी है। आज व्यक्ति का मूल्यांकन धन के आधार पर किया जाता है, चाहे वह अनैतिक तरीके से ही एकत्रित किया गया हो। प्राचीन काल में समाज की संरचना सरल थी, जीवन की इच्छाऐं कम थीं तथा ग्रामीण परिवेश में नैतिकता का एक विशिष्ट महत्व था। वर्तमान भारत में सच्चरित्रता या ईमानदारी की बातें करने वाला 'उपहास' का पात्र बन जाता है, क्योंकि मानसून में तैरते मैढकों के झुण्ड में कोयल की कौन सुनें? भारत में भ्रष्टाचार स्थिति को स्पष्ट करते हुए नीरद सी0 चौधरी ने लिखा है, 'छोटे से क्लर्क से लेकर मंत्री तक शायद ही कोई व्यक्ति हो जिसे किसी न किसी मात्रा में धन द्वारा नियंत्रित न किया जा सके।' भ्रष्टाचार के इस तंत्र को उजागर करते हुए तत्कालीन प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी ने कहा था कि 'विकास कार्यों के लिए मैं केन्द्र से एक रूपया भेजता हूँ, लेकिन जरूरतमंद तक 15 पैसे ही पहुँच पाते हैं।' वर्तमान समय में तो यह स्थिति सुधरने की बजाय और बिगड़ गयी है।
13. **भ्रष्टाचार पनपाने में उच्चाधिकारियों का सहयोग-** भ्रष्टाचार तभी पनपता है, जब उच्च अधिकारियों का सहयोग हो। जब कलैक्टर, एस0 पी0 और मंत्रीगण ही भ्रष्ट होंगे तो उनके अधीन कर्मचारी भी भ्रष्ट होंगे। जब रक्षक और शासन करने वाले व्यक्ति ही भक्षक और भ्रष्ट हों तो सामान्य लोगों से क्या अपेक्षा की जा सकती है।
14. **देश भक्ति में ह्रास-** स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में भ्रष्टाचार बढ़ा है। भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात यहाँ के अधिकांश नागरिक स्वयं को स्तवंत्र नहीं अपितु स्वछन्द समझने लगे हैं। यहाँ की जनता, सरकार को स्वयं से सर्वथा पृथक समझती है। देश के सरकारी कार्मिक से लेकर आम आदमी तक हर कोई सरकार को परायेपन की नजर से देखता है।

    सरकारी संस्था को लूटने या हानि पहुँचाने को सामान्यतः अपराध नहीं माना जा रहा है। यहाँ लोकतंत्र नहीं लूटतंत्र राज करता है। बहुत से नागरिक तो देश की सीमाओं पर युद्ध करने को ही देशभक्ति का परिचायक मानते हैं। रिश्वत देना और लेना दोनों ही भ्रष्टाचार के अन्तर्गत आते हैं। कई बार ऐसा भी होता है, जब व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु सरकारी कार्मिक को प्रस्ताव करके रिश्वत देता है। ऐसी स्थिति में भ्रष्टाचार का फैलाव सरलता से होता है। जिसके कारण देश को इतनी बड़ी हानि पहुँचती है, जिनके परिणाम दूरगामी होते हैं। जैसे- शासन की जगह शोषण, न्यायपालिका की जगह भ्रष्ट पालिका, लोकतंत्र की जगह लूट-तन्त्र। इस प्रकार सम्पूर्ण दम घोंटू भ्रष्टतंत्र के निर्माण में लग जाता है।
15. **वेतनमानों में विसंगतियाँ-** विशाल भू-भाग तथा विविध सामाजिक आर्थिक जटिलताओं के कारण भारत के प्रत्येक स्थान पर जीवनयापन एक समान नहीं है। गॉवों में कम आय में भी सम्मानपूर्वक जीवन जिया जा सकता है। वहीं महानगरों में विपुल धनराशि भी अपर्याप्त सिद्ध होती है। जिन कर्मचारियों को वेतन कम मिलता है, वे अपनी आवश्यकताओं एवं सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करने के लिए भ्रष्ट

तरीके से धनोपार्जन करने का मार्ग तलाशते हैं। इसके अलावा प्रतिवर्ष फरवरी तथा मार्च माह में सरकारी अधिकारियों को या तो अधिकांश रूपये बचत योजनाओं में विनियोजित करने पड़ते हैं अथवा आयकर के रूप में सरकार को चुकाने होते हैं। सारांशतः भारत में कार्य, पद, योग्यता, महंगाई तथा परिस्थिति के अनुसार वेतन नहीं दिया जाता है। अतः कतिपय कार्मिक मजबूर होकर अवैधानिक तरीकों से आय करना भी शुरू कर देते हैं।

16. **कर्मचारी संघ-** आज सरकारी और गैर-सरकारी सभी विभागों में कर्मचारियों के संघ एवं संगठन बने हुए हैं। जब भी किसी कर्मचारी पर रिश्वत लेने या भ्रष्ट होने का आरोप लगाया जाता है या उसके विरूद्ध कोई कार्यवाही की जाती है या उसका स्थानान्तरण कर दिया जाता है तो ये संगठन ऐसी किसी भी कार्यवाही का समान्यतः विरोध करते हैं। वे कर्मचारी के प्रति अन्याय एंव शोषण का नारा बुलन्द करते हैं तथा हड़ताल करते हैं। ऐसी स्थिति में भ्रष्ट अधिकारियों के विरूद्ध कोइ कदम उठाना बड़ा कठिन होता है। इससे भ्रष्टाचार को प्रश्रय एवं बढ़ावा मिलता है।

16.7 भ्रष्टाचार के परिणाम

भ्रष्टाचार आज रामनाम की लूट बन गया है। इतना ही नहीं, यह बढ़ भी द्रोपदी की चीर की तरह रहा है। इसे जितना रोकने की कोशिश की जा रही है उतना, ही बढ़ता जा रहा है। भ्रष्टाचार त्याग की तरह ऊपर से शुरू होता है और नीचे की ओर प्रसारित होकर सम्पूर्ण समाज को अपने रंग में रंग लेता है। वास्तव में भ्रष्टाचार ऊँचे आसनों पर अधिक गहरे और भयानक रूप में है। भ्रष्टाचार के निम्नांकित परिणाम होते हैं-

1. वृहत वफादारी के स्थान पर स्थानीय वफादारी बढ़ती है और देश एवं सामुदायिक हितों के स्थान पर व्यक्तिगत व स्थानीय हितों को महत्व दिया जाता है। परिणामस्वरूप राजनीतिक स्थिरता और एकता खतरे में पड़ जाती है।
2. मिर्डल का मत है कि भ्रष्टाचार के कारण लालफीताशाही व उत्तरदायित्व से भागने की प्रवृत्ति बढ़ती है और लोग अक्षम हो जाते हैं। तथा विकास कार्य रूक जाता है।
3. नियमहीनता और कानून की अवहेलना में वृद्धि होती है।
4. महँगाई बढ़ती है।
5. जन मानस में आक्रोश, तनाव, निराशा एवं संघर्ष पैदा होता है। जन मानस में भ्रष्ट व्यवस्था के प्रति उमड़ते इस आक्रोश की अभिव्यक्ति आये दिन निकलने वाले जुलूस, हड़ताल, बंद, तोड़-फोड़ की अन्य कार्यवाही हिंसा आदि के द्वारा भी होती हैं। अब तो विभिन्न वर्गों की रैलियॉ आम हो गयी हैं, किसान, अध्यापक, मिल मजदूर, सरकारी कर्मचारी आदि सभी रैलियॉ कर रहे हैं। सरकार के लिए भी यह प्रदर्शन अब आम हो गये हैं, इसलिए उनका विशेष असर नहीं रह गया है। गाँधी जी का यह अस्त्र नाकाम सा नजर आता है और इसका प्रयोग गलत रूप में तो हो ही रहा है, किन्तु प्रदर्शन रैलियॉ भी आज एक आवश्यकता बने नज़र आते हैं। इनके बिना सरकार के कानों पर जूं ही नहीं रेंगती है।
6. राष्ट्रीय चरित्र एवं नैतिकता का पतन होता है।

16.8 प्रशासन में भ्रष्टाचार

'सर्वश्रेष्ठ' के भ्रष्ट होने के समान कोई बुराई नहीं हैं। यूं तो आज समाज में चारों ओर भ्रष्टता का प्रदूषित वातावरण परिव्याप्त है, किन्तु राजनीति और प्रशासन में भ्रष्टता का कोई भी कोना हाथ ही नहीं आ रहा है। वर्तमान समय में

भ्रष्टाचार की समस्या सभी देशों में पायी जा रही है और इसका कोई रूप सर्वत्र देखने को मिलता है। भ्रष्टाचार में व्यक्ति सामाजिक नियमों का सोच-समझकर उल्लंघन करता है तथा अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए दूसरों के हितों की अवहेलना करता है। साथ ही वह व्यक्तिगत लाभ के लिए अपने अधिकारों का दुरूपयोग करता है, मिलावट करता है, रिश्वत लेता है और पक्षपात का सहारा लेता है। स्वतन्त्रता के बाद भारत में भ्रष्टाचार की मात्रा बढ़ी है और इंजीनियर, डाक्टर, मंत्री, विधायक, उद्योगपति, व्यापारी, प्रशासक व राजनीतिज्ञों द्वारा भ्रष्टाचार किये जाने के अनेक मामले सामने आये हैं। इसके निवारण के लिए समय-समय पर कई विभागों और समितियों की स्थापना की जाती रही है, किन्तु भ्रष्टाचार उन्मूलन के स्थान पर इसमें बढ़ोत्तरी ही हुई है।

यह बात सभी जानते हैं कि भारत धर्म प्रधान देश रहा है। भारत में धर्म, देशवासियों के आचरण में स्थान पाकर मूर्तरूप प्राप्त करता है। जब धार्मिक आचारण न्यायसंगत और नैतिक आचरण के विपरीत होता है, उसे प्रायः भ्रष्ट आचरण का नाम प्रदान करते हैं। धार्मिक एवं नैतिक आचरण पर्वत के समान आचरणशील व्यक्ति को ऊपर उठाते हैं। इसके विपरीत भ्रष्ट आचरण मनुष्य को व्यक्तिगत रूप से पतन की ओर, अवनति की ओर ले जाते हैं। भ्रष्ट शब्द 'गिरने का अर्थ देने वाली' धातु से बना है। भ्रष्ट आचरण अथवा भ्रष्टाचार पहले व्यक्ति को और बाद में देश को पतित करता है।

विश्व के सबसे बड़े प्रजातंत्रीय व्यवस्था वाले देश भारत वर्ष में पिछले 64 वर्षों में भ्रष्टाचार गंभीर रूप से अपनी जड़ों को जमा चुका है। हमारे देश का नारा 'सत्यमेव जयते' है, परन्तु इतना होने पर भी मानो स्वाधीन भारत में सर्वत्र भ्रष्टाचार का ही राज है। न केवल भारत बल्कि पूरा विश्व जिस प्रकार मूल्य निरपेक्ष दृष्टि से आगे बढ़ रहा है वहाँ भौतिक उपलब्धि ही सब कुछ है तथा साधन की पवित्रता अप्रसांगिक हो गयी है। 'सदाचार' तो आज मूर्खता, फूहड़पन, दकियानूसी आदि का पर्याय माना जाने लगा है। येन केन प्रकारेण अपना उल्लू सीधा करना ही परम पुरूषार्थ माना जा रहा है।

भ्रष्टाचार ने आज हमारे जीवन में सभी क्षेत्रों पर गहरा अधिकार कर लिया है, जिसके कारण हमारे पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में भ्रष्टाचार का महातांडव नृत्य हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति भ्रष्टाचार से भयभीत होकर भी उसमें अग्रसर हो रहा है, इसलिए व्याप्त भ्रष्टाचार आज के भारतीय जीवन की सर्व प्रधान समस्या बन गया है। लोक सभा हो या राज्य सभा किसी प्रदेश की विधान सभा हो या विधान परिषद, नगर निगम हो या नगरपालिका किसी भी कार्यवाही को उठाकर देखिए, भ्रष्टाचार का उल्लेख अवश्य मिलेगा। यही नहीं समाचार-पत्रों, सभा-समितियों में भी भ्रष्टाचार का मूल, मानव नीयत में विद्यमान है। नीयत का निर्देशन कर रही है, आज की भौतिक प्रगति। सीमित साधनों में भौतिक ऐश्वर्य को प्राप्त न कर सकने पर मानव का स्वतः ही किसी भी प्रकार उन साधनों को जुटाने के लिऐ अनैतिक राहों पर चलना ही एकमात्र उपाय रह जाता है। यह भ्रष्टाचार, रिश्वत व कमीशन के रूप में सरकारी, गैर-सरकारी क्षेत्रों में विद्यमान है। यह रिश्वत खोरी ही है, जो भ्रष्टाचार को जन्म देती है।

भारतीय परम्परा में व्यक्ति को भ्रष्ट मार्ग पर चलने से रोकने का कार्य शासन करता का है। शासन का केवल एक ही कार्य है, वाह्य शत्रुओं से देश की रक्षा और देश के अन्दर शान्ति की स्थापना। देश की आन्तरिक शान्ति को भ्रष्टाचारी ही भंग करते हैं, अन्यथा आचारण शान्ति प्रिय जनता को अशान्त बनाता है, सताता है और कष्ट देता है तथा शासन इसे रोकता है। शासन का कर्तव्य स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'निहन्ति दण्डेन सः धर्म विप्लवम्'। अर्थात् धर्म में विक्षोभ उत्पन्न करने वाले व्यक्ति को शासन दण्ड देकर धर्म विक्षोभ से रोकता है। यही कारण है कि शासक-राजा का निर्माण गर्भाधान से ही प्रारम्भ हो जाता था। कालिदास ने अपने महाकाव्य 'रघुवंश' में महाराज

रघु के गर्भाधान से लेकर राज्य ग्रहण करने तक का इसका संकेत दिया है। इसीलिए भारतवर्ष की मनीषा राजा को काल का कारण मानती है। 'राजा कालस्य कारणम्'। यथा राजा तथा प्रजा'। जिस भारत देश ने समस्त विश्व को अपने-अपने चरित्र की शिक्षा दी थी, वह अद्योगति को प्राप्त हो गया है। आज न्यायालयों में न्याय बिक रहा है, शिक्षा और ज्ञान भी वैसे से प्राप्त होते माने जा रहे हैं, मिलावट का दौर है, औषधियां भी मिलावट के घेरे में आ गयी हैं, व्यापार तो इतना भ्रष्ट हुआ है कि कहना संभव नहीं। व्यापारी अधिक से अधिक दाम लेकर निर्धारित सामग्री प्रदान नहीं करना चाहता। यदि एक शब्द में कहें तो देश भ्रष्टाचार में आकण्ठ डूब गया है। पीड़ा तो सबसे बड़ी यह है कि इस भ्रष्टाचर को रोकने का प्रयत्न शासन नहीं करता।

आज भ्रष्टाचार एक विश्व व्यापी तथा परम्परागत समस्या बनता जा रहा है। भ्रष्टाचार का विलोम 'सच्चरित्रता', नैतिक सिद्धान्तों की दृढ़ता, निर्दोष चरित्र, स्पष्टता, ईमानदारी एवं निष्कपटता के रूप में परिभाषित किये गये हैं। सच्चरित्रता राज्य का परमावश्यक धर्म होता है, जोकि एक दुर्लभ प्रवृत्ति का रूप लेती जा रही है। सार्वजनिक प्रशासन में सच्चरिता के महत्व को स्पष्ट करते हुए प्रथम पंचवर्षीय योजना में कहा गया था- 'सार्वजनिक मामलों एवं प्रशासन में सच्चरित्रता होना आवश्यक है, अतः प्रत्येक सार्वजनिक कार्य सम्बन्धी शाखा में इस पर बल दिया जाना चाहिए। भ्रष्टाचार का दुष्प्रभाव बहुत व्यापक होता है। इसके फलस्वरूप न केवल ऐसी गलतियॉ होती हैं, जिनको सुधारना कठिन हो जाता है, बल्कि यह प्रशासनिक ढ़ॉचे की जड़ों एवं प्रशासन में जनता के विश्वास को ही हिला देता है। अतः प्रशासन में भ्रष्टाचार के विरूद्ध एक निरन्तर चलने वाला युद्ध छेड़ देना चाहिए।' प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में प्रशासन में सच्चरित्रता को सर्वोच्च प्राथमिकता देने पर बल दिया गया है। योजना के मुख्य प्रशासकीय कार्यों की सूची में इसे जो स्थान दिया गया है एवं सार्वजनिक अधिकारियों से इस ओर विशेष ध्यान देने का जो आग्रह किया गया है, उससे भी उपरोक्त मत की पुष्टि होती है।

16.9 वर्तमान में भ्रष्टाचार के बदलते आयाम

लम्बे संघर्ष और बलिदान के बाद जब यह देश आजाद हुआ था तो आम आदमी में भी खुशहाली के साथ अमन-चैन की अरमान भरी संभावनाएं पैदा हुई थी। उसने सोचा था कि अब वह आजाद देश का नागरिक है और सिर ऊॅचा करके चलने का अधिकारी है। देश के रक्तरंचित बंटवारे के बावजूद लोगों को बहुत आशाएं थीं। नये शासकों के सामने भी समस्याएं कम नहीं थीं, लेकिन वे आतंकित नहीं थे। उनके पास आजाद भारत के मार्ग-दर्शन के लिए कुछ योजनाऐं थीं और उनकी निगरानी में सफर की शुरूआत हुई। विषम परिस्थितियों और कठिन चुनौतियों के बावजूद ऊॅचे लक्ष्य रखे गये, ताकि वे लोगों का जीवन स्तर सुधार सकें और राष्ट्र को आत्मनिर्भर बना सकें। उनके प्रयास व्यर्थ नहीं गये और देश ने एक मजबूत आधार व्यवस्था का ढॉचा निर्मित किया। आज देश की एक तिहाई आबादी निपट दरिद्रता में गुजर-बसर करती है, लेकिन भारत की अर्थव्यवस्था मजबूत भी हुई है। आजादी का सुखभोग करते-करते कई दशक बीत गये। जिन्होंने आजादी की लड़ाई में हिस्सा लिया था, उन्होंने शायद ही इतना सुख भोग किया हो, जितना अब की पीढ़ी के लोग कर रहे हैं। वे तो देश की तरक्की के लिए खून-पसीना बहाते रहे, लेकिन अब तो हालत इतनी बिगड़ गयी है कि लक्ष्य ही कुर्सी हथियाना रह गया। बस कुर्सी बची रहनी चाहिए चाहे कुछ भी करना पड़े। जन-सेवा के नाम पर परिवार सेवा और सात पीढ़ी की सुरक्षा, सुख-समृद्धि का इन्तजाम ही ध्येय रह गया है। इस जोड़-तोड़ में अगर फस जाते हैं, तो कानून तक बदलने की सोचने लगते हैं। 'ट्रांसपेरेन्सी इण्टरनेशनल' के सर्वे में यह बात उभर कर आयी है कि देश में सबसे ज्यादा भ्रष्ट राजनीतिक दल ही है। तत्पश्चात कानून व्यवस्था संभालने वाली पुलिस, न्यायपालिका तथा भूमि प्रशासन आते हैं।

आज सत्ता की रामनामी ओढ़कर सभी का भ्रष्टाचार की वैतरणी तैरना आम बात हो गयी है। यह आम कहावत हो गयी है कि अगर रिश्वत लेते पकड़े जाओ, तो भ्रष्ट तरीके अपनाकर रिश्वत, देकर ही छूट पाओगे। आज महान वही है जो महान भ्रष्टाचारी है। जिसकी ऊँचे- ऊँचे भ्रष्टाचारी नेता और अफसरों से सांठ-गांठ है। यह कहना अतिश्योक्ति न होगा कि आज सभी भ्रष्टाचार के आगोश में समा चुके हैं।

सुविधाभोगी होते समाज को भ्रष्टाचार का अजगर निगल रहा है। उदाहरण स्वरूप राष्ट्रमंडल खेल घोटाला, आदर्श सोयायटी घोटाला, टू जी स्पेक्ट्रम घोटाला, हाउसिंग लोन घोटाला। आज स्थिति यह है कि जाँच एजेंसिया जब तक किसी घोटाले की तह तक पहुँचती हैं, दूसरा घोटाला सामाने आ जाता है।

भ्रष्टाचार रूपी असाध्य रोग अब हमारे देश के आर्थिक महाशक्ति बनने में भी बड़ा अवरोध साबित हो रहा है। इससे हर साल अर्थव्यवस्था को करोड़ों रूपये की चपत लगती है। सेना, न्यायपालिका और खुफिया जैसे अपेक्षाकृत साफ-सुथरे और दाग रहित संस्थानों में भी भ्रष्टाचार की नई प्रवृत्ति ने आम आदमी को आवाक् किया है। भारत में भ्रष्टाचार के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी हैं-

1. **जड़ों का जमाव-** आजादी के बाद देश में 1950 से 1990 के बीच समाजवाद से प्रेरित नीतियां लागू की गयी, इसके तहत अर्थव्यवस्था को मजबूती से नियंत्रण में रखा गया। संरक्षणवाद और सार्वजनिक इकाईयों को पोषित किया गया। लिहाजा लाइसेंस राज का उदय हुआ। जिससे आर्थिक वृद्धि मंद पड़ी और भ्रष्टाचार का बोलबाला बढ़ा।
2. **अफसरशाही-** ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशनल के अनुसार देश के 50 प्रतिशत से अधिक लोगों को सरकारी दफ्तरों में अपना काम कराने के लिए रिश्वत देना या प्रभाव का इस्तेमाल करना पड़ता है।
3. 2009 में किए गये सर्वे के मुताबिक देश में अफसरशाही की कार्य-कुशलता का स्तर एशिया की दिग्गज अर्थ-व्यवस्थाओं वाले देशों मसलन सिंगापुर, दक्षिण कोरिया, जापान, चीन और इंडोनेशिया की तुलना में दोयम दर्जे का है।
4. **भूमि और सम्पत्ति-** अधिकारी राज्य की सम्पत्ति को ही चुरा लेते हैं। बिहार में 80 प्रतिशत से भी ज्यादा रियायती दरों पर गरीबों को दी जाने वाली खाद्य सहायता चुरा ली जाती है।
   पूरे देश में पनप चुका भूमाफिया राजनीतिज्ञों, अफसरों, बिल्डरों, की मदद से अवैध तरीके से भूमि का अधिग्रहण कर उसको गैरकानूनी ढंग से बेच देता है।
5. **टेंडर और कांटैक्ट प्रक्रिया-** नीलामी प्रकिया में पारदर्शिता का घोर अभाव है। सरकारी अधिकारी बोली लगाने में अपने चहेते चुनिंदा लोगों के हक में टेंडर जारी कर देते हैं। सरकार द्वारा सड़क निर्माण कार्य में तो कंस्ट्रक्शन माफिया का बोलबाला है।
6. **स्वास्थ्य-** सरकारी अस्पतालों में भ्रष्टाचार, दवाओं की गैर-मौजूदगी, मरीज को भर्ती करने की जिद्दोजहद, डाक्टरों की अनुपलब्धता से जुड़ा है। हाल ही में राजधानी उत्तर प्रदेश में सी0एम0ओ0 की हत्या जैसी घटनाऐं विभागीय भ्रष्टाचार का परिणाम है।
7. **न्यायपालिका-** ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशनल के मुताबिक मुकदमों के निपटारे में होने वाली देरी जटिल न्यायिक प्रक्रिया और जजों की कमी के कारण न्यायिक तंत्र के भ्रष्टाचार पनप रहा है।
   राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो की रिपोर्ट के अनुसार भ्रष्टाचार निरोधक कानून तथा आई. पी. सी. की धाराओं के तहत लगभग 29117 लोगों पर भ्रष्टाचार के मामले चल रहे हैं। जाँच एजेंसियों और अदालतों

की रफ्तार इतनी सुस्त है कि सालभर में एक हजार भ्रष्ट लोगों को भी सजा नहीं हो पाती। अगर किसी को सजा होती भी है तो अधिकतम सात साल की जबकि उसकी काली कमाई उसके पास ही रहती है।

राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के अनुसार भ्रष्टाचार के करीब 17792 मामले विभिन्न अदालतों में घूल फांक रहे हैं। अकेले सी.बी.आई. के पास 9910 भ्रष्टाचार के मामले लंबित पड़े हैं।

8. **सशस्त्र सेना-** सेना में भी भ्रष्टाचार अचंभित करता है। हाल के वर्षों में सुकना भूमि घोटालें मे तो सेना के चार लेफ्टिनेंट जनरल स्तर के अधिकारियों पर आरोप लगे हैं। ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशनल के एक अध्ययन के मुताबिक सरकार द्वारा जनता को दी जाने वाली 11 बुनियादी सुविधाओं मसलन शिक्षा, स्वास्थ्य, न्यायपालिका और पुलिस वगैरह में भ्रष्टाचार को यदि मौद्रिक मूल्यों में आंका जाए तो यह करीब 21068 करोड़ रूपये का होगा।
9. **स्विस बैंक में जमा देश की धनराशि-** देश के 66 हजार अरब रूपये स्विस बैंक में जमा है। इस जमा काले धन के मामले में दुनिया के सभी देशों में भारत अव्वल है। यह रकम हमारे ऊपर कुल विदेशी कर्ज की 13 गुना है। आजादी के बाद से 2008 तक 9.6 लाख करोड़ रूपये अवैध तरीकों से विदेश भेजी गयी रकम है। ग्लोबल फाइनेंशियल इंटीग्रिटी के अनुसार आज की तारीख में इस धनराशि की कीमत करीब 21 लाख करोड़ रूपये होगी।

भ्रष्टाचार सूचकांक- ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशलन द्वारा जारी सूचकांक में भारत सर्वाधिक भ्रष्ट देशों मे शुमार है। साल दर साल स्थिति सुधरने की बजाय और बिगड़ रही है।

16.10 भ्रष्टाचार उन्मूलन के प्रयास एवं सुझाव

भ्रष्टाचार उन्मूलन मूलतः एक व्यक्तिगत लड़ाई है। ये स्वयं से लड़ाई और उसके बाद ईमानदार लोगों को संगठित करने और फिर प्रशासन में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का काम है, जिससे देश के कार्यों को कहीं अच्छे ढंग से और कहीं अधिक तेजी से निपटाया जा सके। इस सम्बन्ध में सरकार को भी व्यापक आन्दोलन चलाना चाहिए, जिससे जनता में यह भावना पैदा हो कि वे रिश्वत देना और लेना दोनों ही अनुचित है।

भ्रष्टाचार का जाल सरकारी नीतियों और प्रशासनिक कार्य-प्रणाली के अलावा लोगों की मानसिकता एवं समाज में मौजूद मूल्यों पर आधारित है। जरूरी है कि भ्रष्टाचार के प्रति जन-सामान्य की मानसिकता व सामाजिक सोच और मूल व्यवस्था में बदलाव लाया जाये। भ्रष्टाचार को दूर करने हेतु समय-समय पर कई संकल्प किये गये। अनेक समितियों और आयोगों का गठन किया गया, फिर भी इससे छुटकारा नहीं मिल पाया है। इसलिए इस खतरे का मुकाबला लोकतंत्र के गाँधीवादी तरीके से ही किया जा सकता है। इसके लिए जनता को विभिन्न वर्गों के ऐसे समूह बनाने होंगे जो राजनीतिक, प्रशासनिक और सामाजिक सुचिता के लिए संघर्ष कर सके, क्योंकि दूध में पानी की तरह घुल चुके भ्रष्टाचार को रोकने के लिए आम नागरिकों की भागीदारी से ही भ्रष्टाचार को जड़ से मिटाया जा सकता है। अतः भ्रष्टाचार को रोकने की आशा, अब देश के संवेदनशील, संघर्षशील समाजसेवियों से ही की जा सकती है। ऐसे ही कुछ लोगों ने मिलकर सार्थक लोकपाल बिल का मसौदा तैयार किया। भ्रष्टाचार पर नकेल कसने के लिए खासतौर पर बनाया गया लोकपाल विधेयक पिछले 42 (1968 से) सालों से पारित ही नहीं हो पा रहा है। यह हाल तब है जब सरकारी लोकपाल विधेयक की नख दंत-विहीन बताया जा रहा है, इसमें ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जिससे भ्रष्टाचार के दानव का खात्मा हो सके। इस विधेयक की तमाम खामियों को दूर करने के लिए जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ता और गाँधीवादी अन्ना हजारे और किशन बाबूराव हजारे ने 5 अप्रैल 2011

से दिल्ली के जंतर-मंतर पर अनिश्चित कालीन भूख हड़ताल शुरू की। वे सरकार द्वारा प्रस्तावित लोकपाल विधेयक को नख दंत-विहीन मानते हैं। उनकी माँग यह थी कि इसकी जगह जन-लोकपाल विधेयक कानून बनाया जाए। लगभग चार दिन चला अन्ना हजारे का अनशन रंग लाया। सरकार को लोकपाल विधेयक का मसौदा तैयार करने वाली साझा-समिति को अन्ना की सभी मॉगों को मानना पड़ा और सरकारी आदेश जारी कर इस समिति को औपचारिक रूप देने की घोषणा भी करनी पड़ी।

हांगकांग में 1974 में जन-लोकपाल जैसा कानून बनाया गया था, जिससे वहाँ से भ्रष्टाचार समाप्त करने में कामयाबी मिली। अगर यह कानून बना दिया गया तो भारत में भी भ्रष्टाचार को नष्ट किया जा सकता है।

1. **सूचना का अधिकार-** भ्रष्टाचार पर लगाम कसने व सरकारी जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए 12 अक्टूबर, 2005 में सूचना का अधिकार कानून बना।
2. **लोक आयुक्त; ऑम्बड्समैन-** लोक आयुक्त भ्रष्टाचार निरोधक संगठन है। ये संस्था स्कैंडेनेवियन देशों की तर्ज पर बनाई गयी है। देश के सभी राज्यों में एक समान रूप से काम करने के लिए तीन सदस्यीय लोक आयुक्त के गठन का प्रस्ताव संसद में लंबित है।
3. **भ्रष्टाचार को उजागर करने वाले-** चाहे वो मंजूनाथ हों या सत्येन्द्र दुबे, भ्रष्टाचार को उजागर करने में ये 'व्हिसल ब्लोअर्स' (Whistle-blower) अहम् भूमिका निभाते हैं। हालांकि देश में अभी उनकी सुरक्षा के लिए कोई कानून नहीं है।
4. **निजी क्षेत्रों द्वारा किए गये उपाय-** फिफ्थ पिलर डॉट, ओआरजी, टाटा-टी का 'जागो रे' और नो ब्राइब डॉट ओआरजी जैसी निजी क्षेत्र की संस्थाओं ने भी भ्रष्टाचार के खिलाफ मुहिम छेड़ रखी है।
5. **सरकारी प्रयास-** भारत सरकार ने भी भ्रष्टाचार निवारण के लिए समय-समय पर कई प्रयास किये हैं। सन् 1947 में 'भ्रष्टाचार निवारण कानून' पास किया गया। भ्रष्टाचार अधिनियम की कार्यान्विति के सम्बन्ध में आवश्यक सुझाव देने के लिए 1949 में 'टेकचन्द्र समिति' की स्थापना की गयी। 1953 में आचार्य कृपलानी की अध्यक्षता में 'रेलवे भ्रष्टाचार जाँच कमेटी' निर्मित की गयी। गृह मन्त्रालय ने सन् 1955 में 'प्रशासन सर्तकता विभाग' की स्थापना की। जून 1962 में तत्कालीन गृहमंत्री ने संस्थानम् कमेटी की स्थापना की, जिसने 1964 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। 1964 में तत्कालीन गृहमन्त्री गुलजारी लाल नन्दा ने भी भ्रष्टाचार निवारण के लिए संस्थानम कमेटी की सिफारिशों को लागू करने एवं अन्य बड़े कदम उठाने की घोषणा की। श्री के0 संस्थानम् की अध्यक्षता में बनी भ्रष्टाचार निरोधन समिति ने सरकार को 137 अनुशंसाएँ 'भ्रष्टाचार निवारण 1964' हेतु प्रस्तुत की एवं 'प्रशासनिक सुधार आयोग 1966' द्वारा प्रस्तुत सुझाव भ्रष्टाचार को दूर करने से भी सम्बन्धित रहे हैं। इस दिशा में 'द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग, 2005' का गठन भी एक महत्वपूर्ण प्रयास है।

भारत में भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए कई तरह की संस्थाओं के रूप में 'लोकपाल' तथा 'लोकायुक्त' के तौर पर प्रयास सम्मिलित हैं। भारत में अब तक प्रशासनिक भ्रष्टाचार के स्वरूप एवं विभिन्न समितियों एवं आयोगों की रिपोर्ट को ध्यान में रखते हुए भ्रष्टाचार के उपचार के लिए निरोधात्मक तथा सकारात्मक निम्नलिखित उपाय अपनाए जा सकते हैं-

1. प्रशासनिक भ्रष्टाचार चूँकि राजनीतिक भ्रष्टाचार से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, इसलिए निर्वाचन प्रक्रिया को सरल बनाकर मन्त्रियों तथा अन्य महत्वपूर्ण नेताओं को पूँजीपतियों के प्रभाव से मुक्त किया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में मन्त्री या अन्य राजनीतिक नेता, लोक सेवकों पर अनावश्यक दबाव नहीं डालेंगे।
2. फाइलों के सम्बन्ध में निर्णय लेने के लिए एक समय निर्धारित होना चाहिए। यदि उस समय के अन्दर निर्णय नहीं लिया जाता है तो सम्बन्धित पदाधिकारी से 'कारण बाताओं' पूछा जाना चाहिए। साथ ही साथ इस बात की जाँच की भी व्यवस्था होनी चाहिए कि फाइलों का निष्पादन उचित ढंग से हो रहा या नहीं।
3. आई0ए0एस0, आई0पी0एस0 तथा आई0एफ0एस0 के पदाधिकारियों के लिए ऐसे साक्षात्कार की व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे योग्य एवं सक्षम व्यक्ति ऐसी सेवाओं में आ सकें।
4. बढ़ती हुई महंगाई से उत्पन्न कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए सेवाओं के वेतनमान में वृद्धि होनी चाहिए।
5. पादाधिकारियों के विरूद्ध भ्रष्टाचार के आरोप की यथाशीघ्र जाँच की व्यवस्था होनी चाहिए और यदि वह भ्रष्टाचार का दोषी पाया जाए तो उसके विरूद्ध जल्द से जल्द कार्यवाही हो जानी चाहिए।
6. साधारण न्यायालयों के कार्यभार तथा निम्न न्यायालयों का, मन्त्रियों तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों से प्रभावित होने की सम्भावना को देखते हुए पदाधिकारियों के विरूद्ध आरोप की जाँच के लिए विशेष न्यायालय का गठन भी वांछनीय है।
7. ईमानदार पदाधिकारियों को पदोन्नति तथा अन्य प्रकार के प्रोत्साहन मिलने चाहिए, ताकि अन्य पदाधिकारी भी पदोन्नति पाने एवं नाम पैदा करने की कोशिश करें।
8. गलत तथा सही कार्यों के प्रचार के माध्यम से भी लोक सेवकों की नैतिकता को प्रभावित किया जा सकता है। इससे प्रशासन के प्रति जनता की जागरूकता में भी वृद्धि होगी और लोकसेवकों के कार्य सम्पादन में भी अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।

16.11 प्रशासनिक सुधार आयोग की भ्रष्टाचार कम करने के लिए महत्वपूर्ण सिफारिशें

कर्नाटक के पूर्व मुख्यमंत्री वीरप्पा मोइली की अध्यक्षता वाले 'प्रशासनिक सुधार आयोग' की चौथी रिपोर्ट में देश के राजनीतिक, प्रशासनिक एवं न्यायिक परिदृश्य में व्यापक सुधारों एवं भ्रष्टाचार रोकने के उपायों की सिफारिशें की गयी हैं। 236 पृष्ठों वाली यह रिपोर्ट छः सदस्यीय आयोग ने 12 फरवरी, 2007 को प्रधानमन्त्री डॉ0 मनमोहन सिंह को प्रस्तुत की। इसकी प्रमुख सिफारिशों में निम्नलिखित शामिल हैं-

1. गठबन्धन से हटने वाले राजनीतिक दलों के सदस्यों को पुनः जनादेश लेना चाहिए। इससे केन्द्र एवं राज्यों में गठबन्धन सरकरों को अधिक स्थायित्व मिल सकेगा तथा उन्हें अनावश्यक 'ब्लैक मेलिंग' से बचाया जा सकेगा।
2. दलबदल विरोधी कानून कड़ा किया जाए। इन कानून का उल्लंघन करने वालों की सदस्यता रद्द करने का अधिकार राष्ट्रपति एवं राज्यपालों के पास हो, जो चुनाव आयोग की सलाह पर फैसला देंगे।
3. निर्वाचित सदस्यों की अयोग्यता निर्धारित करने के लिए अलग से कानून बनाया जाए।
4. मन्त्रियों एवं नौकरशाहों के लिए एक नैतिक आचार संहिता बनाई जाए।
5. सांसद एवं विधायक निधि समाप्त की जाए।

6. राजनीतिक दलों के चुनावी खर्च का आंशिक वित्तीयन सरकार द्वारा किया जाए।
7. मुख्य चुनाव आयुक्त एवं चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति का अधिकार प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता वाले चयन समूह के पास हो। लोक सभा अध्यक्ष, राज्य सभा के उपाध्यक्ष, विधि मंत्री एवं विपक्ष के नेता इस चयन समूह में शामिल रहें।
8. लाभ के पद मामले से सम्बन्धित कानून में संशोधन किया जाए तथा सलाहकार किस्म के पदों को लाभ के पद की परिभाषा से दूर रखा जाए।
9. राष्ट्रीय न्यायिक परिषद् का गठन किया जाए। उपराष्ट्रपति की अध्यक्षता में बनने वाली इस परिषद् में प्रधानमन्त्री , लोक सभा अध्यक्ष , सर्वोच्च न्यायाधीश, विधिमंत्री तथा लोक सभा एवं राज्य सभा में विपक्ष के नेता शामिल किए जाने चाहिए। परिषद की सलाह पर सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को हटाया जा सके।
10. राष्ट्रीय लोकायुक्त का गठन किया जाए, जिसके अधिकार-क्षेत्र में सभी केन्द्रीय मंत्री, मुख्यमंत्री व सांसद आदि हों, किन्तु प्रधानमन्त्री को उसके दायरे से बाहर रखा जाए।
11. जनसेवक आदि रिश्वत लेते हुए रंगे हाथों पकड़े जायें तो कानूनी कार्यवाही के लिए पहले मंजूरी लेने की आवश्यकता न हो, यदि किसी मामले में रिश्वत लेने से राज्य, जनता या जनहित का नुकसान हो रहा हो, तो सजा दोगुनी होनी चाहिए।
12. बड़े घोटलों की विशेष जाँच के लिए अलग से कानूनी प्रावधान हो। इस सन्दर्भ में आर्थिक अपराध जाँच ऑफिस के गठन की भी संस्तुति है।

माननीय उच्चतम न्यायालय ने स्टेट ऑफ एम0पी0 और अन्य बनाम राम सिंह, 2005 के सुप्रीम कोर्ट के केस की पृष्ट संख्या 88 में भ्रष्टाचार की चारित्रिक विशेषताऐं बतलाते हुए 'भ्रष्टाचार को प्लेग की बीमारी की तरह भयावह बताया है एवं जिसके वायरस की तुलना एच0आई0वी0 वायरस से की है।

भारत में भ्रष्टाचार निरोध के लिए विधिक प्रावधान एवं संस्थाऐं-

Public Servants (Enquiries) Act, 1850 Delhi Police Establishment Act, 1946 Commission of Inquiry Act, 1952 (against Political leaders and Eminent Public Men) Central Civil Services (Conduct) Rules, 1955 Central Bureav of Investigation, 1963 State Vigilance Commission, 1964 Lokayukta (ombudsman) in State National Consumer Disputes Redressal- Commission Directorate of Public Grievances in the -cabinet secreatariat 1988	Indian Panal code, 1860 Special Polic Establishement, 1941 Prevention of Corruption Act. 1947 All India Services(Conduct) Rules, 1954 Railway Services (conduct) Rules, 1956 Central Vigilance Commission, 1964 Prevention of Corruption Act, 1988 Anti Corruption Bureaus in States Divisional Vigilance Board Divisional Vigilanc Office Administrative Tribunals (QuasiJudicial bodies)

16.12 भ्रष्टाचार चक्र

1. राजनैतिक तंत्र, 2. प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था, 3. व्यापार एवं राजनीति में निकट सम्बन्ध, 4. सरकारी कार्यों का वृहद एवं विशाल क्षेत्र, 5. सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन, 6. मुद्रा अर्थव्यवस्था, 7. विकास के असमान अवसर, 8. निर्धनता/गरीबी, 9. भ्रष्टाचार उन्मूलन के तरीकों का अभाव, 10. देश भक्ति की कमी, 11. नैतिक मूल्यों का पतन, 12. अशिक्षा, 13. अज्ञनता एवं जागरूकता में कमी, 14. चरित हीनता/ नैतिक पतन, 15. प्रशासकीय कठिनाइयां, 16. पूंजी संग्रह की प्रवृत्ति, 17. शिक्षा का अभाव, 18. बेरोजगारी, 19. कानून की अनभिज्ञता, 20. अपर्याप्त वेतन/ वेतनमानो में विसंगतियॉं, 21. अत्यधिक प्रतिस्पर्धा, 22. आबादी में भिन्नता, 23. अत्यधिक लाभान्वित होने की प्रवृत्ति, 24. उच्चाधिकारियों का सहयोग, 25. कर्मचारी संघ, 26. अदूरदर्शिता, 27. कालाबाजारी, 28. वर्गवाद, 29. अकर्मण्यता, 30. स्वार्थी प्रवृत्ति।

अभ्यास प्रश्न-

1. कौटिल्य के द्वारा भ्रष्टाचार कितने प्रकार के बताये गये हैं?
2. कर्नाटक के पूर्व मुख्यमंत्री वीरप्पा मोइली की अध्यक्षता वाले प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन किया गया। सत्य/असत्य
3. 1949 में टेकचन्द्र समिति की स्थापना की गयी। सत्य/असत्य
4. 1953 में आचार्य कृपलानी की अध्यक्षता में रेलवे भ्रष्टाचार जाँच कमेटी निर्मित की गयी। सत्य/असत्य
5. 1955 में प्रशासन सर्तकता विभाग की स्थापना की। सत्य/असत्य

16.13 सारांश

इस इकाई में हमने यह अध्ययन किया है कि भ्रष्टाचार में व्यक्ति सामाजिक नियमों का सोच समझकर उल्लंघन करता है तथा अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए दूसरों के हितों की अवहेलना करता है। साथ ही व्यक्तिगत लाभ के लिए अपने अधिकारों का दुरूपयोग करता है, मिलावट करता है, रिश्वत लेता है, पक्षपात का सहारा लेता है, निमार्ण कार्यों के घटिया स्तर की वस्तुओं का उपयोग करता है। ये सारी बातें नियमों के प्रतिकूल हैं और कानून भी अंधा हो गया है। वैसे भी कानून की हिफाजत करना सभी भारतवासियों का धर्म है, परन्तु सभी निजी स्वार्थ एवं भौतिक उपलब्धियों के लिए धर्म का पालन न करके उसे तोड़ने में विश्वास रखते हैं। जब तक स्वयं में चेतना नहीं जागृत होगी तब तक कुछ नहीं हो सकता है। हम लोग मानसिक रूप से विकृत हो चुके हैं।

16.14 शब्दावली

सच्चरित्रता- नैतिक सिद्धान्तों की दृढ़ता।

लघु मार्ग- स्वार्थ पूर्ति के लिए छोटे रस्ते तो अपनाना।

प्रतिष्ठा का परिचायक- भौतिक सुख साधन हेतु वस्तुओं की उपलब्धता।

विकास- समाज के प्रत्येक वर्ग के सभी क्षेत्रों में विकसित होना।

विधिक प्रावधान- विधि द्वारा बनाये गये नियम।

'व्हिसल ब्लोअर्स' (Whistle-blower)- यह अंग्रेजी का शब्द है, जिसका अर्थ होता है वो व्यक्ति जो नियम-कानूनों के विरूद्ध हो रहे कार्यों पर आवाज उठाता है या उसका विरोध करता है।

16.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. चालीस प्रकार के, **2.** सत्य, **3**. सत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य

16.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कटारिया, सुरेन्द्र- कार्मिक प्रशासन।
2. महेश्वरी एवं अवस्थी- लोक प्रशासन के सिद्धान्त।

16.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भट्टाचार्या, मोहित- लोक प्रशासन।

16.18 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रशासन में भ्रष्टाचार पर एक निबन्ध लिखिए।
2. भ्रष्टाचार में वे कौन -कौन से कारक हैं, जो इसे बढ़ावा देते हैं ? विवेचना कीजिए।
3. वर्तमान में भ्रष्टाचार के बदलते आयामों का वर्णन कीजिए।
4. भ्रष्टाचार के उन्मूलन पर सुझाव एवं प्रयास की व्याख्या कीजिए।

इकाई- 17 भारत में वित्तीय प्रबन्ध व बजट निर्माण प्रक्रिया

इकाई की संरचना

17.0 प्रस्तावना
17.1 उद्देश्य
17.2 वित्तीय प्रबन्धन से आशय
17.3 वित्तीय प्रबन्धन का महत्व
17.4 भारत में बजट निर्माण प्रक्रिया
 17.4.1 बजट की तैयारी
  17.4.1.1 बजट निर्माण प्रक्रिया के विभिन्न चरण
  17.4.1.2 वार्षिक वित्तीय विवरण या बजट पत्रांकों का संक्षिप्त विवरण
 17.4.2 बजट की स्वीकृति
 17.4.3 बजट का क्रियान्वयन
 17.4.4 बजट का विधायी नियन्त्रण
17.5 सांराश
17.6 शब्दावली
17.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
17.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
17.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
17.10 निबंधात्मक प्रश्न

17.0 प्रस्तावना

भारत में लोक प्रशासन के वित्तीय प्रबन्ध व बजट का निर्माण प्रक्रिया से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है, इससे पहले की इकाइयों के अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं, कि भारतीय प्रशासन क्या है, शासन एवं राज्य शासन क्या है।

वित्त, प्रशासन का जीवन रक्त है, प्रशासन के प्रबन्ध में वित्त शरीर और उसकी छाया के रूप में जुड़े हैं। किसी भी संगठन, उद्योग, कार्यालय और उद्यम के क्रियान्वयन हेतु कर्मचारी और पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है, जिसे केवल वित्त के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। प्रशासकीय इंजन का ईधन 'वित्त' है। प्रशासन का प्रबन्ध बिना वित्त के असम्भव है। भारत में लोककल्याणकारी और विकासात्मक राज्य की अवधारणा के परिणामस्वरूप सरकार के सामाजिक और विकासात्मक कार्यों में अप्रत्याशित वृद्धि बनी हुई है। जिस हेतु राजस्व एकत्रण, क्रियान्वयन एवं विधायी नियत्रंण की महत्ती आवश्यकता है, जो उपलब्ध वित्तीय स्रोतों के सर्वोत्तम प्रयोग को बनाए रखे।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप भारत में वित्तीय प्रबन्ध के आशय, तत्व, सिद्धान्त एवं बजट के माध्यम से उसके सम्पूर्ण कार्यक्षेत्र का विवेचन कर सकेंगे।

17.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- वित्तीय प्रबन्ध के अर्थ तथा विभिन्न परिभाषाओं को जान सकेंगे।
- वित्तीय प्रबन्ध के महत्व को लिख सकेंगे।
- बजट निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन कर सकेंगे।

17.2 वित्तीय प्रबन्धन का आशय

''वित्तीय प्रबन्ध'' दो शब्दों के मेल से बना है। ''वित्तीय'' का शाब्दिक अर्थ है, धन सम्बन्धित संसाधन और ''प्रबन्ध'' शब्द का आशय सामान्य उद्देश्य के लिए मानव एवं संसाधनों का सरल प्रयास करने से है। लोक प्रशासन के वित्तीय प्रबन्ध में उन प्रशासनिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है, जिनके द्वारा वित्तीय साधनों का संग्रह, विनियोजन तथा लेखांकन किया जाता है। बजट बनाने तथा उसे क्रियान्वित करने से सम्बन्धित सभी प्रक्रिया, वित्तीय प्रबन्ध का केन्द्र-बिन्दु होती है।

सार्वजनिक आवश्यकताओं को परिपूर्ण करने के लिए सरकार द्वारा विभिन्न स्रोतों से धन एकत्र किया जाता है। परन्तु लोककल्याणकारी और विकासात्मक राज्य की अवधारणा के परिणामस्वरूप सरकार के सामाजिक और विकासात्मक कार्यों में निरन्तर वृद्धि होने से राजकोष में धन अपर्याप्त रहता है। दूसरी ओर प्रशासनिक संरचना की आवश्यकता और कर्मचारियों की सार्वजनिक वित्त पर तीक्ष्ण नजर सार्वजनिक वित्त के प्रयोग को दिग्भ्रमित कर सकती है। अतः चोरी को रोकने एवं उपलब्ध वित्तीय स्रोतों के इष्टतम प्रयोग के लिए उत्तम वित्तीय प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। लोक प्रशासन में इसके अध्ययन को ही वित्तीय प्रबन्ध कहा जाता है। इस प्रकार वित्तीय प्रबन्ध का प्रमुख ध्येय राज्य के वित्त का उचित, दक्ष और प्रभावशाली प्रबन्ध है। इसके अन्तर्गत सरकार के वे तमाम कार्य आते हैं, जिनका सम्बन्ध सार्वजनिक धन को इकट्ठा करने, व्यय करने, बजट बनाने, आय-व्यय का हिसाब बनाने, सरकार के लेन-देन तथा पूँजी एवं दायित्वों का विवरण रखने एवं इनका सम्पूर्ण प्रतिवेदन तैयार करने से होता है।

वित्तीय प्रबन्ध का संबंध मुख्यतया निम्नलिखित बातों से है-

1. सार्वजनिक सेवाओं को सम्पन्न करने के लिए धन का एकत्रिकरण करना।
2. सार्वजनिक सेवाओं को प्रदान करने के लिए धन का व्यय करना (बजट तैयार करना)।
3. धन एकत्रीकरण और व्यय के लिए प्रशासन को अधिकृत करना, अर्थात अनुमानित बजट को विधानमण्डल में स्वीकृत कराना।
4. सार्वजनिक धन के प्रयोग करने वालों की नियन्त्रण सत्ता का निर्धारण करना।
5. आय-व्यय सम्बन्धी सिद्धान्तों को क्रियान्वित करना, जिससे बजट का निष्पादन कहते हैं।
6. व्यय किए गये धन के सम्बन्ध में उत्तरदायित्व का निर्धारण करना।
7. बजट सम्बन्धी समस्त प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में कानूनी उत्तरदायित्व लेना तथा परीक्षण कराना, ताकि विधायिका को जवाब दिया जा सके।

आइए अब वित्तीय प्रबन्ध के कुछ अधिक परिष्कृत परिभाषाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं-

एल0 डी0 व्हाइट के अनुसार, ''वित्त प्रबन्ध के अन्तर्गत वे क्रियाऐं सम्मिलित हैं, जो अधिकारियों को धन उपलब्ध कराती हैं तथा उसका नीतिपरक एवं वैधानिकता के साथ कुशलतापूर्वक प्रयोग का आश्वासन देती है''।
डॉ0 सी0 पी0 भाम्भरी के अनुसार, ''वित्त का प्रशासन में वही मूल्य बताया है, जो वातावरण में ऑक्सीजन का है एवं प्रबन्ध उसको वैधानिकता के साथ प्रयोग करता है।''
जेज गैस्टन के अनुसार, ''वित्त प्रबन्ध सरकारी संगठन का वह भाग है, जो सार्वजनिक धन के संग्रह, सुरक्षा तथा आबंटन, सार्वजनिक राजस्व तथा व्यय में समन्वय, राज्य की तरफ से ऋण के क्रियान्वयन के प्रबन्ध, सार्वजनिक व घेरलू वित्त मामलों के सामान्य नियंत्रण से सम्बन्धित है।''
यद्यपि उपरोक्त परिभाषा वित्तीय प्रबन्ध के संकुचित क्षेत्र को दर्शाते हैं, लेकिन वित्तीय प्रबन्ध को व्यापक रूप में जी0 एस0 लाल निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं, ''वित्तीय प्रबन्ध में राज्य के वित्त के समुचित प्रयोग और फलोत्पादक प्रशासन से सम्बन्धित सिद्धान्तों और व्यवहार के साथ सम्बन्धित होता है।'' इस प्रकार उपरोक्त बातों के अध्ययन के बाद निम्नलिखित परिभाषा दी जा रही है।
''वित्तीय प्रबन्ध में सार्वजनिक आय-व्यय की उन समस्त क्रियाओं को शामिल करते हैं, जोकि विधानमण्डल के द्वारा बनाई गयी विधि के अनुसार है। ताकि समस्त प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में कानूनी उत्तरदायित्व लेना तथा परीक्षण कराना, ताकि विधायिका को जबाब दिया जा सके।''

17.3 वित्तीय प्रबन्धन का महत्व

लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा के विस्तार के साथ सरकार के कार्यों में लगातार वृद्धि हुई। इसी प्रकार प्रशासन के प्रत्येक कार्य के लिए कर्मचारी एवं संसाधन की माँग बढ़ी, जिसकी पूर्ति वित्त द्वारा ही सम्भव थी। वर्तमान वैश्वीकरण की परिधि में जिस नवीन कल्याणकारी विश्व की संकल्पना का उद्-भव हुआ है, वहाँ सरकार ने उन नए क्षेत्रों में प्रवेश किया, जो राज्य के कार्य-क्षेत्र से बाहर रखे गये थे। इस प्रकार बदलते हुए सन्दर्भ में वित्तीय प्रबन्ध की महत्ता प्रशासन में अपने आप दृष्टिगोचर होती है, कि बढ़ते हुए सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिए संसाधन की उत्पत्ति के नए स्रोतों तथा अनुकूलतम प्रयोग को महत्ता दी जाए।
वित्त, प्रशासन का महत्वपूर्ण अंग है। वह उसका जीवन रक्त या जीवन आधार है। प्रशासन और वित्त में उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, जितना शरीर और रक्त में। वस्तुतः 'प्रशासनिक इंजन' का ईधन 'वित्त' है। शासन के किसी भी कार्य को वित्त के अभाव में पूर्ण नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार हृदय शरीर में शुद्ध रक्त की पूर्ति कर चेतना और ऊर्जा का संचार करता है, उसी प्रकार प्रशासन में वित्त, प्रशासन की नीतियाँ तथा योजनाओं को पूर्ण करता है, क्योंकि वित्त के अभाव में उनका कार्यान्वियन संभव नहीं है। अतः वित्त को लोक प्रशासन की चालक शक्ति कहा जाता है।
प्राचीन समय में राज्य के बाहरी आक्रमण से बचाव, आन्तरिक शान्ति को बनाये रखने तथा प्रशासन के सामान्य क्रियाओं के संचालन हेतु धन की आवश्यकता पड़ती थी। परन्तु आज राज्य के कार्य में उसके लोककल्याणकारी योजनाओं के लगातार वृद्धि से वित्त की अनिवार्यतता बढ़ती जा रही है। फलस्वरूप वित्तीय प्रबन्ध का प्रशासन अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु बन गया है, जो सीमित संसाधन के आधार पर कल्याणकारी विचारधारा के अतिरिक्त लोकतंत्रात्मक व्यवस्था और प्रबन्ध के क्षेत्र में विकसित तकनीकी विशेषता के फलस्वरूप भी बड़ा है।

17.4 भारत में बजट निर्माण प्रक्रिया

भारत में आधुनिक युग में बजट पद्धति का आरम्भ वायसराय लार्ड केनिंग के कार्यकाल में हुआ। जेम्स विल्सन को 1859 मे वायसराय कार्यकारिणी में वित्त विशेषज्ञ के रूप में नियुक्त किया गया। जिन्होंने 1860 में बजट के माध्यम से भारत की वित्तीय स्थिति का बड़ा सुन्दर विश्लेषण और सर्वेक्षण प्रस्तुत किया, जिस कारण उन्हें भारत में आधुनिक बजट पद्धति का संस्थापक और जन्मदाता कहा जाता है। भारत में बजट पद्धति तैयार करने का उत्तरदायित्व कार्यपालिका को है। 'बजट' शब्द का तो संविधान में कहीं उल्लेख ही नहीं है। संविधान का अनुच्छेद- 112,(1) में ''वार्षिक वित्तीय विवरण'' तैयार करने का उल्लेख करता है, जो प्रत्येक वित्तीय वर्ष के आरम्भ में राष्ट्रपति की स्वीकृति के साथ संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखा जायगा, जिसमें भारत सरकार के आय और व्यय के अनुमान प्रस्तुत किए जायेंगे। संघीय व्यवस्था के अनुरूप भारत में सम्पूर्ण देश के लिए केवल एक ही बजट नहीं होता है। राज्यों के अपने अपने पृथक बजट होते हैं। संघीय स्तर पर भारत में द्वि-बजट की व्यवस्था विद्यमान है, पहला- सामान्य बजट, तथा दूसरा- रेलवे बजट। वर्तमान में मोदी सरकार ने 2017 के बजट में रेलवे बजट को आम बजट के साथ पेश करते हुए अलग से रेल बजट को समाप्त कर दिया है। अब मात्र आम बजट ही पेश होगा। रेलवे बजट का आरम्भ सन् 1921 में 'एकवर्थ समिति' की सिफारिश पर सामान्य बजट से अलग कर किया गया। ऐसा व्यापारिक दृष्टिकोण के आधार पर किया गया कि रेलवे द्वारा निश्चित अंशदान की व्यवस्था होने से सिविल अनुमानों में स्थिरता आए और रेलवे वित्त के प्रशासन में लोचपन बना रहे। सामान्य बजट का परिसीमन भारतीय संघीय व्यवस्था में शक्तियों के बटँवारे द्वारा कर दिया गया है। संघीय सरकार और राज्य सरकारें क्रमशः संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची में उल्लिखित कार्यों तक ही सीमित है। इस प्रकार केन्द्रीय बजट इस सीमाओं के अर्न्तगत रहकर ही बनाया जाता है। लेकिन 96 वर्षो के बाद रेलवे बजट को आम बजट के साथ मिला कर वर्तमान सरकार ने आम बजट; 2017 पेश किया।

भारतीय सामान्य बजट की रूपरेखा के अर्न्तगत बजट में सरकार के आय-व्यय को तीन खण्डों में रखा जाता है। पहला- समेकित या संचित निधि, दूसरा आकस्मिक निधि और तीसरा- लोकखाता। जिसमें समेकित निधि से व्यय करने के लिए संसद से पूर्व-स्वीकृति अनिवार्य है, जिस हेतु संविधान के अनुच्छेद- 113 के अनुसार अनुदानों की माँगों के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। जबकि आकस्मिक निधि से राष्ट्रपति के आदेशानुसार आकस्मिक घटनाओं- युद्ध, बाढ़, अकाल, भूकम्प आदि आवश्कताओं में परिपूर्ति के लिए व्यय किया जाता है। लोकखाता में जन-सामान्य के द्वारा भविष्य निधि, अल्प बचत संग्रह और अन्य जमा धन आता है, जो सरकार की निगरानी में रहता है और वापस लौटाने की जिम्मेदारी भी सरकार की होती है। अतः इनमें से होने वाले व्यय के लिए संसद की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती है। व्यय के आधार पर भारतीय बजट में दो खण्ड पाये जाते हैं, पहला- राजस्व बजट, दूसरा- पूँजीगत बजट। राजस्व बजट में दो भाग- राजस्व प्रप्तियाँ तथा राजस्व व्यय हैं। राजस्व प्रप्तियाँ में आयकर, निगम कर, उत्पादकर और अन्य करों, फीस एवं गैर-कर इत्यादि से होने वाली आय को शामिल करते हैं। राजस्व व्यय जिसमें सामाजिक, आर्थिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाओं और व्यवस्था सम्बन्धी व्यय को इस भाग में शामिल किया जाता है। पूँजीगत बजट में सरकार की पूँजीगत प्राप्तियाँ तथा पूंजीगत व्यय शामिल है। पूँजीगत प्राप्तियाँ में जनता से लिए गये उधार, विदेशी सरकार और संस्थाओं से प्राप्त उधार, अल्प बचत तथा भविष्य निधि, ऋण तथा अग्रिमों की वापसी, विनिवेश, विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से प्राप्त आय को शामिल किया जाता है। पूँजीगत व्ययों को दो भागों में योजनागत पूंजीगत व्यय तथा गैर-योजनागत पूंजीगत व्यय में रखा जाता है। जिसमें

जमीन, इमारतों, मशीनों, उपकरणों जैसे परिसम्पत्तियों को प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले व्यय को शामिल करते हैं।

भारत में बजट निर्माण करने का दायित्व वित्त मन्त्रालय को प्राप्त है। वित्त मंत्री, जोकि राष्ट्र के कोष का संरक्षक तथा देश के वित्तीय नीति का कर्णधार माना जाता है, बजट प्रस्ताव संसद के समक्ष रखता है और वित्त विधेयक पारित कर, संसद, वित्तीय वर्ष के लिए बजट का अनुमोदन करती है। इस बजट निर्माण में वित्त मन्त्रालय को अनेक प्रशासनिक मन्त्रालय, योजना आयोग एवं नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक का महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता है, जो एक दिन नहीं अपितु वर्ष भर चलने वाली प्रक्रिया का प्रणाम है। भारतीय बजट प्रक्रिया को प्रमुख रूप से चार चरणों में विभाजित किया जा सकता है-

17.4.1 बजट की तैयारी

भारत में बजट निमार्ण प्रक्रिया में सर्वप्रथम वित्त मन्त्रालय प्राथमिकता रूप में विभिन्न मन्त्रालयों, वित्त आयोग, योजना आयोग तथा नियन्त्रण महालेखा परीक्षक के सहयोग से वित्तीय-वर्ष (भारत में वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से आरम्भ होकर 31 मार्च तक रहता है।) के शुरू होने के सात से आठ माह पूर्व बजट अनुमान तैयार करता है। बजट की तैयारी के इस प्रथम चरण में कार्यपालिका के द्वारा सरकार की नीति, योजना कार्यक्रम आदि का निरूपण किया जाता है, जिसके आधार पर बजट की तैयारी शुरू की जाती है। प्रशासानिक मन्त्रालय और उसके अधीनस्थ कार्यालयों से उसकी आवश्यकताओं की विस्तृत जानकारी प्राप्त की जाती है। वित्त आयोग केन्द्र और राज्य के मध्य बाँटे जाने वाले संसाधनों के सम्बन्ध में सिद्धान्तों को निर्धारित करता है। योजना आयोग योजनाओं की प्राथमिकता के सम्बन्ध में मन्त्रणा देता है। इस बजट अनुमान की विचार-विमर्शीय प्रक्रिया में विभिन्न वित्तीय संस्थाओं, जैसे जीवन बीमा निगम, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, औद्योगिक विकास संस्थान आदि के प्रतिनिधि शामिल होते हैं। योजना आयोग अपने स्तर पर विचार-विमर्श में राज्यों के वित्त सचिवों, वित्त आयुक्तों, विभिन्न क्षेत्रों के तकनीकी विशेषज्ञों, संघीय सरकार के मन्त्रियों के साथ गोष्ठियाँ आयोजित करता है। इस विचार-विमर्श प्रक्रिया में गैर-योजना खण्ड के व्यय की सीमा का भी निर्धारण किया जाता है एवं संघीय सरकार के समस्त स्रोतों का आकलन किया जाता है और नियन्त्रक महालेखा परीक्षक प्राक्कलन तैयार करने हेतु लेखा कौशल उपलब्ध कराता है।

17.4.1.1 बजट निर्माण प्रक्रिया के विभिन्न चरण

बजट अनुमान का कार्य भारत में वित्त मन्त्रालय द्वारा जुलाई-अगस्त माह से ही आरम्भ हो जाता है। वह विभिन्न मन्त्रालयों तथा विभागों के अध्यक्ष को राजस्व और व्यय का अनुमान प्रस्तुत करने के लिए निर्धारित प्रपत्र भेजता है, जो विभागाध्यक्ष द्वारा स्थानीय कार्यालयों को भेजता है। इस प्रपत्र में निम्नलिखित खण्ड होते हैं-

- विनियोगों के मुख्य और उप-शीर्षक।
- गत वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय।
- चालू वर्ष के स्वीकृत अनुमान।
- चालू वर्ष के संशोधित अनुमान।
- आगामी वर्ष के लिए बजट अनुमान।
- बजट अनुमानों में प्रस्तावित वृद्धि या कमी का स्पष्टीकरण।

स्थानीय कार्यालयों में अनुमान प्रपत्र तैयार करके सम्बन्धित विभागों को भेज दिया जाता है। विभागाध्यक्ष प्राक्कलन प्रपत्र का सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण कर उनमें आवश्यकतानुसार संशोधन करके उन्हें समेकित एवं एकीकृत करके मन्त्रालय को भेजा जाता है। मन्त्रालय में विभाग स्तर पर इनका सूक्ष्म निरीक्षण करके संशोधन के उपरान्त नवम्बर माह के मध्य तक वित्त मंत्रालय को प्रेषित कर देते हैं। मन्त्रालय द्वारा ही इसकी एक प्रति नियन्त्रक महालेखा परीक्षक को भी प्रेषित कर दी जाती है, जो अपनी टिप्पणियां वित्त मन्त्रालय के पास भेजता है। वित्त मन्त्रालय अनुमान प्रपत्रों का सूक्ष्मता पूर्वक मितव्ययिता सम्बन्धी परीक्षण करता है। यहाँ नीति सम्बन्धी परीक्षण नहीं किया जाता, न ही विशेषज्ञ की तरह जाँच ही की जाती है।

पूँजीगत अनुमानों के लिए वित्त मंत्रालय योजना आयोग से परामर्श करता है, नयी योजनाओं के बारे में वित्त मन्त्रालय द्वारा छानबीन करते समय निम्न प्रश्न कर सकता है-

- क्या प्रस्तावित व्यय वास्तव में आवश्यक है?
- यदि है, तो अब तक इसके बिना कैसे काम चल रहा था?
- इसकी आवश्यकता अभी क्यों पड़ी?
- इस व्यय के लिए वित्तीय साधन कहाँ से प्राप्त होगें?
- क्या नए विकास इस व्यय को अनावश्यक बना सकते हैं?

इस प्रकार वित्त मन्त्रालय प्रश्नों के द्वारा नए व्यय मद की छानबीन पर्याप्त गहराई तक करता है। वित्त मन्त्रालय की व्यय मद की स्वीकृति के बिना उसे बजट में शामिल नहीं किया जा सकता। उसकी असहमति पर सम्बन्धित विभाग का मन्त्री इस सम्बन्ध में अपने विचार रखता है। असहमति होने पर प्रस्तावित योजना पर मंत्री-मण्डल में विचार-विमर्श होता है। मंत्री-मण्डल द्वारा जो भी निर्णय लिया जाए, उसे सभी को मानना होता है। अन्यथा असहमति प्रकट करने वाले व्यक्ति के समक्ष मंत्री-मण्डल से त्यागपत्र देने का ही विकल्प मौजूद होता है। वित्त मन्त्रालय यह निगरानी करता है कि किसी मन्त्रालय को उसकी वास्तविक आवश्यकताओं से अधिक धन आंवटित न हो जाए। नयी योजनाओं या कार्यक्रम से सम्बन्धित व्यय पर ही अधिक सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता रहती है। इस सन्दर्भ में सर हर्बर्ट कहते है कि, ''वित्त मन्त्रालय को समीक्षा तथा प्रति-परिक्षण करने की एक विशेष दक्षता प्राप्त होती है, जो लम्बे अनुभव का परिणाम है। लेकिन इसमें समयानुसार निरन्तर नया परिवर्तन होते रहना जरूरी है ताकि उसका दृष्टिकोण कुछ बुद्धिमान व्यक्ति जैसा लगे।''

वित्त मन्त्रालय के नियन्त्रण का समर्थन दो बातों के आधार पर किया जाता है, पहला- वित्त मन्त्रालय स्वंय व्ययकारी विभाग नहीं होता है, इसलिए वह करदाताओं द्वारा चुकायी गयी राशियों का अधिक निष्पक्षता से रक्षा करता है। दूसरा- वित्त मन्त्रालय द्वारा दूसरे मन्त्रालयों के व्यय के लिए वित्त का प्रबन्ध किया जाता है। अतः यह आवश्यक है कि वह इस व्यय के औचित्य के सम्बन्ध में निर्णय ले सके। इन्ही बातों पर वित्त मन्त्री और वित्त मन्त्रालय की विशिष्टता को व्यक्त करते हुए ब्रिटेन में गठित हाल्डेन कमेटी ने कहा था कि ''यदि वित्त मन्त्री को जलाशय में पानी एकत्रित करने तथा पानी के निश्चित स्तर को बनाए रखने के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है, तो उसे पानी की निकासी पर भी नियन्त्रण रखने का हक प्राप्त होना चाहिए।''

उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त वित्त मन्त्रालय के सूक्ष्म निरीक्षण को दोषपूर्ण माना जाता है।

1. भारी व्यय की आवश्यकताओं वाली योजनाओं में सूक्षम निरीक्षण पूर्ण नहीं हो पाता है। फलतःबजट में इनके लिए एक मुश्त राशि रख दी जाती है, जो उन योजनाओं के लिए कम अथवा ज्यादा पड़ती है, इसलिए बजट के बाद ऐसी योजनाओं के पुनर्निरीक्षण की जरूरत होती है।
2. आज की बदलती हुई परिस्थितियों में नियन्त्रण असामयिक है। वित्त मन्त्रालय का बड़े भाई जैसा व्यवहार अधिकांश मन्त्रालयों के लिए सरदर्द बन जाता है। इससे प्रत्येक नए प्रस्ताव पर स्वीकृति देने से इन्कार की आदत हो जाती है और इस प्रकार प्रगतिशील नीतियाँ अवरूद्ध हो जाती है।
3. योजनाऐं बजट तैयारी के अन्तिम समय में आती हैं, जिन्हें राजनीतिक कारणों से बिना सूक्ष्म निरीक्षण के बजट में शामिल कर लिया जाता है, जो पूरे बजट कार्यक्रम को नुकसान पहुँचा सकता है।
4. वित्त मन्त्रालय के कर्मचारी मानवीय कमजोरियों एवं सीमाओं से अछूते नहीं होते हैं। अनेक अवसरों पर ऐसा होता है कि एक पैसा बचाने के लिए रूपया खर्च कर देते हैं। यह छोटी-छोटी मदों की स्वीकृत में आनाकानी दिखते हैं, किन्तु बड़ी-बड़ी योजनाओं को बिना आपत्तियाँ उठाए स्वीकार कर लेते हैं।

व्यय सम्बन्धी अनुमान पूर्ण हो जाने पर सरकारी आय तथा राजस्व के अनुमान तैयार किए जाते हैं। इस कार्य में वित्त मन्त्रालय को आयकर विभाग, केन्द्रीय उत्पाद शुल्क विभाग आदि द्वारा सहायता प्राप्त होती है। ये गतवर्ष की आय के आधार पर आगामी वित्तीय वर्ष की सम्भावित आय का अनुमान लगाते हैं। वित्त मन्त्रालय व्यय के आधार पर आवश्यक आय हेतु कर की दरों में परिवर्तन कर सकता है। वित्त मन्त्रालय समस्त विभागों की अनुदान मांगों के एकत्रित करके, जो आय-व्यय का दस्तावेज बनाता है, इसे ही बजट कहते हैं। उसके दो भाग किए जाते हैं, पहला- वार्षिक वित्तीय विवरण पत्र, और दूसरा- अनुदानों की माँग। प्रथम भाग में जन-आलेखन तथा संचित निधि को रखा जाता है, जबकि दूसरे में संचित निधि के पूरे किए जाने वाले व्यय को दिखलाया जाता है।

17.4.1.2 वार्षिक वित्तीय विवरण या बजट पत्रांकों का संक्षिप्त विवरण

संविधान के अनुच्छेद- 112 के अनुसार प्रत्येक वित्तीय वर्ष के सम्बन्ध में, जो 1 अप्रैल से 31 मार्च तक होता है, भारत सरकार द्वारा अनुमानित आय और व्यय का विवरण संसद के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। इस वार्षिक वित्तीय विवरण को ही प्रमुख बजट-प्रपत्र कहते हैं। इस वार्षिक वित्तीय विवरण में सरकार के आय और व्यय को तीन भागों में, जिनके अनुसार सरकारी लेखे रखे जाते है, दिखाया जाता है ये भाग हैं- 1. समेकित या संचित निधि, 2. आकस्मिकता निधि तथा 3. लोक खाता।

सरकार को प्राप्त होने वाले सभी कर राजस्व, गैर-कर राजस्व, शुल्कों तथा उसके द्वारा लिए गये ऋण और उसके द्वारा वितरित ऋणों की वसूली से प्राप्त होने वाली आय ''समेकित निधि'' में दिखाई जाती है। सरकार का पूरा व्यय समेकित निधि से किया जाता है और जब तक संसद की स्वीकृति नहीं मिल जाती तब तक इस निधि में से कोई धन खर्च नहीं किया जा सकता है। कभी-कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं, जब सरकार को संसद की स्वीकृति मिलने के पहले कुछ आवश्यक आकस्मिक व्यय करना पड़ता है, जिसका अनुमान ही नहीं रहता है। इस तरह का व्यय आकस्मिक निधि से किया जाता है। यह निधि अग्रदाय(Imprest) के रूप में राष्ट्रपति के पास रहती है। आकस्मिक निधि इस तरह से जो भी व्यय करती है, उसे बाद में संसद की स्वीकृति से पूरा कर उतनी ही रकम आकस्मिक निधि में वापस डाल दी जाती है।

सरकारी खाते में समेकित निधि(Consolidated fund) से अलग कुछ अन्य लेन-देन, जैसे भविष्य निधियों के सम्बन्ध में लेन-देन, अल्प बचत संग्रह तथा अन्य जमा आदि का हिसाब रख जाता है। सरकार इन लेन-देनों के

सम्बन्ध में बैंकर के रूप में कार्य करती है। इस तरह जो आय होती है, उसे लोकखाते में दिखाया जाता है और सम्बन्धित व्यय इसी में से धनराशि निकाल कर किया जाता है। सामान्य तौर पर लोकखाते में दिखाई जाने वाली आय सरकार की आय नहीं होती, क्योंकि इस धनराशि को किसी न किसी समय उन व्यक्तियों या प्राधिकारियों को जो इसे जमा करते हैं, वापस देना होता है। इसलिए लोकखाते से अदायगी के लिए संसद की स्वीकृति लेना आवश्यक नहीं होता। सरकार की आय का कुछ भाग कुछ मामलों में खास-खास कार्यों के लिए, जैसे- कोयला खान श्रमिक कल्याण के लिए, चीनी विकास के लिए या वाणिज्यिक उपक्रमों में पुरानी मशीनरी के स्थान पर नई मशीनरी प्रतिस्थापन लाने आदि के लिए अलग-अलग निधियों से अलग निकाल कर रख दिया जाता है। यह धनराशि संसद की स्वीकृति से समेकित निधि से निकाली जाती है और विशेष कार्यों पर व्यय किये जाने के लिए लोकखाते में जमा रखी जाती है। परन्तु कार्य विशेष पर जो खर्च किया जाता है, उसे संसद के सम्मुख उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। यद्यपि यह धन-राशि निधियों से अन्तरित(Transfers) करने से पहले ही संसद द्वारा निर्धारित की हुई होती है।

संविधान के अनुसार व्यय की कुछ मदें, जैसे राष्ट्रपति की परिलब्धियां(Emoluments), राज्य सभा के सभापति और उप-सभापति तथा लोक सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन-भत्ते, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों और भारत के नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के वेतन भत्ते और पेंशन, सरकार द्वारा लिए गये उधारों के ब्याज एवं अदायगी और अदालती डिग्रियों के सम्बन्ध में की गयी अदायगियां आदि समेकित निधि पर भारित होती हैं और इन्हें संसद द्वारा स्वीकृति देने की आवश्यकता नहीं है। वार्षिक वित्तीय विवरण में समेकित निधि पर भारित व्यय को अलग से दिखाया जाता है। संविधान के अनुसार बजट में राजस्व खाते के व्यय को अन्य व्यय से अलग दिखाना होता है, इसलिए सरकार का बजट, राजस्व बजट और पूँजी बजट में बंटा होता है।

1. **वित्त विधेयक-** सरकार द्वारा लगाए जाने वाले नए करों के प्रस्ताव, विद्यमान कर ढाँचे को संसद द्वारा स्वीकृत अवधि के बाद जारी रखने के प्रस्ताव वित्त विधेयक के रूप में संसद के सम्मुख प्रस्तुत किए जाते हैं।
2. **लेखाओं का वर्गीकरण-** सरकार के लेखे, संविधान के अनुच्छेद-150 के अधीन भारत के नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक द्वारा निर्धारित रीति के अनुसार रखे जाते हैं। वार्षिक वित्तीय विवरण में आय और व्यय अनुमान तथा अनुदानों की माँगों में व्यय के अनुमान लेखाओं के इसी वर्गीकरण के अनुसार दिखाए जाते हैं। इस वर्गीकरण का उद्देश्य संसद और जनता को संसाधनों के आबंटन और खर्च करने में सरकार के उद्देश्य को समझने में सहायता देना है।
3. **अनुदान की माँगे-** वार्षिक वित्तीय विवरण में समेकित निधि से किए जाने वाले व्यय के अनुमान दिए जाते हैं। ये अनुमान संविधान के अनुच्छेद-113 के अधीन अनुदान की माँगों के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। प्रायः प्रत्येक मन्त्रालय अथवा विभाग के सम्बन्ध में अनुदान की एक माँग प्रस्तुत की जाती है। परन्तु बड़े मन्त्रालय या विभाग जो कई अलग-अलग सेवाओं के लिए उत्तरदायी होते हैं, वहाँ प्रत्येक मुख्य सेवा के लिए एक अलग माँग प्रस्तुत की जाती है। प्रायः प्रत्येक माँग में एक सेवा के लिए आवश्यक व्यवस्था दी गयी होती है। अर्थात इसमें राजस्व से किये जाने वाला व्यय, पूँजी व्यय, राज्यों और संघ-राज्य क्षेत्रों को दिये जाने वाले अनुदान और उस सेवा के सम्बन्ध में ऋणों और अग्रिमों के लिए की गयी व्यवस्था शामिल होती है। जिन मामलों में किसी सेवा से सम्बद्ध व्यवस्था पूर्ण रूप से समेकित निधि पर भारित

व्यय के लिए होती है, जैसे- ब्याज की अदायगियां, तो यह व्यय बिलकुल भिन्न माँग से है। एक अलग विनियोग प्रस्तुत कर उस पर संसद द्वारा स्वीकृत लिए जाने की आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु ऐसी किसी सेवा के व्यय के मामले में, जिसमें 'स्वीकृत' एवं 'भारित' दोनों मदें शामिल हैं तो उस सेवा के लिए प्रस्तुत की जाने वाली माँग में भारित व्यय भी शामिल कर लिया जाता है, लेकिन दोनों की व्यवस्थाएँ अलग-अलग दिखाई जाती है। वार्षिक वित्तीय विवरण के साथ अनुदान माँग प्रस्तुत की जाती है। प्रत्येक माँग में ऊपर की ओर पहले 'स्वीकृत' और 'भारित' व्यय तथा माँग में शामिल 'राजस्व' और 'पूँजी व्यय' का अलग-अलग जोड़ दिखाया जाता है। इसके उपरान्त विभिन्न मुख्य लेखा शीर्षों के अर्न्तगत व्यय के अनुमान दिए जाते हैं। इन ब्यौरों के बाद माँगों के अन्त में वसूलियों का ब्यौरा दिया जाता है, जिन्हें व्यय में से घटा कर खातों में दिखाया जाता है।

4. **विनियोग विधेयक-** लोक सभा द्वारा अनुदानों की माँगों को स्वीकार किए जाने के बाद इस प्रकार स्वीकृत रकमों और समेकित निधि पर भारित व्यय को पूरा करने के लिए आवश्यक रकम को समेकित निधि से निकालने के लिए विनियोग विधेयक के माध्यम से संसद का अनुमोदन प्राप्त किया जाता है। संविधान के अनुच्छेद- 114 (3) के अनुसार समेकित निधि से कुछ भी धन संसद द्वारा इस सम्बन्ध में कानून बनाए बिना नहीं निकाली जा सकती है।

17.4.2 बजट की स्वीकृति

वार्षिक वित्तीय विवरण या बजट संसद में निम्नलिखित पाँच स्तरों से गुजरता है-

1. **बजट प्रस्तुतीकरण का स्तर-** संसद का बजट अधिवेशन सामान्यतया फरवरी के मध्य में आरम्भ होता है। प्रथमतया रेल मन्त्री रेल विभाग का बजट प्रस्तुत करता है। इसके पश्चात वित्त मन्त्री (28 फरवरी) 'वार्षिक वित्तीय विवरण' संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करता है। इस विवरण के दो भाग होते हैं- वित्त मन्त्री का बजटीय भाषण और बजट अनुमान। बजट भाषण में वह देश की सामान्य आर्थिक स्थिति, सरकार की वित्तीय नीति, चालू वर्ष के वित्तीय अनुमानों, संशोधित अनुमानों में उत्पन्न अन्तर का कारण, चालू वर्ष की स्वीकृत माँग और आगामी वर्ष के लिए प्रस्तुत की जाने वाली माँगों में पाये जाने वाले अन्तर के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण होता है। इस भाषण के द्वारा ही वित्त मन्त्री आगामी वर्ष के लिए सरकार की वित्त और आर्थिक नीति की घोषणा करते हैं।
2. **सामान्य विचार-विमर्श का स्तर-** बजट प्रस्तुत होने के कुछ दिन बाद उस पर विचार-विमर्श आरम्भ किया जाता है, जो कि तीन से चार दिन चलता है। इसका आरम्भ विरोधी दल के नेता द्वारा किया जाता है, जो अन्तर्निहित नीति अथवा सिद्धान्तों पर होती है। इस स्तर पर कोई प्रस्ताव नहीं आता। इसका उद्देश्य देश की वित्तीय व्यवस्था सम्बन्धी समस्याओं को उठाना और बजट पर विस्तार से विचार नहीं होता और न ही कटौती प्रस्ताव आते हैं। विचार-विमर्श के अन्त में वित्त मन्त्री द्वारा एक सामान्य उत्तर दे दिया जाता है।

बजट का सार-

क्र0स0	मद	2009-10	2010-11	2010-11	2011-12
		वास्तविक(अंतिम)	बजट अनुमान	संशोधित अनुमान	बजट अनुमान
1	राजस्व प्राप्तियाँ	572811	682212	783833	789892

2	पूँजी प्राप्तियाँ	451676	426537	432743	467837
3	कुल प्राप्तियाँ	10244487	1108749	1216576	1257729
4	आयोजन भिन्न व्यय	721096	735657	821552	816182
5	आयोजन व्यय	303391	373092	395024	441547
6	कुल व्यय	1024487	1108749	1216576	1257729
7	राजस्व घाटा	338998	276512	269844	307270
8	राजकोषीय घाटा	418482	381408	400998	412817
9	प्राथमिक घाटा	205389	132744	160241	144831

स्रोतः बजट का सार 2011-12 वित्त मन्त्रालय बजट प्रभाग

3. **माँगों पर विचार-विमर्श और उसकी स्वीकृति का स्तर-** सामान्य विचार-विमर्श के पश्चात राज्य सभा का कार्य प्रायः समाप्त हो जाता है। परन्तु अब लोक सभा उन अनुदान माँगों, जो संचित निधि पर भारित नहीं होते, पर मतदान कार्य आरम्भ करती है। मतदान सम्बन्धी अधिकार लोक सभा का अक्षुण्ण अधिकार होता है। इस सन्दर्भ में उसे अधिकार है कि चाहे वह माँग को स्वीकार कर ले या माँग को अस्वीकार कर दे या माँग की गयी धनराशि कम कर दे। संविधान के अनुच्छेद- 113(1) के अनुसार सदन को माँग में वृद्धि करने का कोई अधिकार नहीं है। न ही यह अनुदान के लक्ष्य को बदल सकती है, न ही अनुदान विनियोजन के साथ कोइ शर्त लगा सकती है। वे केवल इनमें कटौती प्रस्ताव रख सकते हैं। यह प्रस्ताव तीन प्रकार के होते हैं: पहला- नीति सम्बन्धी कटौती प्रस्ताव वे होते हैं, जिनका उद्देश्य प्रस्तावित व्यय में अन्तर्निहित नीति का विरोध करना होता है। दूसरा- मितव्ययता कटौती प्रस्ताव, किसी माँग से धन की राशि कम करने का उद्देश्य रहता है। इस प्रस्ताव से सम्बन्धित वक्तव्य, मितव्ययता लाने के उपायों पर विचार करते हैं। तीसरा- प्रतीक कटौती प्रस्ताव, माँग से सम्बन्धित विशेष शिकायतों को सामने लाने का कार्य करते हैं।

   व्यवहार में यह कटौती प्रस्ताव मंत्री-मण्डल की इच्छा से स्वीकार किया जाता है, अन्यथा यह उसके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव जैसा होता है। भारतीय संसद में माँगों पर मतदान के लिए छब्बीस दिन निर्धारित किए गये हैं। इस अवधि में सभी माँगों को एक साथ मतदान के लिए लिया जाता है, एवं साथ ही पारित की जाती है। जब एक मन्त्रालय की माँग संसद में प्रस्तुत की जाती है, तो उस पर वाद-विवाद के दौरान मन्त्रालय की नीति और प्रशासनिक गतिविधियों का सूक्ष्म परीक्षण किया जाता है। इस दौरान संबंधित मन्त्री, विवाद संबंधी उत्तर देता है और अपने विभाग की माँग का औचित्य भी सिद्ध करता है।

4. **विनियोजन विधेयक पर विचार-विमर्श और उसकी स्वीकृति का स्तर-** माँगों पर मतदान के बाद विनियोजन विधेयक की स्वीकृति के रूप में मतदान का अन्तिम चरण पूरा किया जाता है। सदन द्वारा स्वीकृत माँगों को विनियोजन विधेयक के माध्यम से कानूनी रूप दिया जाता है। इसे पारित करते समय सदन पूर्व पारित अनुदानों में अथवा संचित निधि के प्रस्तावों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। संसद

द्वारा पारित होने के बाद यह राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु भेज दिया जाता है, जो संविधिक प्रावधानों के कारण उसको निश्चित रूप से स्वीकृति प्रदान करता है।

5. **कर प्रस्ताव पर विचार-विमर्श और उसकी पुष्टि का स्तर-** कर सम्बन्धी प्रस्तावों को वित्त विधेयक का रूप दिया जाता है। वित्त विधेयक में सरकार द्वारा आगामी वर्ष के लिए वित्तीय प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाते हैं, जिसे वार्षिक वित्तीय विवरण के साथ ही रखा जाता है। विनियोजन विधेयक के पारित होने से सरकार को संचित निधि से धन व्यय करने का अधिकार तो मिल जाता है, पर सरकार की आय हेतु वित्त विधेयक की आवश्यकता होती है। वित्त विधेयक के पारित होने के उपरान्त बजट को संसद द्वारा स्वीकृत मान लिया जाता है।

विनियोजन एवं वित्त विधेयक को धन विधेयक की संज्ञा दी जाती है। अतः लोक सभा की तुलना में राज्य सभा का क्षेत्राधिकार सीमित होता है। सरकार के द्वारा रखे गये बजट में आय-व्यय के सभी अनुमान होते हैं, लेकिन विशेष स्थिति का सामना करने के लिए लोक सभा से कुछ और अनुदान पास कराये जाते हैं।

लेखानुदान, बजट-सत्र के दौरान 31 मार्च तक सभी माँगों पर बहस न भी हो पाये तो भी अन्तिम दिन में उन सब माँगों को पारित कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में सभी माँगें अनुदान बन जाती हैं। इस व्यवस्था को लेखानुदान कहा जाता है। इससे वित्तीय वर्ष आरम्भ होने पर अर्थात, एक अप्रैल से वित्त को व्यय करने की वैधानिक अनुमति मिल जाती है। साथ ही नवीन वित्तीय वर्ष के आरम्भ होने के बाद भी विभिन्न माँगों पर बहस की जा सकती है।

प्रत्यानुदान वह अनुदान है, जिसमें संसद उन माँगों को भी स्वीकृत कर सकती है, जो कि अप्रत्याशित स्थिति का मुकाबला करने के लिए आवश्यक हो। जैसे युद्ध आदि पर व्यय करने के सम्बन्ध में।

अनुपूरक अनुदान का संविधान के अनुसार निम्न रूप में प्रावधान है- 1. यदि विनियोजन विधेयक द्वारा चालू वित्तीय वर्ष के लिए स्वीकृत धन अपर्याप्त हो। 2. यदि चालू वित्त वर्ष में किसी नये विषय जो कि बजट में न दिया हो, पर खर्च के लिए अतिरिक्त धन की आवश्यकता हो। 3. यदि किसी कारण से चालू वित्त वर्ष में किसी विषय पर अनुदान से अधिक धन खर्च कर दिया गया हो।

अतिरिक्त अनुदान पर वित्त वर्ष की समाप्ति पर मतदान होता है। अनेक बार व्यय का निश्चित अनुमान लगाना तथा निर्धारित परिधि की सीमा के रूप में व्यय करना संभव नहीं होता। अतः अतिरिक्त अनुदान संसद द्वारा स्वीकृत कर धन के व्यय को वैधानिकता प्रदान की जाती है। इसमें संसद प्रस्तुति से पूर्व लोकलेखा समिति से अनुमोदन करना आवश्यक है।

17.4.3 बजट का क्रियान्वयन

बजट का सफल क्रियान्वयन वह है, जिसमें सभी वित्तीय नियमों, विनियमों का पालन होता है। इस क्रियान्वयन कार्य में अग्रलिखित वित्तीय संक्रियाऐं और उनसे सम्बन्धित अधिकारी और अभिकरण जुड़े हैं। बजट क्रियान्वयन सम्बन्धी इन विभिन्न संक्रियाओं का विवेचन निम्नवत है-

संक्रियाऐं	**अभिकरण/अधिकारी**
1. राजस्व का एकत्रीकरण-	राजस्व विभाग
2. एकत्रित राजस्व का रक्षण-	बैंक (सरकारी निजी) एवं राजकोष
3. उपलब्ध धन का वितरण-	वितरण अधिकारी
4. आय व्यय का लेखांकन-	महालेखाधिकारी

5. अंकेक्षण तथा प्रतिवेदन- महालेखा परीक्षक

1. **राजस्व का एकत्रीकरण-** यह बजट के क्रियान्वयन सम्बन्धी प्रथम प्रक्रिया है। वित्त विधेयक में प्रस्तावित कर प्रस्ताओं के अर्न्तगत आय सम्बन्धी अनुमान लगाना और अनुमानित राजस्व का एकत्रीकरण करना होता है। अनुमान का अभिप्राय है कि उन व्यक्तियों और निगमनात्मक इकाइयों को वित्त अधिनियम में निहित आधार के अनुरुप पहचानना और उनसे वसूल की जाने वाली कर राशि को आंकलन। उसके पश्चात उनसे इस धन को वसूल करने का कार्य ही राजस्व एकत्रीकरण का कार्य है। आय स्रोतों के मूल्यांकन तथा वसूली का कार्य वित्त मंत्रालय का राजस्व विभाग करता है, जो एक सचिव के नियन्त्रण व निर्देशन में कार्य करता है। यह केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड और केन्द्रीय उत्पादन शुल्क तथा सीमा शुल्क बोर्ड के माध्यम से प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सभी प्रकार के संघीय कर से सम्बन्धित राजस्व मामलों में नियन्त्रण एवं वसूली करता है।
2. **राजस्व का संरक्षण-** राजस्व कोष के संरक्षण की व्यवस्था के सन्दर्भ में दो बातें आवश्यक हैं, पहला- वित्तीय लेन-देन को सुविधाजनक बनाना और दूसरा- वित्तीय साधनों के गबन और दुरूपयोग को रोकना। धन संरक्षण और वितरण की व्यवस्था प्रत्येक देश द्वारा अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं के आधार पर निर्धारित होती है। भारत में राजकोष व्यवस्था का प्रचलन है। इस समय भारत में 400 राजकोष तथा 1200 उप-राजकोष कार्य कर रहे हैं। ये राजकोष जिला तथा तहसील स्तर पर सरकार की तरफ से भुगतान स्वीकार करते हैं एवं भुगतान देते हैं। साथ ही भारतीय रिजर्व बैंक एवं भारतीय स्टेट बैंक जहाँ भारतीय रिजर्व बैंक के शाखाऐं नहीं हैं, वित्तीय भूमिका निभा रहे हैं, जो चालान के माध्यम से धन जमा करते हैं। जब भी किसी को सरकार से धन प्राप्त करना होता है, वह उसके नाम जारी किये गये चैक या प्राप्ति बिल को सरकारी राजकोष या बैंक में सम्बन्धित अधिकारी के सम्मुख पेश करके धन ले सकता है। यह सम्पूर्ण व्यवस्था वित्त मन्त्रालय के दिशा-निर्देश में चलती है।
3. **राजकोष का वितरण-** एकत्रित धन को वितरित करना, बजट क्रियान्वयन सम्बन्धी एक प्रमुख स्तर है। बजट पास होने के तुरन्त बाद वित्त मंत्रालय विभिन्न मंत्रालयों को स्वीकृत अनुदानों की सूचना दे देता है। मन्त्रालय बजट प्रावधानों तथा प्रशासनिक स्वीकृतियों की सूचना विभागाध्यक्ष को दे देता है, जो प्रक्रिया जिला स्तर तक पहुँच जाती है। वितरण अधिकारी सरकारी कोषों के संरक्षण तथा संवितरण का कार्य राजकोष, उप-राजकोष तथा अधिकृत बैंक की शाखाओं के माध्यम से नियमानुसार करते रहते हैं। यहाँ वह देखता है कि चालान या चैक सम्बन्धित अधिकृत अधिकारी द्वारा हस्ताक्षरित है, अथवा नहीं। परन्तु इसके साथ यह देखता है कि-

   - क्या वह बजट प्रावधान के अनुरूप है, अथवा नहीं?
   - क्या तत्सम्बन्धी समुचित प्रशासनिक और तकनीकी अनुमोदन प्राप्त हो चुका है?
   - क्या भुगतान की माँग उचित है?
   - क्या भुगतान के लेखा की व्यवस्था है अथवा नहीं?

   आजकल अधिकांश धन सम्बन्धी लेन-देन चेक या प्राप्ति बिल द्वारा ही किया जाता है। अतः संवितरण का कार्य इतना कठिन नहीं रहा है। बैकिंग के विस्तार के कारण अब सरकारी कोषों का भण्डारण रिजर्व

बैंक, स्टेट बैंक अथवा उसकी शाखाओं में किया जाता है। इसके साथ राजकोष अथवा उप-राजकोष भी इस दायित्व का निर्वाह करते हैं।

4. **आय-व्यय लेखे-** आय-व्यय या नियन्त्रण लेखे का मुख्य ध्येय धन संग्रहण, एकत्रण और रक्षण करने वाले अधिकारियों की ईमानदारी का आश्वासन देना और इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए नियमों, निर्देशों और सीमाओं का कठोरता से अनुपालन करने का आश्वासन प्राप्त करना है। जो अलग लेखा तथा अंकेक्षण विभाग के माध्यम से नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक की सहायता से किया जाता है। रेलवे के अलावा प्रत्येक विभाग एवं राज्यों में एक महालेखापाल होता है। लेखापरीक्षक द्वारा निर्धारित नियमों के अनुरूप प्रारम्भिक लेखा उस कोषागार में होता है, जहाँ किसी प्रकार का लेन-देन होता है। फिर व्यय शीर्षों के अनुसार सभी लेन-देनों का व्यौरे-वार वर्गीकरण एवं लेखाधिकारियों द्वारा लेखों का मासिक संकलन तथा अन्त में भारत के महालेखा परीक्षक द्वारा इनका वार्षिक संकलन होता है।
5. **लेखों का अंकेक्षण तथा परिक्षण-** महालेखाकार कार्यालय देश भर के हिसाब-किताब को पहली तारीख को प्राप्त कर प्राप्तियों तथा खर्च का शीर्ष के अनुसार वर्गीकरण करता है। जहाँ राजस्व खाता, पूँजीगत खाता, ऋण खाता और दूरस्थ प्राप्तियों रूपी चार शीर्षों में लेखा सूचनाऐं संकलित की जाती हैं। जहाँ अन्तिम रूप में भारत का महालेखा परीक्षक सरकार के समस्त लेखों का उपरोक्त शीर्षों के आधार पर लेखा करके केन्द्र और राज्यों में क्रमशः राष्ट्रपति और राज्यपाल के सम्मुख पेश करता है। जिसमें वित्तीय लेखे, विनियोजन लेखे और तत्सम्बन्धी अंकेक्षण प्रतिवेदन होती है। प्रतिवेदन निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करता है-
    - क्या धन का विनियोजन अधिनियम के अनुसार किया गया?
    - क्या धन के विनियोजन में निर्धारित नियमों का अभिपालन किया गया?
    - क्या सार्वजनिक धन का दुरूपयोग तो नहीं किया गया?
    - सेवाओं की सम्पन्नता में कितना समय व्यय किया गया? इत्यादि।

इस प्रकार लेखा परीक्षण सार्वजनिक हित, सार्वजनिक धन के उचित व्यय को आश्वस्त करने का एक महत्वपूर्ण उपाय है, जो प्रशासनिक अधिकारियों को किसी प्रकार के घोटाले के प्रति सचेत करता है।

17.4.4 बजट का विधायी नियन्त्रण

प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में सरकारी वित्त पर विधायिका का नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। भारत में इस नियन्त्रण के विकास का एक रोचक इतिहास रहा है। यहाँ 1911 में केन्द्रीय व्यवस्थापिका में निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत रखा गया है। इसके साथ ही जनलेखा समिति का गठन किया जाता है, जिनमें निर्वाचित एवं सरकारी दोनों प्रकार के सदस्यों को लिया जाता है। स्वतन्त्रता के बाद विधायिकों द्वारा लोक लेखा समिति, प्राक्कलन समिति तथा सार्वजनिक उपक्रमों और विभागीय समिति के माध्यम से सार्वजनिक वित्त पर नियन्त्रण रखती है। इसलिए वित्तीय नियन्त्रण की दृष्टि से समितियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. संविधान के अनुच्छेद...............के अनुसार भारत सरकार अनुमानित आय और व्यय का विवरण संसद के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।

2. भारत में वित्तीय वर्ष............ से आरम्भ होकर............मार्च तक रहता है।

3. लेखानुदान बजट सत्र के दौरान……………तक पारित कर दिया जाता है।

17.5 सांराश

प्रशासनिक कार्यों को बिना वित्त को पूर्ण किया जाना सम्भव ही नहीं है। वित्तीय प्रबन्ध में उन प्रशासनिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है, जिनके द्वारा वित्तीय साधनों का संग्रह, विनियोजन तथा लेखांकन किया जाता है। वित्तीय प्रबन्ध का प्रमुख ध्येय राज्य के वित्त का उचित, दक्ष और प्रभावशाली प्रबन्ध है। इसके अन्तर्गत सरकार के वे तमाम कार्य आते हैं, जिसका सम्बन्ध सार्वजनिक धन को इकट्ठा करने, व्यय करने, बजट बनाने, आय-व्यय का हिसाब बनाने, सरकार के लेन-देन तथा पूँजी एवं दायित्वों का विवरण और इनका सम्पूर्ण प्रतिवेदन तैयार करने से होता है। इसलिए कहा जाता है कि प्रशासनिक इंजन का ईधन वित्त है। प्रशासन के प्रत्येक कार्य को वित्त के अभाव में पूर्ण नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार हृदय शरीर में शुद्ध रक्त की पूर्ति कर चेतना और ऊर्जा का संचार करता है, उसी प्रकार प्रशासन में वित्त उसकी नीतियाँ तथा योजनाओं को पूर्ण करता है, क्योंकि वित्त के अभाव में उनका कार्यान्वयन सम्भव नहीं है। इसी कारण वित्त को लोक प्रशासन की चालक शक्ति कहा जाता है।

भारत में बजट निर्माण प्रक्रिया का प्रमुख उत्तरदायित्व वित्त मन्त्रालय का है। वित्त मन्त्रालय का प्रमुख वित्त मन्त्री होता है, जो राष्ट्र के कोष का संरक्षक तथा देश की वित्तीय नीति का कर्णधार माना जाता है। लोक वित्त का उचित वितरण एवं प्रयोग करना उसका प्रमुख कार्य है। ‘बजट’ का निर्माण एक दिन में न करके अपितु साल भर चलने वाली प्रक्रिया के रूप में होता है। जिसके प्रमुख रूप में चार चरण हैं- प्रथम चरण में, वह बजट की तैयारी करता है, जिसके अन्तर्गत वह बजट अनुमान आगामी वित्तीय वर्ष के आरम्भ होने के 7 से 8 माह पूर्ण प्रारम्भ करता है। इस प्रक्रिया के पूर्ण करने में विभिन्न प्रशासनिक मन्त्रालय, योजना आयोग तथा नियन्त्रक महालेखा परीक्षक उसकी सहायता करते हैं। द्वितीय चरण में, बजट की संसदीय स्वीकृति प्राप्त की जाती है, जहाँ बजट प्रस्तुतीकरण से लेकर धन विधेयक की स्वीकृति लेखानुदान माँगों को पास करना, विनियोग विधेयक एवं वित्त विधेयक की स्वीकृति ली जाती है। तृतीय चरण में, बजट का क्रियान्वयन है, जिसके अन्तर्गत वित्त के एकत्रीकरण, संरक्षण, वितरण लेखा एवं अंकेक्षण और प्रतिवेदन की प्रक्रिया समाहित है। बजट निर्माण प्रक्रिया का अन्तिम चरण उसका विधायी नियन्त्रण है, जो संसदीय एवं विभागीय समितियों एवं नियत्रक-महालेखा परीक्षक के द्वारा पूर्ण किया जाता है।

17.6 शब्दावली

पूँजी व्यय- यह अर्थव्यवस्था में भौतिक रूपी परिसम्पत्तियों के निर्माण के लिए किया लाने वाला व्यय है। जैसे- भूमि, मशीन, भवन आदि।

राजस्व व्यय- यह अर्थव्यवस्था में सरकारी विभागों में सामान्य कार्यों पर किया जाने वाला व्यय है, जिसके द्वारा किसी भौतिक परिसम्पत्ति का निर्माण नहीं होता है। जैसे-वेतन, दैनिक खर्च आदि।

पूँजी प्राप्तियां- ये सरकार द्वारा जनता से लिये गये ऋण हैं, जिन्हें बाजार ऋण कहते हैं। भारतीय रिजर्व बैंक या विदेशी संस्थानों से लिये गये ऋण आदि।

वित्त विधेयक- वित्त विधेयक में आगामी वित्तीय वर्ष के लिए सरकार के करारोपण प्रस्तावों को प्रस्तुत किया जाता है। जिसका स्वीकृति संसद से आवश्यक होती है।

धन विधेयक- संविधान के अनुच्छेद- 110(1) में उल्लिखित किसी विषय से सम्बन्धित होता है, जो वित्त विधेयक तो होता है। इसका संबंध विशेषतया कराधान, ऋणादान अथवा व्यय से होता है। वित्त विधेयक की धन विधेयक के रूप में प्रमाणित लोक सभा अध्यक्ष द्वारा होती है।

17.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 112, **2.** 1अप्रैल से 31 मार्च, **3.** 31 मार्च

17.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सुन्दरम, के0पी0, (1990), भारतीय लोक वित्त एवं वित्तीय प्रशासन, सुल्तान चन्द एण्ड संस, नई दिल्ली।
2. भट्टाचार्य, माहित, (2000), लोक प्रशासन के नए आयाम, जवाहर पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
3. कौर, इन्द्रजीत, (2000), लोक प्रशासन, एसबीपीडी पब्लिशिंग हाउस, आगरा।
4. अवस्थी, ए0पी0,(2000), वित्त प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
5. फाड़िया, बी0एल0, (2010), भारतीय लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

17.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. लाल, जी0 एस0, (1982), भारत में लोक वित्त तथा वित्तीय प्रशासन, एच0 पी0 कपूर, नई दिल्ली।
2. मुसग्रेव एण्ड मुसग्रेव, (1990), लोक वित्तः सिद्धान्त एवं व्यवहार, मैग्रा हिल बुक कम्पनी, न्यूयार्क।
3. थावराज, एम0 जे0 के0, (1982), भारत का वित्तीय प्रशासन, सुल्तान चन्द एण्ड संस, नई दिल्ली।

17.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. वर्तमान कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में वित्तीय प्रबन्ध क्यों महत्वपूर्ण हो गया है?
2. भारत में व्यय के आधार पर बजट के कितने भाग होते है? स्पष्ट कीजिए।
3. बजट क्रियान्वयन प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए।

इकाई- 18 सार्वजनिक व्यय पर नियंत्रण

इकाई की संरचना

18.0 प्रस्तावना

18.1 उद्देश्य

18.2 वित्त पर संसदीय नियंत्रण

18.2.1 लोक लेखा समिति

18.2.1.1 लोक लेखा समिति के कार्य

18.2.1.2 लोक लेखा समिति के नियन्त्रण का स्वरूप

18.2.1.3 लोक लेखा समिति का मूल्यांकन

18.2.2 प्राक्कलन या अनुमान समिति

18.2.3 विभागीय समितियाँ

18.2.4 लोक उपक्रम समिति

18.3 नियन्त्रक महालेखा परीक्षक

18.3.1 नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की संवैधानिक स्थिति

18.3.2 नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के कर्तव्य

18.3.3 नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की पद एंव स्थिति का मूल्यांकन

18.4 सांराश

18.5 शब्दावली

18.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

18.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

18.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

18.9 निबंधात्मक प्रश्न

18.0 प्रस्तावना

भारत में लोक प्रशासन के वित्तीय प्रबन्ध व बजट निर्माण प्रक्रिया से सम्बन्धित यह इकाई है। इससे पहले की इकाइयों के अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं कि भारतीय प्रशासन क्या है? संघीय शासन एवं राज्य शासन क्या है?

‘वित्त’ प्रशासन का जीवन रक्त है, प्रशासन के प्रबन्ध में वित्त शरीर और उसकी छाया के रूप में जुड़े है। किसी भी संगठन, उद्योग, कार्यालय और उद्यम के क्रियान्वयन हेतु कर्मचारी और पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है, जिसे केवल वित्त के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। प्रशासकीय इंजन का ईधन वित्तहै। प्रशासन का प्रबन्ध बिना उसके असम्भव है। भारत में लोककल्याणकारी और विकासात्मक राज्य की अवधारणा के परिणामस्वरूप सरकार के सामाजिक और विकासात्मक कार्यों में अप्रत्याशित वृद्धि बनी हुई है। जिस हेतु राजस्व एकत्रण, क्रियान्वयन एवं विधायी नियत्रंण की महत्ती आवश्यकता है, जो उपलब्ध वित्तीय स्रोतों के इष्टतम प्रयोग को बनाए रखे।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप भारत में वित्तीय प्रबन्ध के आशय, तत्व, सिद्धान्त एवं बजट के माध्यम से उसके सम्पूर्ण कार्यक्षेत्र का विवेचन करेंगे। हम इसके साथ ही भारत में बजट निर्माण प्रक्रिया का भी चरणबद्ध उल्लेख करेंगे।

18.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- वित्त पर संसदीय नियंत्रण को जान सकेंगे।
- बजट के क्रियान्वयन पर प्रशासनिक नियन्त्रण के पश्चात संसद द्वारा नियन्त्रण के औचित्य का वर्णन कर सकेंगे।
- लोकलेखा समिति के महत्व को समझ सकेंगे।
- अनुमान समिति निर्माण की प्रक्रिया और कार्यों का वर्णन कर सकेंगे।

18.2 वित्त पर संसदीय नियंत्रण

सार्वजनिक राजस्व का प्रमुख स्रोत जनता से कर के रूप में प्राप्त होता है। भारतीय लोकतन्त्र में जन-प्रतिनिधियों की मंजूरी के बिना न तो कोई कर लगाया जाएगा, न कोई कर बिना जन-प्रतिनिधियों की मंजूरी के विनियोजन किया जाएगा। विधायिका द्वारा बजट का अनुमोदन उक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु करती है। परन्तु वित्तीय चक्र की पूर्णता तब है, जब संसद व्यय पर नियन्त्रण रख सके। संसदीय निगरानी को अधिक प्रभावी और अधिक सार्थक बनाने के लिए संसद को ऐसी ऐजेंसी की आवश्यकता होती है, जिस पर सम्पूर्ण सदन का विश्वास हो। इस उद्देश्य की पूर्ति वह अपनी संसदीय समितियों के माध्यम से करती है। समितियों का औचित्य निम्न तथ्यों से ज्ञात होता है- 1. विधायी कार्यों की बढ़ती जटिलता, 2. कार्यभार की अधिकता, 3. विपक्ष की भूमिका की प्रधानता का संचालन, 4. परम्परागत द्वितीय सदन की भूमिका का निर्वहन, 5. दलगत राजनीति से परे दृष्टिकोण, 6. अनुभव एवं योग्यता का सशक्त मंच।

संसदीय समितियां एक ओर संसद और जनता के बीच कड़ी का कार्य करती है, तो दूसरी तरफ सरकार और जनता के बीच। समितियों की प्रासंगिकता इस परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण है कि इसमें वित्त सम्बन्धी विधायी विचार-विमर्श को सार्थक बनाने के लिए पूरी व्यवस्थापिका सभा की बजाय सभा के कुछ सदस्यों, जो कि वित्तीय मामलों में विशेष रूचि रखते हों, से युक्त एक समिति द्वारा इस पर विचार करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। सार्वजनिक वित्त सम्बन्धी इस द्विमुखी प्रक्रिया-बजट निर्माण और बजट पर नियंन्त्रण रखने के लिए संसदीय समितियों को तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं-

18.2.1 लोक लेखा समिति

बजट के क्रियान्वयन पर कार्यपालिका और प्रशासनिक नियन्त्रण के पश्चात संसद द्वारा नियन्त्रण का औचित्य इस बात में निहित है कि संसद ही विनियोग विधेयक द्वारा कार्यपालिका को विभिन्न प्रयोजनों के लिए व्यय करने के लिए अनुमोदन प्रदान करती है। संसद उस शक्ति को सम्पन्न करने के लिए प्रश्न काल, काम रोको प्रस्ताव आदि संसदीय तकनीक का प्रयोग कर सकती है, परन्तु इस कार्य को अधिक सूक्ष्मता तथा कुशलता द्वारा लोकलेखा समिति द्वारा सम्पन्न किया जाता है। जोकि लेखा नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन पर विचार करती है। संसद सदस्य वित्तीय स्वरूप के उतने जानकार नहीं होते, परन्तु नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक वित्तीय

स्वरूप का विशेषज्ञ होता है, इस कारण इसके प्रतिवेदन का महत्व बढ़ जाता है। अतः एक लोकतन्त्रात्मक शासन पद्धति में उसके प्रतिवेदन के तदन्तर लोक-लेखा समिति द्वारा समीक्षा, विशिष्ट नियन्त्रण के साथ-साथ राजनीतिक नियन्त्रण को साकार करती है। संसद द्वारा नियन्त्रण के लिए समिति को अपनाने के निम्नलिखित कारण हैं- 1. संसद का विशाल आकार और सदस्यों की सामान्य पृष्ठभूमि के साथ वित्तीय मामलों में सुक्ष्मताओं की जानकारी का ना होना पाया जाना। अतः बड़े संसदीय स्वरूप में प्रतिवेदन पर चुने हुए सदस्यों की समिति द्वारा ही सूक्ष्मता एवं गहनता से जानकार सदस्यों द्वारा, जो वित्त मामलों के सम्बन्ध में ज्ञान एवं रूचि रखते हैं, परीक्षण किया जा सकता है। 2. राजनीति दल आधारित संसदीय व्यवस्था ऐसे कार्यों के लिए अकार्यकारी है, क्योंकि संसद में प्रत्येक विचार-विमर्श दलीय भावना को प्रकट करते हैं। अतः वित्तीय मामलों पर विचार-विमर्श स्वतन्त्र और निपक्ष हो जो कि समिति द्वारा बेहतर रूप से पूर्ण किया जाता है।

लोकलेखा समिति की अवधारणा ब्रिटिश संसदीय पद्धति की देन है। ब्रिटेन में यह सन् 1861 में अस्तित्व में आयी। इसके परिणाम स्वरूप सार्वजनिक विनियोजनों में नियोजित धन पर संसदीय नियन्त्रण ही प्राप्त नहीं किया, बल्कि संसदीय नियन्त्रण में वृद्धि हुई। भारत में लोक लेखा समिति संसद की सबसे पुरानी और बहुत ही महत्वपूर्ण समिति है। सर्वप्रथम 1919 के भारत सरकार अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार 1921 में प्रथम लोकलेखा समिति की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य सरकारी लेखा की छानबीन करना तथा उसमें की गयी अनियमितता को सामने लाना था। भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात ब्रिटिश प्रणाली से प्रभावित होकर अप्रैल, 1950 में लोकलेखा समिति की स्थापना की गयी। मोटे तौर पर स्वतन्त्र भारत में भी इस कमेटी का स्वरूप तथा कार्यक्षेत्र वही है, जो ब्रिटिश भारत में गठित समिति के लिए प्रचलन में था। तथापि बदले परिप्रेक्ष्य में इसके स्वरूप में आवश्यक परिर्वतन भी किए गये हैं।

लोकलेखा समिति में सदस्यों की संख्या 22 होती है, जिसमें 15 लोक सभा से तथा 7 राज्य सभा से होते है। समिति में सदस्यों का निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत-पद्धति द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होता है, जिसके द्वारा विभिन्न राजनीतिक दलों को संसद में अपनी दलीय शक्ति के अनुपात में ही प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है और जिसके द्वारा विभिन्न राजनीतिक दलों को संसद में अपनी दलीय संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। समिति का अध्यक्ष लोक सभा अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किया जाता है। शुरूआत में सत्तादल के सदस्य की नियुक्ति लोकलेखा समिति में अध्यक्ष पद पर होती थी। परन्तु 1967 से विरोधी दल से अध्यक्ष बनाया जाने लगा है। यदि लोक सभा का उपाध्यक्ष समिति का सदस्य चुना जाता है, तो वह ही समिति का अध्यक्ष होता है। एम0 आर0 मसानी विरोधी दल के प्रथम सदस्य थे, जो इस समिति के अध्यक्ष मनोनीत किए गये । समिति का कार्यकाल मई से अप्रैल तक एक वर्ष का होता है। अध्यक्ष एवं सदस्य का कार्यकाल एक वर्ष का होता है, जिनका पुर्ननिर्वाचन किया जा सकता है। भारत की लोक-लेखा समिति ब्रिटेन से दो तरह से भिन्न है, पहली- इसमें राज्य सभा का प्रतिनिधित्व दिया गया है, जबकि ब्रिटेन में लार्ड सभा (उच्च सदन) के सदस्य इसके सदस्य नहीं होते हैं। दूसरा- लोक लेखा के प्रतिवेदन लार्ड सभा में पटल नहीं रखे जाते, जबकि भारत में दोनों सदनों में प्रतिवेदन रखे जाते हैं।

18.2.1.1 लोकलेखा समिति के कार्य

लोकलेखा समिति का मुख्य कार्य सदन में प्रस्तुत किये गये नियंत्रक व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन का परीक्षण करने यह देखना है कि संसद द्वारा विनियोजित धन का कार्यपालिका के प्राधिकारियों द्वारा “माँगों के क्षेत्र के भीतर” व्यय हुआ है अथवा नहीं। इस वाक्यांश का भाव है-

- व्यय, संसद के विनियोजित धन से अधिक नहीं बढ़ना चाहिए।
- व्यय, उसी उद्देश्य के लिए किया गया हो, जिस उद्देश्य के लिए संसद ने उस पर मतदान किया है।
- व्यय, उन्हीं अधिकारियों द्वारा किया गया हो, जो वैधानिक रूप से व्यय के लिए सक्षम थे।
- कार्यपालिका ने एक अनुदान में बची हुई राशि दूसरी मद के लिए व्यय करके संसद की अवहेलना तो नहीं की है।
- अनुमोदित नीतियों तथा कार्यक्रमों तथा पुनर्विनियोजित अधिकृत व सक्षम अधिकारियों के द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार हुआ है या नहीं।
- सभी वित्तीय मामलों में नैतिकता के उच्चस्तरीय मानदण्डों को बनाये रखना।

उपरोक्त कार्यो के अतिरिक्त लोकलेखा समिति प्रत्येक ऐसे विषय की जाँच करती है, जिसमें वित्तीय वर्ष के दौरान किसी सेवा पर संसद द्वारा स्वीकृत धनराशि से अधिक व्यय किया गया है। ऐसे अतिव्ययों का आगामी वित्तीय वर्षों में नियमन किया जाए, उपरोक्त सिफारिशों को प्रतिवेदन के रूप में प्रस्तुत करती है। जैसा कि कौल और शकधर कहते हैं, कि "समिति का कार्य व्यय की औपचारिकताओं के बाहर व्यय सम्बन्धी, विवके, वफादारी और मितव्ययिता सम्मत हो।" यह वित्तीय अनुशासन और सिद्धान्तों पर भी विचार-विमर्श करती है। समिति उन अनियमितताओं का भी परीक्षण कर सकती है, जो कि सार्वजनिक रूप से प्रकट हो जाए या जिनके सम्बन्ध में सरकार को अवगत कराया जाता है, चाहे ऐसे विषयों पर औपचारिक लेखा प्रतिवेदन प्रस्तुत न भी किया गया हो। लोक लेखा समिति वित्त के नियन्त्रण के कार्य को पूर्ण अवैयक्तिक रूप से सम्पन्न करती है। यह देखती है कि व्यवस्था कहाँ भंग हुई है, या नियन्त्रण उपायों को सुझाना जिससे भविष्य में अपव्यय और हानियों को रोका जा सके। लोकलेखा समिति अपने कार्य को व्यक्ति विशेष पर टिप्पणी किए बगैर पूर्ण करती है, परन्तु समिति अपनी अनुशंषा के अनुरूप मंत्रालय और विभागों से कार्यवाही की अपेक्षा रखती है।

18.2.1.2 लोक लेखा समिति के नियन्त्रण का स्वरूप

लोक लेखा समिति द्वारा कार्यपालिका पर वित्तीय क्षेत्र में किए जाने वाले नियन्त्रण का स्वरूप निम्नवत है-

1. लोक लेखा समिति द्वारा कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण, विशेषज्ञ नियन्त्रण के समान होता है। यह समिति विभिन्न विषयों पर विशेषज्ञों की राय लेती है। इसके सदस्यों को संसदीय वित्तीय प्रक्रिया का अच्छा ज्ञान होता है। अतः ये सम्मिलित आधार पर सिफारिशें करते हैं और आवश्यक होने पर उपसमिति की नियुक्ति भी करते हैं।
2. लोकलेखा समिति का मुख्य उद्देश्य बजट के विनियोजन पर नियंत्रण करना है। यह धन के खर्च में की गयी अनियमितताओं को उद्-घाटित करती है और खर्च करने वाले को अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग करती है।
3. वित्त विभाग एवं नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के मध्य या अन्य विभागों एवं नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के मध्य विवाद होने पर समिति न्यायाधीश की भूमिका निभाती है, इसके उपरान्त समिति द्वारा लिए गये निर्णय भविष्य में सरकारी लेन-देन के सम्बन्ध में कानून की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं।
4. समिति का गठन यद्यपि दलीय आधार पर दलों के अनुभवी एवं वरिष्ठ सदस्यों के रूप में किया जाता है, जो बाद मे गैर-दलीय स्वरूप धारण कर लेते हैं और मतऐक्य भाव से कार्य करते हैं।

5. समिति वित्तीय नियंत्रण के माध्यम से प्रशासनिक मंत्रालयों की प्रक्रियाओं व कार्यविधियों पर नियन्त्रण रखती है, जो भष्ट्र अधिकारियों तथा कर्मचारियों के स्थानान्तरण, प्रतिनियुक्ति, पदच्युति तथा समय पूर्व सेवानिवृत्ति के विषयों को प्रभावित करता है। समिति का कार्य यद्यपि बाद में शुरू होता है, परन्तु इसकी छानबीन की प्रभावशीलता का डर अधिकारियों में बना रहता है।

लोक लेखा समिति की कार्यवाही का पूर्णरूपेण अभिलेख रखा जाता है। लेखों और लेखा प्रतिवेदनों के परीक्षण और समिति द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर समिति का सचिवालय प्रतिवेदन का प्रारूप बनाता है, जिसकी एक प्रति समिति के अध्यक्ष के अनुमोदन हेतु एवं एक नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के पास भेजी जाती है। अध्यक्ष की सहमति उपरान्त नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के साथ समिति की बैठक की जाती है, ताकि तथ्यों और अंको में आवश्यक संशोधनों को किया जा सके। यद्यपि समिति दलीय भावना से परे कार्य करता है, परन्तु मतऐक्य न होने पर बहुमत से निर्णय लिया जाता है। मतों की संख्या बराबर हो जाए तो निर्णय के लिए समिति का अध्यक्ष निर्णायक मत देने का अधिकार रखता है। लोकलेखा समिति के प्रतिवेदन को उसके अध्यक्ष द्वारा लोक सभा में एवं अधिकृत सदस्य द्वारा राज्य सभा में प्रस्तुत किया जाता है। समिति के प्रतिवेदन को दोनों सदन बिना वाद-विवाद के स्वीकार कर लेते हैं। किसी मतभेद की स्थिति में सरकार समिति को कारणों सहित सूचित करती है।

18.2.1.3 लोक लेखा समिति का मूल्यांकन

लोकलेखा समिति की सिफारिशों को मानना सरकार के लिए अनिवार्य नहीं है, किन्तु सरकार समिति की अधिकांश सिफारिशों को लागू करने का प्रयास करती है। इस सन्दर्भ में आन्तरिक कार्य नियम 27 में कहा गया है कि “लोक सभा सचिवालय की लोकलेखा समिति शाखा में लोकलेखा समिति की सिफारिशों को लागू करने के लिए विभिन्न मन्त्रालयों द्वारा उठाए गये अथवा सम्भावित कदमों का ब्यौरा हो........तथा समिति की अगली बैठक के कम से कम सात दिन पूर्व सभी सदस्यों को वितरित करने की व्यवस्था करें।” समिति की कमियाँ या दुर्बलता निम्न रूप में प्रतिबिम्बित होती हैं-

1. समिति किसी व्यय के वाद को अस्वीकार नहीं कर सकती है, नीति के व्यापक प्रश्नों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है।
2. समिति के विचार-विमर्श का क्षेत्र नियन्त्रक महालेखा परीक्षक का प्रतिवेदन है। अतः इसकी पूर्ण निर्भरता उसके प्रतिवेदन पर हो जाती है।
3. समिति की कार्यकुशलता में कमी का महत्वपूर्ण कारण वित्तीय लेन-देन के बहुत देर बाद उसके सम्बन्ध में प्रतिवेदन देना है। जो ‘शव परीक्षा’ के रूप में गड़े मुर्दे उखाड़ने की कोशिश करती है। कई बार उसके प्रतिवेदनों पर संसद में विस्तृत विचार नहीं किया जाता है और इसकी सिफारिशों को गंभीरता से न लेकर इन्हें केवल औपचारिकता मात्र मान लिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि लोक-लेखा समिति का कार्य तब शुरू होता है, जब सरकार बजट संबंधी धनराशि को वित्तीय वर्ष में पूरी तरह खर्च कर लेती है। अतः धन के खर्च होने के पश्चात लोक लेखासमिति द्वारा नियन्त्रण की उपयोगिता के प्रति सन्देह प्रकट किया जाता है। इसी कारण आलोचक कहते हैं कि यह व्यय-सम्मत त्रुटियों को रोकने के बजाय की गयी त्रुटियों पर पुर्नविचार करके समय को नष्ट करना है। प्रो0 हीरेन मुकर्जी के शब्दों में, “समिति के प्रतिवेदनों का समाचार-पत्रों द्वारा व्यापक प्रचार किया जाता है। अतः यह स्वाभाविक है कि सरकार समिति के सुझावों व टिप्पणियों की उपेक्षा नहीं कर सकती। इसका यह प्रभाव होता है कि प्रशासन कोई गलत

कार्य करने से घबराता है।” तथापि लोकलेखा समिति की प्रभावशीलता बढ़ाने हेतु निम्नांकित सुझाव दिए जा सकते हैं-

1. जिन मामलों में धन का दुरूपयोग तथा दुर्विनियोजन किया गया है, उन मानलों को संसद तथा लोकलेखा समिति के ध्यान में लाना चाहिए।
2. वित्तीय लेन-देन की परीक्षा साथ-साथ कर लेना चाहिए एवं आवश्यक निर्देश दें, ताकि आगामी वर्षों में गलतियों की पुनरावृत्ति न हो।
3. समिति में सदस्यों की संख्या बढ़ानी चाहिए एवं वित्तीय क्षेत्र के अनुभव को वरीयता देनी चाहिए, साथ ही संसद को उसके प्रतिवेदनों पर गहन विचार-विमर्श करना चाहिए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोकलेखा समिति ने संसदीय लोकतन्त्र बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसकी महत्ती भूमिका के सम्बन्ध में समिति की स्वर्ण जयन्ती पर तत्कालीन राष्ट्रपति ने ये वक्तव्य व्यक्त किया कि, “लोकलेखा समिति हमारे संसदीय जीवन के जीवंतकाल में अस्तित्व में आई। सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार पर हमारी संसद और राज्य विधान सभाऐं, कार्यपालिका शक्ति और प्रक्रिया की संरक्षिका बन गयी है। लोकलेखा समिति को नागरिक सेवकों को बुलाने की शक्ति है, ताकि इस बात का आश्वासन प्राप्त हो सके कि सार्वजनिक धन का उचित प्रयोग हो रहा है। इस प्रक्रिया में पूछताछ के दौरान रहस्य के प्रकट होने का भय ही गलत कार्यों के सम्बन्ध में एक आश्वस्त निरोधक के रूप में कार्य करता है। इस कार्य के लिए समिति को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सांवैधानिक अभिकर्त्ता-नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक को सहायता एवं परामर्श मिलता रहता है। अतः निःसन्देह इस पृष्ठभूमि में हमारी संसद की लोकलेखा समिति का ऐसा इतिहास है, जिसके बारे में यह गौरवान्वित अनुभव कर सकती है।”

18.2.2 प्राक्कलन या अनुमान समिति

संसद को यह शक्ति प्राप्त है, कि वह किसी माँग को स्वीकार करे या स्वीकार न करे या उसमें निश्चित रकम की कटौती कर दें। उसे संचित निधि पर भारित खर्चों के अनुमान का भी अधिकार है। यद्यपि अनुमानों पर वह दीर्घकालीन विचार-विमर्श करती है, परन्तु उसे एक व्यापक वित्तीय नियन्त्रण के लिए यह देखना भी आवश्यक है कि संसद में प्रस्तुत किए गये कार्यक्रमों व परियोजनाओं के लिए निर्धारित अनुदानों की मितव्ययता की दृष्टि से छानबीन की जाए। संसद के पास अनुमानों के तकनीकी पक्षों के रूप में छानबीन का ना तो समय है और ना ही शक्ति होती है। अतः इसके लिए संसद की एक ऐसी समिति का गठन किया जाता है, जो संसद के समक्ष प्रस्तुत अनुदान माँगों की विषयवार समीक्षा करती है तथा व्यय करने से पहले ही खर्च में मितव्ययिता लाने के सुझाव देती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विधायिका ने एक अन्य समिति का निमार्ण किया है, जिसे प्राक्कलन या अनुमान समिति कहते है। अनुमान समिति एक स्थायी वित्तीय समिति है। भारत में यद्यपि सन् 1937 में ही अनुमान समिति के गठन का माँग की गयी, परन्तु समिति के गठन को उस समय स्वीकार नहीं किया गया। उस समय वित्त विभाग के अन्तर्गत एक स्थायी वित्तीय समिति (1921) कार्य कर रही थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात सन् 1950 में अनुमान समिति का गठन किया गया। समिति का गठन प्रतिवर्ष किया जाता है, प्रारम्भ में इसके 25 सदस्य रहते थे, अब इनकी संख्या 30 कर दी गयी है। जो सभी लोक सभा के सदस्य होते हैं। समिति के सदस्यों को राजनीतिक दलों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके, इसके लिए सदस्यों का चुनाव एकल संक्रमणीय मत से आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा होता है। इसके अध्यक्ष की नियुक्ति लोक सभा अध्यक्ष द्वारा की जाती है। यदि लोक

सभा का उपाध्यक्ष इसका सदस्य होता है, तो वह स्वतः ही इसका अध्यक्ष बन जाता है। मन्त्रीगण अनुमान समिति के सदस्य नहीं होते। सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष होता है। अभिसमय के अनुसार उन्हें दो और कार्यवधियों के लिए चुना जाता है, ताकि समिति के कार्य में निरन्तरता और उनका अनुभव लिया जा सके। समिति का गठन मई माह में होता है, जो जुलाई माह से अपना कार्य शुरू कर देती है। समिति के सहायतार्थ उसका एक कार्यालय भी होता है।

अनुमान समिति सरकार की नीतियों से सम्बन्धित विषयों से सरोकार नहीं रखती है। इसका मुख्य उद्देश्य तो इस बात से संतुष्ट रहना होता है, कि निर्धारित नीति के अन्तर्गत अधिकतम मितव्ययिता के साथ न्यूनतम व्यय किया जाए। यह सरकार द्वारा स्वीकृत योजनाओं व परियोजनाओं को कार्यान्वित करते हुए व्यय में मितव्ययिता लाने के लिए रचनात्मक सुझाव देने वाली संस्था है। संसद के कार्य संचालन के लिए अपनाए गये प्रक्रिया नियमों के अनुसार अनुमान समिति के कार्यों में अक्टूबर 1956 में संशोधन कर काफी व्यापक कर दिया गया है। नवीन प्रावधानों के अनुसार समिति को यह प्रतिवेदन देना है कि, "सरकारी नीति संगतता के आधार पर तैयार किए गये अनुमानों में क्या मितव्ययिताएं, संगठनात्मक सुधार, कुशलता या प्रशासनिक सुधार लागू किए जा सकते हैं। प्रशासन में मितव्ययिता तथा कुशलता त्यागने के लिए क्या नीति विकल्प हो सकते हैं तथा यह जाँच करना कि किस हद तक नीति के अनुरूप तैयार किए गये अनुमानों के लिए मौद्रिक प्रावधान सही ढंग से किए गये हैं।"

अनुमान समिति के कार्यों को सार रूप में निम्नलिखित शीर्षों में व्यक्त कर सकते हैं-

1. सरकारी नीति के अनुरूप तैयार किए गये अनुमानों में मितव्ययिता लाने के लिए प्रशासनिक व संगठनात्मक सलाह देना।
2. प्रशासन में कार्यकुशलता व मितव्ययता लाने के लिए वैकल्पिक नियमों की सलाह देना।
3. अनुमानों में सन्निहित नीति के अनुरूप मौद्रिक प्रावधानों का औचित्य की परख करना।
4. संसद के सम्मुख बजट अनुमानों के प्रस्तुतीकरण का बेहतर ढंग विकसित करने के लिए सलाह देना।
5. सरकारी अधिकारियों की सुनवाई कर सकती है और एक ऐसी प्रश्नावली बना सकती है, जिनके प्रश्नों का उत्तर सम्बन्धी विभाग के प्रमुख को देना होता है।

समिति का गठन मई में किसी समय कर दिया जाता है। प्रतिवर्ष कुछ मन्त्रालयों को अपने विशिष्ट अध्ययन के लिए चुन लिया जाता है और वह जुलाई से कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। मंत्रालयों के चुनाव के सन्दर्भ में 1958 में लोक सभा अध्यक्ष का वक्तव्य है, कि "प्रत्येक लोक सभा के जीवन-काल में जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक मन्त्रालय के महत्वपूर्ण बजट अनुमानों की जाँच का एक दौर पूरा किया जाना चाहिए।" वह सालभर के लिए अनुमानों का चयन करके अपने कार्यों की योजना तैयार करती है। समिति अपने जाँच एवं अध्ययन हेतु प्रशासनिक स्रोत, प्रकाशित सामग्री, निजी संस्थाऐं, अध्ययन दल, मौखिक जानकारी और सरकारी तथा गैर-सरकारी गवाही के द्वारा सामग्री एकत्रित करती है। इस हेतु वह उप-समितियों का गठन करती है। जाँच के सन्दर्भ में समिति सरकारी अधिकारियों को स्पष्टीकरण के लिए बुला सकती है। उन्हें प्रश्नावली भेजकर सूचना एकत्र कर सकती है। आवश्यक होने पर आँकड़े, चार्ट और अभिलेख माँग सकती है। समिति एक परिपत्र के द्वारा मन्त्रालयों के लिए तैयार किए गये अनुमानों के सन्दर्भ में मुख्यतया निम्न सूचनाएँ माँगती हैं-

1. मन्त्रालय एवं उससे जुड़े अधीनस्थ कार्यालय का गठन तथा कार्य।

2. मन्त्रालय व इसके अधीनस्थ कार्यालयों के उन आधार का विस्तृत ब्यौरा, जिन पर अनुमान तैयारी निर्भर करती है।
3. मन्त्रालय के पिछले तीन वर्षों के उन कार्यों का विवरण जो वर्तमान अनुमानों की अवधि में पूरी की जानी है।
4. योजनायें व परियोजनायें जो मन्त्रालय शुरू कर रहा है या चल रहा है।
5. पिछले तीन वर्षों में वर्तमान अनुमानों में उप-शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया व्यय।
6. वर्तमान वर्ष तथा पिछले वर्ष के अनुमानों के खर्च में अन्तर के कारण।
7. अन्य किसी भी प्रकार के अनुमान के सन्दर्भ में सूचना जो मन्त्रालय देना चाहता है।

उक्त समस्त सूचनाओं का समिति के सचिवालय द्वारा विश्लेषण करके, सदस्यों के विचार-विमर्श के बाद प्रतिवेदन अध्यक्ष की स्वीकृति से सदस्यों में वितरण कर दिया जाता है एवं तथ्यात्मक पुष्टि हेतु सम्बन्धित विभाग या मन्त्रालय को गोपनीयता बनाये रखते हुए भेजा जाता है। तदोपरान्त मन्त्रालय की अनुदान मांगों पर बहस पूर्व प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाता है। प्रतिवेदन में प्रमुखतया तीन प्रकार की सिफारिशें होती हैं, पहला- संगठनात्मक तथा कार्यात्मक सुधार सम्बन्धी, दूसरा- मितव्ययिता सम्बन्धी जो अर्थव्यवस्था के सुनिश्चित अनुमान व्यक्त करने वाले हो और तीसरा- मार्गदर्शन सम्बन्धी अन्य सुझाव।

प्रतिवेदन पर अनुमान समिति अपने सचिवालय की सहायता से सिफारिशों को लागू करने के लिए की गयी कार्यवाही की सूचना प्राप्त करता है। भारत में अनुमान समिति का कार्य बहुत व्यापक है। यह सरकारी भूलचूक के अनेक कार्यों को प्रकाश में लाया। इस समिति ने वित्तीय एवं प्रशासकीय दोनों ही क्षेत्रों में सुधार के महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। दूसरे प्रतिवेदन के माध्यम से केन्द्रीय सचिवालय एवं विभागों के पुर्नगठन के लिये सिफारिश प्रस्तुत किया। दूसरी तरफ दामोदर घाटी योजना, हीराकुण्ड परियोजना, भाखड़ा नागल योजना तथा काकरापारा योजना जैसी बहुउद्देश्यीय परियोजनाओं के कार्य संचालन की प्रशासकीय कमियों को उजागर कर महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन किया। इसके प्रतिवेदन प्रकाशित होते हैं और जनमत में प्रचारित भी किये जा रहे हैं। इसकी अधिकांश सिफारिशों को सरकार द्वारा स्वीकृति प्राप्त होती है, जिसकी क्रियान्वयन प्रतिवेदन से पुष्टि होती है। फिर भी समिति की अन्तिम सफलता सरकार पर दीर्घकालीन चिन्तन तथा योजना के सम्बन्ध में पड़ने वाले प्रभाव पर निर्भर करता है। इसमे निम्नवत कमियां या दुर्बलताऐं दृष्टिगोचर होती हैं-

1. समिति जिस मन्त्रालय या विभाग की एक बार समीक्षा कर लेती है, दूसरी बार की समीक्षा में बहुत अधिक समय होता है।
2. समिति सामान्य व्यक्तियों का एक समूह है, उसके पास लोकलेखा समिति की तरह नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक जैसा कोई परामर्श विशेषज्ञ उपलब्ध नहीं रहता है।
3. समिति सरकारी नीति के मूल्यांकन एवं विभागीय पुर्नगठन पर अधिक मात्रा में अपनी शक्ति खर्च कर रही है, जबकि अपने मूल कार्य अनुमानों की जाँच करना गौण होता जा रहा है।
4. समिति का कार्य तथ्यों के खोजने की मंशा रूप में नहीं है। वह संयुक्त राज्य अमेरीका की कांग्रेस समितियों के रूप में तथ्यान्वेषी तंत्र के स्थान पर छिद्रान्वेशी तंत्र बनाती जा रही है।
5. समिति स्वंय को लोक सभा के सापेक्ष भूमिका में ले जा रही है।

6. समिति संगठनात्मक सुधार तथा कार्यों के पुर्नवितरण संबंधित सुझाव देती है, जो प्रचार महत्तायुक्त होते हैं। अतः सरकार इस तरह की सिफारिशें अस्वीकृत कर देती है।

अनुमान समिति वित्तीय नियंत्रण की दिशा में उपयोगी कार्य कर रही है, जो भारत में प्रशासन की योग्यता तथा उसके स्तर को उन्नत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। इस पर दोषारोपण करते हुए कहा जाता है कि बहुत बार यह नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करके उन कार्यों को करने लगती है, जो वास्तव में उसके नहीं है, लेकिन इस बात से पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता है। यह समिति सदन का कार्य नहीं करती, बल्कि सदन के अपने कार्य को अच्छी तरह करने में सहायता करती है। इसके कार्य सुझावपरक हैं, जिनका अनुपालन करना सदन पर निर्भर करता है।

18.2.3 विभागीय समितियाँ

विभागीय समितियाँ स्थायी प्रकृति की समितियाँ होती हैं। इस प्रकार की समितियों की स्थापना का मूल ध्येय विभिन्न मन्त्रालयों/विभागों की अनुदान माँगों की समीक्षा संसद में विचार तथा मतदान किए जाने से पूर्व करने के सन्दर्भ में है। दीर्घकालीन संसदीय अनुभव ने प्रकट किया कि विद्यमान संसदीय कार्यप्रणाली में समय की कमी के कारण बजट के अधिकांश भाग को बिना विस्तृत-चर्चा के ही स्वीकार कर लिया जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में सन् 1993 में विभाग सम्बन्धी स्थायी संसदीय समितियों के गठन का निर्णय किया। आरम्भ में सत्रह स्थायी समितियों की स्थापना की गयी। अब इनकी संख्या बढ़कर 25 हो गयी है। प्रत्येक समिति में अधिकतम सदस्य संख्या 31 है, जिसमें 10 राज्य सभा से और 21 लोक सभा से नियुक्त होते हैं। समितियाँ में परीक्षण के उपरान्त अनुदान माँगों पर प्रतिवेदन विचार-विमर्श के लिए संसद में प्रस्तुत किया जाता है।

18.2.4 लोक उपक्रम समिति

लोक निगमों/लोक उद्यमों के कार्य संचालन के निरीक्षण, परीक्षण और समय-समय पर उनके विषय में संसद में प्रतिवेदन देने के लिए एक संसदीय समिति के गठन की माँग उठती रही। इस तथ्य के पीछे मूल भावना यह थी कि संसद अपने प्रति उत्तरदायी उद्यमों को प्रभावशाली तथा न्याय संगत रूप में नियंत्रण रखने में सफल नहीं रही है। इस प्रकार की समिति के गठन का उद्-भव सर्वप्रथम 1953 के अन्त में लोक सभा में लंका सुन्दरम् ने की थी। वर्ष 1956 में जीवन बीमा निगम विधेयक पर चर्चा के दौरान श्री अशोक मेहता ने एक ऐसी स्थायी समिति के गठन के पक्ष में मत रखा था जो राष्ट्रीयकृत उद्योग के कार्य-संचालन की पूरी जाँच-पड़ताल करने के लिए आवश्यक उपकरण तथा अधिकारी हो। प्रथम लोक सभा अध्यक्ष जी0वी0 मावलंकर ने प्रधानमन्त्री को पत्र के माध्यम से स्वायत्त लोक निगमों के कार्य संचालन की जाँच हेतु एक स्थायी संसदीय समिति के गठन की बात रखी थी। योजना आयोग ने भी लोक उपक्रमों पर एक संसदीय समिति के गठन की सिफारिश की थी। परिणतः स्वरूप 1 मई 1964 को लोक उपक्रम समिति की स्थापना की गयी। इस समिति में 22 सदस्य होते हैं, जिसमें 15 लोक सभा तथा 07 राज्य सभा के सदस्य होते हैं। सदस्यों का चुनाव एकल संक्रमणीय तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर होता है। मई माह के आरम्भ में समिति का गठन कर दिया जाता है, जो अगले वर्ष 30 अप्रैल तक रहता है। लोक सभा अध्यक्ष द्वारा समिति के सभापति को नियुक्त किया जाता है, जिसका कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है। समिति के बीस प्रतिशत सदस्य चक्रानुक्रम में प्रत्येक वर्ष सेवानिवृत कर दिए जाते हैं।

लोक उपक्रम समिति का कार्य उपक्रमों के कार्य संपादन के सभी पक्षों का मूल्यांकन करना है। इसको जिन लोक उपक्रमों के प्रतिवेदन तथा लेखों की जाँच करने का कार्य समिति को दिया गया है, उनकी उस सन्दर्भ में जाँच

करना होता है। लोक उपक्रमों पर नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन का परीक्षण करना, लोक उपक्रमों की स्वायत्तता एवं कार्यकुशलता का परीक्षण करना, कि लोक उपक्रम के कार्यों का प्रबन्ध स्वस्थ्य व्यावसायिक सिद्धान्तों के अनुरूप किया जा रहा है कि नहीं। इसके साथ ही अध्यक्ष की सलाह से लोकलेखा समिति एवं अनुमान समिति के सन्दर्भित कार्यो को करना होता है।

डॉ0 सुभाष कश्यप के अनुसार ''समिति द्वारा जाँच सामान्य रूप से उपक्रम के मुल्यांकन के स्वरूप की होती है, जिसमें सभी पहलू आ जाते हैं। जैसे- उत्पादन, सामान्य अर्थव्यवस्था में अंशदान, रोजगार के अवसर पैदा करना, सहायक उद्योगों का विकास, उपभोक्ता के हितों का संरक्षण, इत्यादि।''

लोक उपक्रम समिति के उपरोक्त कार्यों एवं कार्यवाहियों को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह समिति बहुत उपयोगी कार्य कर रही है। लोक उपक्रमों के सन्दर्भ में यह लोक लेखा समिति एवं अनुमान समिति के कार्यों को अकेले पूर्ण कर रही है। समिति द्वारा किए गये अध्ययनों के फलस्वरूप ये तथ्य संसद एवं जनता के ध्यान में लाया गया है कि लोक उपक्रमों द्वारा किस प्रकार कार्यालय के भवनों पर, अतिथि गृहों पर, जलपान पर और अधिकारियों के विदेशी दौरों पर भारी धनराशियां व्यय की गयी।

18.3 नियन्त्रक महालेखा परीक्षक

कार्यपालिका अपने समस्त कार्यों के लिए विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होती है। कार्यपालिका दायित्वों का अनुपालन विधान-मण्डल द्वारा तभी करवाया जा सकता है, जब वह उनकी जाँच कर उन पर अपना निर्णय दे सकता हो। कार्यपालिका के सामान्य कृत्यों की जाँच सरलता से की जा सकती है, परन्तु कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जिनकी जाँच सामान्य लोग नहीं कर सकते है। लेखांकन एवं लेखा परीक्षण और कार्यपालिका के वित्तीय लेन-देन का औचित्य अथवा अनौचित्य निर्धारण करना एक तकनीकी कार्य है और इसके लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है। जबकि संसद सामान्य जन द्वारा निर्वाचित होने के कारण जाँच करने की क्षमता तथा योग्यता नहीं रखती, संसद का प्रमुख औचित्य है कि वह सरकार के वित्तीय व्यवहारों का परीक्षण करें कि करदाताओं के धन का सदुपयोग अथवा दुरूपयोग हो रहा है। इस सन्दर्भ में एक वित्तीय विशेषज्ञ की आवश्यकता होती है, इसलिए स्वतन्त्र नियन्त्रक महालेखा परीक्षक का प्रावधान भारतीय संविधान के अन्तर्गत किया गया है। नियन्त्रक महालेखा परीक्षक स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से कार्य करता है, इसकी स्वतन्त्रता और निष्पक्षता को संविधान के विभिन्न प्रावधानों और इस पद की शक्तियों, कर्तव्यों और सेवा शर्तों से सम्बन्धित कानून द्वारा आश्वस्त किया गया है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 148 से 151 तक नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की नियुक्ति तथा कार्यों के संबंध में प्रावधान किए गये हैं। नियन्त्रक महालेखा परीक्षक का पद बहुत ही महत्वपूर्ण है, जिसका प्रमुख दायित्व भारत की संचित निधि में से व्यय किये जाने वाले सभी सार्वजनिक धन-राशियों का लेखा परीक्षण करना है। वैसे भारत में लेखा परीक्षण विभाग की स्थापना सन 1853 में ही हो चुकी थी, किन्तु सन् 1919 के अधिनियम द्वारा इसकी स्वतन्त्र निकाय के रूप में स्थापना की गयी। सन् 1950 के संविधान में महालेखा परीक्षक का नाम बदल कर ''नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक'' रखा गया तथा उसे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों की भाँति एक संवैधानिक अधिकारी बनाया गया।

संसद ने 1953 के अधिनियम और 1971 के अधिनियम द्वारा क्रमशः नियंत्रक एंव महालेखा परीक्षक के कार्यकाल तथा सेवा शर्तो एंव कर्तव्यों तथा अधिकारों को परिभाषित किया है। सन् 1976 के बाद लेखांकन

सम्बन्धी दायित्व से वह मुक्त कर दिया गया है। अब नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक का कार्य लेखा-परीक्षण ही रह गया है। सन् 1984 के अधिनियम द्वारा जहाँ एक तरफ पेंशन सुविधाओं में वृद्धि का लाभ दिया गया है, वहीं उसकी शक्तियों में और वृद्धि कर दी गयी है।

18.3.1 नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की संवैधानिक स्थिति

संविधान में नियन्त्रक महालेखा परीक्षक को एक उच्च स्वतन्त्र वैधानिक अधिकारी माना गया है। संविधान में निहित उसके पद की शपथ में यह कहा गया है कि उसे संविधान और विधि की मर्यादा को बनाये रखना है तथा कर्तव्यों को भय, पक्षपात, प्रेम तथा बुरी भावना के बिना सम्पादित करना है। प्रशासन की वित्तीय एकता के सर्वश्रेष्ठ स्तर को बनाये रखने के उद्देश्य एवं कर देने वालों के हितों की रक्षा तथा विधायी नियन्त्रण के उद्देश्य के लिए भी संविधान में नियत्रंक महालेखा परीक्षक की स्वतन्त्रता व निष्पक्षता को निम्न विधियों से बनाये रखता है-

1. संविधान के अनुच्छेद- 148 के अनुसार भारत के नियत्रंक महालेखा परीक्षक की नियुक्ति अधिपत्र द्वारा राष्ट्रपति मत्री-परिषद की सलाह से अपने ही हाथों एवं मुहर से करेगा। अपने पद पर वह 6 वर्ष तक या 65 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक जो भी पहले हो वह रहता है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की भाँति तथा उसी रीति तथा उन्हीं आधारों पर उसे पदमुक्त किया जा सकता है।
2. संविधान के अनुच्छेद- 148(3) के अनुसार नियंत्रक महालेखा परीक्षक का वेतन तथा सेवा की अन्य शर्तें विधि द्वारा निश्चित होगी तथा नियुक्ति के पश्चात इसमें किसी प्रकार परिर्वतन नहीं किया जा सकता, जिससे उसकी हानि हो।
3. संविधान के अनुच्छेद- 148 (4) के अनुसार नियंत्रक महालेखा परीक्षक अपने पद से सेवानिवृत्ति के बाद भारत सरकार या राज्य सरकार के किसी पद पर कार्य नहीं कर सकता।
4. संविधान के अनुच्छेद- 148(6) के अनुसार उसका वेतन-भत्ते एवं पेशन भारत की संचित निधि से देय होंगे।

18.3.2 नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के कर्तव्य

नियन्त्रक महालेखा परीक्षक प्रथम नियन्त्रक के रूप में यह देखता है कि भारत की संचित निधि से संसद द्वारा बनाये गये कानूनों के अनुसार ही समस्त धनराशि निकाली जाए। दूसरा, समस्त सरकारी धन का व्यय संसद द्वारा पास किये गये कानून एंव नियमों के अनुसार किया जाय। इस सम्बन्ध में उसके कर्तव्य निम्नवत् हैं-

1. संघ, राज्य और राज्य संघ-क्षेत्र की संचित निधि से किये गये व्यय का परीक्षण करना और उन पर प्रतिवेदन देना कि व्यय विधि के अनुसार हैं, या नहीं।
2. संघ और राज्य की आकस्मिक निधि से किये गये व्यय की जाँच और उन पर प्रतिवेदन देना।
3. संघ या राज्य के विभाग द्वारा किये गये सभी व्यापार और विनिर्माण के लाभ-हानि लेखाओं की जाँच और उन पर प्रतिवेदन देना।
4. संघ अथवा राज्य के अनुरोध पर किसी भी सरकारी विभाग की आय की जाँच करना।
5. संघ और राज्य से वित्त-पोषित सभी स्थानीय संस्थाओं, निकायों, प्राधिकारों और सरकारी कम्पनियों, निगमों की प्राप्ति और व्यय की जाँच और उस पर प्रतिवेदन देना।

नियन्त्रक महालेखा परीक्षक संघ तथा राज्य सरकारों के लेखों की जाँच के बाद महालेखाकार द्वारा संघ तथा राज्य सरकार के लिए अलग-अलग जाँच प्रतिवेदन तैयार किये जाते हैं। संघ के लेखाओं से सम्बन्धित प्रतिवेदनों को

राष्ट्रपति के समक्ष और राज्य से सम्बन्धित प्रतिवेदनों को राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत करता है। जिन्हें वे संसद एंव राज्य विधान-मण्डलों में उनके अनुमोदन के बाद प्रस्तुत किया जाता है। संसद में प्रस्तुत प्रतिवेदन के साथ लोकलेखा समिति, नियंत्रक महालेखा परीक्षक की सहायता आगे की जाँच-पड़ताल में लेती है। इसी सन्दर्भ में कहा जाता है कि ''नियन्त्रक महालेखा परीक्षक, लोकलेखा समिति का मित्र, दार्शनिक और मार्गदर्शक होता है।''

18.3.3 नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की पद एंव स्थिति का मूल्यांकन

नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के कार्य एंव दायित्व अतिमहत्वपूर्ण हैं, इसलिए संविधान में उसे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के समान स्थिति और अधिकार दिये गये हैं। संघ के स्तर पर जहाँ वह मात्र लेखा परीक्षण का कार्य देखता है, वहीं राज्यों में वह लेखा परीक्षण के साथ-साथ लेखा का कार्य भी पूर्ण करता है। भारतीय संसदीय प्रजातंत्र का वह एक महत्वपूर्ण स्तम्भ है। संसद द्वारा स्वीकृत धन के सही उपयोग करने की दिशा में वह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। संघ और राज्य सरकारों के लेखों और आय-व्यय की देख-रेख करके, धन का दुरूपयोग, धोखा, लूट एंव हेरा-फेरी के मामलों को संसद एंव विधान-मण्डलों में जानकारी देकर यह सार्वजनिक द्रव्य(धन) का सजग प्रहरी और रखवाले की भूमिका निभाता है। नियन्त्रक महालेखा परीक्षक वित्त मत्रांलय से अलग सार्वजनिक व्यय का नियंत्रण नहीं करता। वह तो उद्देश्यपरक यंत्र प्रदान करता है, जो सार्वजनिक वित्त के नियंत्रण की स्थिति को अनुकूल बनाते हैं। नियन्त्रक महालेखा परीक्षक ने समय-समय पर अनेक महत्वपूर्ण मुद्दों जैसे बोफोर्स घोटाला, ताबूत घोटाला, टू-जी स्पेक्ट्रम आबंटन घोटाला आदि को सामने लाकर जहाँ अपने पद की स्थिति एंव गरिमा का परिचय दिया है, वहीं भारतीय राजनीति में तूफान ला दिया। लेकिन इसके बावजूद यह पद आलोचना की निगाह से बच नहीं सका है।

कतिपय आलोचकों ने उसे जागरूक पहरेदार के स्थान पर ऐसा ''रक्त पिपासु शिकारी कुत्ता'' कह डाला है, जो सरकारी अधिकारियों की टांग पकड़ लेता है, उन्हें आगे बढ़ने नहीं देता और प्रशासन के कार्य में कठिनाइयॉ उत्पन्न करता है। बोफोर्स तोप सौदे के सन्दर्भ में नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट को देखते हुए एन0के0पी0 साल्वे ने तत्कालीन नियन्त्रक महालेखा परीक्षक श्री टी0 एन0 चतुर्वेदी को मसवरा तक दे डाला और महाअभियोग की धमकी दी गयी। लोक प्रशासन के अमरीकी विद्वान पाल एपलवी ने भारत में नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के पद एंव स्थिति तथा भारतीय लेखा परीक्षण पद्धति की आलोचना करते हुए इसे औपनिवेशक शासन की विरासत कहा, उनके अनुसार ''भारत में नियन्त्रक महालेखा परीक्षक को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया, जिसने प्रशासनिक अधिकारियों को कार्य के प्रति निष्क्रिय बना दिया।'' ए0के0 राय के अनुसार ''नियन्त्रक महालेखा परीक्षक न तो अनाधिकार हस्तक्षेप करने वाला दस्तदाज और न ही गन्दी नालियों का निरीक्षक है, किन्तु अपनी लेखा परीक्षण के समय वह गन्दगी अवश्य देखता है, उसका कर्तव्य है कि वह इस तरफ संसद एंव विधान-मण्डल का ध्यान खींचे और उसे यह जाँच सौंप दे।'' उपरोक्त तथ्यों के आधार पर ही कहा जाता है कि भारत में नियन्त्रक महालेखा परीक्षक वित्तीय प्रशासन में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उसे प्रशासन को समझने की निश्चयात्मक रीति से व्यवहार करना चाहिए, इसके कार्यों को और अधिक प्रभावशाली बनाने की आवश्यकता है। तथापि कुछ सुझावों को कार्यन्वित करने से इसके कामकाज को आधुनिक समय की आर्थिक तथा औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित करके इसे प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. लोकलेखा समिति में सदस्यों की संख्या कितनी होती है?

2. लोकलेखा समिति का अध्यक्ष लोक सभा अध्यक्ष द्वारा किस दल से बनाया जाता है?
3. लोकलेखा समिति का मुख्य कार्य सदन में प्रस्तुत किये गये .... के प्रतिवेदन का परीक्षण करना है।

18.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हमें यह जानने और समझाने का अवसर प्राप्त हुआ है कि संसदीय शासन प्रणाली में वित्त पर नियंत्रण करने के लिए किस प्रकार के उपबंध हमारे संविधान निर्माताओं ने दिए हैं, जिसके तहत संसदीय समितियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जिनमें हमने लोक लेखा समिति के संगठन और कार्यों का अध्ययन किया है। जिसमें यह देखा कि इसका न केवल संगठन संसदीय परम्पराओं के अनुरूप किया गया है, वरन यह वित्त पर नियंत्रण रखने वाली महत्वपूर्ण समिति है।

इसके साथ ही साथ हमने अनुमान समिति, विभागीय समितियों और लोक उपक्रम समिति के विभिन्न पक्षों का भी अध्ययन किया है। अन्ततः हमने वित्त पर नियंत्रण रखने वाले प्रमुख पक्ष, नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की संवैधानिक स्थिति और उसके कार्यों का अध्ययन करते हुए उसके पद और स्थिति का मूल्यांकन किया है। जिसमें हमने देखा कि नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के कार्य एंव दायित्व अति महत्वपूर्ण हैं, इसलिए संविधान में उसे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के समान स्थिति और अधिकार दिये गये हैं। संघ के स्तर पर जहाँ वह मात्र लेखा परीक्षण का कार्य देखता है, वहीं राज्यों में वह लेखा परीक्षण के साथ लेखा का कार्य भी पूर्ण करता है।

18.5 शब्दावली

लोकलेखा समिति- नियत्रक महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर संसद जिस समिति द्वारा गहन परीक्षण करती है, उसे लोकलेखा समिति कहते है।

अनुमान समिति- यह संसद द्वारा अनुमोदित विभिन्न मन्त्रालयों/विभागों के अनुमानों का तथा उन अनुमानों की आधारभूत नीति से संबंधित कार्यक्रमों तथा योजना के निष्पादन में आवश्यक रियायत को ध्यान में रखते हुए विस्तृत परिक्षण करती है और अपना सुझाव प्रतिवेदन के रूप में संसद को सौंपती है।

लोक उपक्रम समिति- लोक उपक्रमों की कार्यप्रणाली के अध्ययन हेतु संसदीय नियमों के अन्तर्गत गठित समिति होती है।

कार्यपालिका- प्रशासन का वह तंत्र, वह अभिकरण जो संबंधित नीतियों के निर्माण करवाने और अनुमोदन होने के बाद उनका निष्पादित करता है।

बजट का क्रियान्वयन- वित्त विधेयक तथा विनियोग विधेयक के पारित होते ही राजस्व वसूली तथा अधिकृत मदों पर व्यय के लिए सरकार को वैधानिक अधिकार मिल जाता है। वित्त मंत्रालय का राजस्व विभाग राजस्व वसूली के लिए उत्तरदायी होता है। जिसके दो उप-विभाग हैं- केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड और केन्द्रीय उत्पाद और सीमा शुल्क बोर्ड।

सरप्लस बजट- ऐसा बजट, जिसमें सरकार की आय उसके व्यय से अधिक होती है।

पूँजी बजट- पूँजी बजट के अन्तर्गत पूँजी प्राप्ति और पूँजी भुगतान का विवरण होता है।

भारत का संचित कोष- सरकार की सम्पूर्ण राजस्व आय, ऋण प्राप्ति तथा उसके द्वारा दिये गये ऋण की अदाएगी से प्राप्त आय को संचित निधि कहते हैं। सरकार के समस्त व्यय इसी कोष से संसद की अनुमति से किया जाता है।

आयोजन व्यय- ऐसे व्यय जिनकी व्यवस्था केन्द्रीय योजना में रहती है, आयोजन व्यय कहलाता है।

आकस्मिकता निधि- भारतीय संविधान के प्रावधानों के अन्तर्गत एक ऐसी निधि का गठन सरकार करती है, जिसका उपयोग आकस्मिक घटनाओं का सामना करने के लिए किया जाता है और इस निधि से राष्ट्रपति की अनुमति से अग्रिम निकाले जा सकते है।

गैर-योजना व्यय- इसमें सरकार के उन सभी खर्चों को शामिल किया जाता है, जो योजना के अन्तर्गत नहीं आते। इसमें ब्याज, पेन्शन, राज्यों को वैधानिक अन्तरण, रक्षा, आन्तरिक सुरक्षा और विदेशों से सम्बन्ध सन्दर्भित व्यय है।

गैर-कर राजस्व- सरकार की ब्याज प्राप्ति, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि सेवाओं के प्रशासनिक प्राप्तियाँ गैर-कर राजस्व के अन्तर्गत आती है।

18.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 22, **2.** विरोधी दल, **3.** नियन्त्रक महालेखा परीक्षक

18.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सुन्दरम, के0पी0, (1990), भारतीय लोक वित्त एवं वित्तीय प्रशासन, सुल्तान चन्द एण्ड संस, नई दिल्ली।
2. कौर, इन्द्रजीत, (2000), लोक प्रशासन, एस बी पीडी पब्लिशिंग हाउस, आगरा।
3. अवस्थी, ए0 पी0, (2000), वित्त प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
4. लाल, एस0 एन0, (2010), भारतीय अर्थव्यवस्था, शिवम पब्लिशर्स, इलाहाबाद।
5. दुबे, रमेश, शर्मा, हरिश्चन्द्र, (1998), भारत में लोक प्रशासन, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।

18.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भार्गव, आर0 एन0, (1980), भारतीय लोक वित्त , बी0 डी0 भार्गव एंड सन्स, चंदौसी।
2. लाल, जी0 एस0, (1982), भारत में लोक वित्त तथा वित्तीय प्रशासन, एच0 पी0 कपूर, नई दिल्ली।
3. थावराज, एम0जे0के0, (1982), भारत का वित्तीय प्रशासन, सुल्तान चन्द एण्ड संस, नई दिल्ली।
4. शर्मा, के0 के0, (2000), फाइनेन्सियल एड मिनिस्ट्रेशन इन गर्वनमेन्ट, विकास पब्लिशिंग हाउस।

18.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. वित्त पर नियत्रंण में वित्तीय समितियों की भूमिका की विवेचना कीजिए।
2. अनुमान समिति के प्रमुख कार्यों एवं भूमिका को बताइए।
3. लोक उपक्रम समिति की कार्यप्रणाली का मूल्याकंन कीजिए।

इकाई- 19 लेखांकन और लेखा परीक्षण

इकाई की संरचना

19.0 प्रस्तावना

19.1 उद्देश्य

19.2 लेखांकन

19.2.1 लेखांकन का अर्थ और परिभाषा

19.2.2 लेखांकन के तत्व एवं लेखा पद्धतियाँ

19.2.2.1 नकद लेखा पद्धति

19.2.2.2 सम्भूत(Accrual) लेखा पद्धति

19.2.2.3 लागत लेखा पद्धति

19.2.3 भारतीय लोक लेखा व्यवस्था एवं लेखा पद्धति के चरण

19.3 लेखा परीक्षण

19.3.1 लेखा परीक्षण का अर्थ एवं महत्व

19.3.2 लेखा परीक्षक की विधियाँ एवं लेखा परीक्षण प्रक्रिया

19.3.2.1 वित्तीय लेखा परीक्षण

19.3.2.2 नियमितता लेखा परीक्षण

19.3.2.3 राजस्व आय वसूली लेखा परीक्षण

19.3.2.3 निष्पादन लेखा परीक्षण

19.3.3 लेखा परीक्षण का आलोचनात्मक मूल्यांकन

19.4 लेखांकन एवं लेखा परीक्षण का पृथक्करण

19.4.1 लेखांकन एवं लेखा परीक्षण के पक्ष में तर्क

19.4.2 लेखांकन एवं लेखा परीक्षण के विपक्ष में तर्क

19.5 सांराश

19.6 शब्दावली

19.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

19.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

19.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

19.10 निबंधात्मक प्रश्न

19.0 प्रस्तावना

प्रशासन में वित्तीय क्षेत्र के अध्ययन के लिए मुख्यतया सार्वजनिक कोषों के एकत्रीकरण और उन्हें सही तरीके से खर्च करने संबंधी प्रशासनिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है। सार्वजनिक धन को सही तौर पर खर्च किये जाने की जानकारी देश की जनता को और चुने हुए प्रतिनिधियों को नियमित तौर पर प्राप्त होनी आवश्यक है, जिसके लिए सरकार लोक लेखा की व्यवस्था करती है। साथ ही यह बात भी महत्वपूर्ण है कि सार्वजनिक कोषों में

से जो भी धनराशि खर्च की जाये वह कुछ सिद्धान्तों के अनुरूप हो ताकि धन का दुरूपयोग ना हो और प्रशासन में भ्रष्टाचार ना पनपे। अस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बिना लेखांकन के वित्तीय नियंत्रण की व्यवस्था अप्रभावी बनी रहती है, क्योंकि लेखों के अभाव में यह जानना कठिन होता है कि सरकारी कोषों में कितनी धनराशि एकत्र हुई, कितनी खर्च की गयी तथा किन-किन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसे खर्च किया गया? अत: लेख स्थाई दस्तावेज होते हैं। सरकारी लेखों का सवरूप वयवसायिक लेखों से भिन्न होता है, क्योंकि दोनों के आधारभूत उद्देश्य एक नहीं होते। लोक प्रशासन में लेखांकन का रखरखाव और उसका लेखा परीक्षण(Auditing) एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। कितना धन कहाँ और कैसे खर्च किया इसकी जानकारी आम जनता और जन प्रतिनिधियों को होनी आवश्यक है।

19.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लेखांकन क्या है, इस बारे में जान सकेंगे।
- लेखांकन के तत्व एवं लेखा पद्धतियों का वर्णन कर सकेंगे।
- लेखांकन से होने वाले लाभ एवं हानि और प्रशासन में इसकी उपयोगिता को समझ पायेंगे।
- भारतीय लोकलेखा व्यवस्था को जान सकेंगे।
- लेखा परीक्षण क्या है, इसे जान पायेंगे एवं लेखा परीक्षण प्रक्रिया का वर्णन कर सकेंगे।
- लेखांकन एवं लेखा परीक्षण में अन्तर, उसके लाभ-हानि और प्रशासन में इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में जान पायेंगे।

19.2 लेखांकन

किसी देश के कुशल और सुदृढ़ वित्तीय प्रशासन के लिए तथा सार्वजनिक धन के दुरूपयोग को दूर करने हेतु लेखांकन का होना अनिवार्य है, क्योंकि इसी आधार पर वह उनका लेखा परीक्षण करता है। वित्तीय प्रशासन के अध्ययन-क्षेत्र में सार्वजनिक कोषों के एकत्रीकरण से लेकर उन्हें सुनिश्चित नीतियों के अन्तर्गत व्यय करने सम्बन्धी प्रशासनिक क्रियाओं को शामिल किया जाता है। लोक व्यय को सुनिश्चित नीतियों के अन्तर्गत व्यय करने की जानकारी जनता को तथा उनके चुने प्रतिनिधियों को नियमित रूप से प्राप्त होते रहना जरूरी है। इसी कारण हर देश की सरकार को लोक लेखा की व्यवस्था करनी पड़ती है और साथ ही इस बात का ध्यान रखा जाता है कि लोक कोषों में जो भी धनराशि खर्च की जाए, वह कुछ मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप हो, ताकि काषों का दुरूपयोग न हो। लेखा एक कार्यकारी प्रकृति कार्य है, जो कि कार्यपालिका के द्वारा रखा जाता है।

19.2.1 लेखांकन का अर्थ और परिभाषा

लेखांकन का अभिप्राय है, सभी प्रकार के वित्तीय लेन-देन का सुव्यवस्थित एवं लिखित रूप से हिसाब रखना तथा यह देखना कि लोक धन का उपयोग संसद या विधान-मण्डल द्वारा स्वीकृत बजट के अनुसार हुआ है या नहीं। प्रो0 के0 एस0 लाल के शब्दों में “पूर्णतया एवं आंशिक रूप से वित्तीय प्रकृति के लेन-देन अथवा सौदों का वित्त के आधार पर विवरण रखना, वर्गीकरण करना और संक्षेपीकरण करना तथा उनके परिणामों की व्याख्या करना ही लेखांकन है।”

प्रो0 एम0 पी0 शर्मा के अनुसार ''वित्तीय लेन-देन की नियमित लिखित सूची या प्रपत्र को ही लेखा कहते हैं, चाहे ये लेन-देन सरकारी हो अथवा निजी।''

इस प्रकार सार रूप में कहें तो लेखांकन में वित्तीय प्रकृति के लेन-देन का संग्रहण, अभिलेखन, वर्गीकरण तथा संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया को अपनाया जाता है, जिससे कोषों पर लेन-देन करने वाले लोगों की विश्वसनीयता सुनिश्चित हो सके। नीति-निमार्ण तथा प्रशासनिक उद्देश्यों से वित्तीय हालातों तथा परिचालन से सम्बन्धित सूचनाऐं प्रदान हो सके, जिसके आधार पर बजटीय प्रावधानों के अनुरूप व्यय की सीमाऐं निर्धारित की जा सकें।

लेखांकन की आवश्यकता निम्नांकित कारणों से है-

1. बजट निर्माण की प्रक्रिया को सुनिश्चित करने हेतु एक व्यवस्थित लेखा का होना जरूरी है।
2. लेखांकन के द्वारा प्राप्त आंकड़ों व सूचनाओं के आधार पर देश के लिए नीतियों का निर्धारण करना सरल हो जाता है, साथ ही उनका क्रियान्वयन आसान हो जाता है।
3. राष्ट्र के वित्तीय मानचित्र का वर्णन संकलित आँकड़ों द्वारा होता है, जिसकी स्पष्ट जानकारी लोक लेखे के द्वारा ही प्राप्त होती है।
4. लेखांकन के द्वारा उत्तरादायित्वों का निष्पादन सरल हो जाता है और इस बात की जानकारी आसान हो जाती है कि किस कार्य के लिए कौन अधिकारी उत्तरदायी है?
5. लेखांकन के द्वारा प्राप्त आँकड़ों के आधार पर विभिन्न प्रकार की नीतियों, कार्यक्रमों और परियोजनाओं का मूल्यांकन सरलता से किया जाता है।
6. लेखांकन इस बात की जानकारी उपलब्ध करता है कि सार्वजनिक धन का उपयोग संसद विधान-मण्डल द्वारा स्वीकृत प्रावधान के अनुसार हुआ कि नहीं। इस सन्दर्भ में बजट में जो प्रावधान हुआ उसका उल्लंघन तो नहीं किया गया।
7. लेखांकन सरकार के आन्तरिक नियंत्रण का प्रमुख साधन है, जिसके माध्यम से सरकार अपने व्यय का अपनी सीमा के अन्दर स्वतः समायोजन करती है।

19.2.2 लेखांकन के तत्व एवं लेखा पद्धतियाँ

लेखा अभिकरण का प्रमुख कर्तव्य होता है कि लोक लेखों में बजट प्रावधानों के अनुरूप खर्च की जानकारी तथा वित्त विधेयक के प्रावधानों के अनुसार आय एकत्रीकरण की प्रक्रिया की जानकारी उपलब्ध होनी चाहिए। इसलिए लोक लेखों को उन्हीं शीर्षों तथा उप-शीर्षों में तैयार किया जाता है, जो बजट में शामिल किए जाते हैं। लोक-लेखों का प्रारूप नियन्त्रक महालेखा परीक्षक द्वारा स्वीकृत प्रारूप के अनुरूप होता है। लोक लोखों में समाज के अलग-अलग वर्गों की भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से रूचि बनी रहती है। अतः एक अच्छे सशक्त लोक लेखांकन में निम्नांकित आवश्यक तत्व या विशेषताऐं होनी चाहिए-

1. लेखों की केन्द्रीकृत प्रणाली होनी चाहिए और सभी प्रकार के वित्तीय लेखों को तैयार करने और उनका पर्यवेक्षण करने का अन्तिम उत्तरदायित्व किसी एक व्यक्ति या संस्था के पास होना चाहिए, ताकि ठीक समय पर लेखा को तैयार होना सुनिश्चित रहे।
2. सरकारी कोषों को वर्गीकृत रूप में दिखाया जाना चाहिए। इसमें पूँजीगत लेखा तथा राजस्व लेखा, आर्थिक लेखा तथा कार्यात्मक लेखा आदि को आवश्यकतानुसार निरूपित किया जाना चाहिए, ताकि अर्थव्यवस्था की स्थिति के बारे में वास्तविक जानकारी विभिन्न आयामों से प्राप्त की जा सके।

3. लेखांकन कार्य दोहरा लेखा प्रणाली पर आधारित होना चाहिए, ताकि त्रुटि की सम्भावना को टाला जा सके और जान कर की कई त्रुटियों को प्रकाश में लाया जा सके।
4. लोक लेखों की तैयारी बजट नियन्त्रण के उपागमों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। इसमें सरकारी प्राप्तियों, ऋणों, विनियोजनों से सम्बन्धित प्रविष्ट्रियाँ व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत की जानी चाहिए।
5. निष्पादन बजट प्रणाली की आवश्यकताओं को देखते हुए सरकारी व्यय को कार्यक्रमों, उद्देश्यों तथा कार्यों के आधार पर विभक्त करके प्रस्तुत किया जाना चाहिए।
6. सभी गैर-राजस्व वाली मदों को राजस्व मदों से बाहर रखना चाहिए। राजस्वों के स्रोत तथा निधि के माध्यम से वर्गीकृत करना चाहिए और ऐसा मानकीकृत वर्गीकरण के अनुसार होना चाहिए।
7. लेखांकन नियमित एवं वार्षिक आधार पर होना चाहिए।

उपरोक्त बातों के ध्यान में रखकर तैयार किए जाने वाले लेखांकन मात्र राजनीतिक आवश्यकताओं के प्रतीक मात्र नहीं होते, बल्कि इनकी कार्यात्मक उपयोगिता होती है और ये सरकार के सभी विभागों की वित्तीय तस्वीर स्पष्ट करते हैं।

लोक लेखों को लेखा पद्धतियों के आधार पर निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है-

19.2.2.1 नगद लेखा पद्धति

इस पद्धति में लेखा आय-व्यय का विवरण तब ही लिखा जाता है, जब नकदी प्राप्त हुई हो अथवा दी गयी हो। यह लेखा पद्धति लागत अधारित बजट व्यवस्था के अनुरूप है, क्योंकि इससे किसी वित्तीय वर्ष के सन्दर्भ में ही वास्तविक सेवा लागतों का आकलन करना सम्भव होता है। इस पद्धति की सबसे बड़ी कमी यह है कि सरकार की आर्थिक स्थिति के बारे में सिर्फ उतनी ही जानकारी देती है, जितना कि एक व्यक्ति का बैंक कोष उसकी क्षमता का प्रतिबम्ब करता है।

19.2.2.2 सम्भूत(Accrual) लेखा पद्धति

सम्भूत या कमाई गई लेखा पद्धति लागत आधारित बजट व्यवस्था के अनुरूप है, क्योंकि इससे किसी वित्तीय वर्ष के सन्दर्भ में ही वास्तविक सेवा लागतों का आकलन करना सम्भव हो पाता है। लेकिन सरलता की दृष्टि से नगद लेखा पद्धति अधिक उपयोगी है,क्यों कि इसके द्वारा लोगों को आवश्यक जानकारियां देने में काई परेशानी नहीं आती।

19.2.2.3 लागत लेखा पद्धति

यह लेखा की वह पद्धति है, जिसमें लागतों को विभिन्न गतिविधियों में विभागानुसार आबंटित किया जाता है। सरकार के विविध क्रियाकलापों को चलाने एवं उन्हें चालू हालत में रखने की लागतों का पता देती है। यह सरकार के उत्पादक अंगों के सन्दर्भ में अधिक उपयोगी होती है। भारत में केन्द्र और राज्य सरकारों के लेखा उन्हीं शीर्षकों और उप-शीर्षकों के अन्तर्गत रखे जाते हैं, जिसके अन्तर्गत बजट के विविध मद सरकारी लेखा को प्राप्तियों एवं परिव्यय के आधार पर बनाया जाता है। इस प्रकार इस पद्धति का प्रयोग, बजट प्रावधानों में समाहित व्यावसायिक आधार पर सरकार द्वारा संचालित व्यक्तिगत इकाईयों की उपादेयता की जाँच तक ही सीमित रहता है। परन्तु सरकार द्वारा लेखे ऐसे तैयार कराए जाते हैं कि वह देखने में स्पष्ट हो तथा समझने में सरल हो। इस रूप में यह तीन प्रकार के होते हैं-

1. **नियन्त्रण लेखे-** यह लेखे प्रशासनिक अधिकारियों की विश्वसनीयता की जाँच के लिए तैयार होते हैं। जो सार्वजनिक राजस्व के एकीकरण व सुरक्षित भण्डारण का कार्यकरते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा राजस्व लेखे, विनियोजन लेखे तथा निधि लेखे तैयार करवाये जातेहैं। राजस्व लेखे में आय की विभिन्न मदों को दिखाते हैं। विनियोजन लेखे में सरकारी व्यय को शीर्षों तथा उप-शीर्षों में दिखाते हैं। जबकि निधि लेखे में सामान्य निधि, विशिष्ट राजस्व तथा व्यय कोष, ऋण निधि, स्थायी अनुदान निधि, परिवर्तनीय निधि, लोक न्याय निधि और अस्थायी निधि शीर्षों के अन्तर्गत सूचनाऐं एकत्रित की जाती हैं।
2. **प्रशासनिक आन्तरित सुविधा लेखे-** इन्हें प्रोप्राइटरी(मालिकाना) लेखे(Proprietary Accounts) कहते हैं, जो सरकार की सुविधा के लिए उसकी आमद तथा व्यय की सतत जानकारी को प्राप्त करने के लिए तैयार होते हैं।
3. **विस्तृत पूरक लेखे-** आम जनता को सरकार के दायित्वों तथा परिसम्पतियों एवं आय-व्यय की नियमित एवं स्पष्ट जानकारी देने हेतु पूरक रूप में सरकार द्वारा यह लेखे प्रतिवर्ष या दो वर्ष के अन्तराल पर जारी किये जाते हैं।

19.3.2 भारतीय लोक लेखा व्यवस्था एवं लेखा पद्धति के चरण

भारत, राज्यों का संघ होने के कारण राज्य एवं संघ दोनों स्तरों पर लोक लेखों की प्रबन्ध व्यवस्था का संवैधानिक प्रावधान किया गया है। यहाँ कार्यपालिका को लेखांकन कार्य से अलग रख कर नियन्त्रक महालेखा परीक्षक को एक स्वतन्त्र संवैधानिक इकाई के रूप में इस कार्य की जिम्मेदारी सौंपी गयी है। प्रत्येक राज्य में नियुक्त महालेखाकार लेखों को तैयार करने में नियत्रंक महालेखा परीक्षक को सहायता प्रदान करते हैं। जहाँ केन्द्र एवं राज्य दानों सरकारों के आय-व्यय का हिसाब रखा जाता है। केवल रेलवे के लेखों का प्रबन्ध इसका वित्त आयुक्त एवं रक्षा मंत्रालय के लेखों का कार्य सेना के महालेखाकार या वित मन्त्रालय द्वारा प्रतिनियुक्त वित्तीय सलाहकार द्वारा सम्पादित किया जाता है।

नियंत्रक महालेखा परीक्षक भारत के राजस्व और पूँजी खाते को राष्ट्रपति के निर्देशानुसार तैयार करता है। वह सरकार के किसी भी अधिकारी से इन खातों को तैयार करने में जरूरी किसी सूचना के लिए जानकारी ले सकता है। महालेखा परीक्षक को यह पूर्ण अधिकार है कि वह लेखा परीक्षक कार्यालय में रखे जाने वाले खातों के रूप के सन्दर्भ में निर्देश जारी करे। लेकिन इसके बारे में राष्ट्रपति की मंजूरी आवश्यक है, जो पूँजी और राजस्व खाते के रूप को प्रभावित करें। यदि किसी बड़े मद के अन्तर्गत किसी छोटे मद को शामिल किये जाने के विषय में कोई विवाद अथवा शंका उठती है, तो नियत्रंक महालेखा परीक्षक का निर्णय अन्तिम होगा। महालेखा परीक्षक का यह अधिकार होता है कि वह उस रूप को निर्धारित करे, जिसके अनुसार लेखा-परीक्षा विभाग के समक्ष खाता प्रस्तुत करने वाले अधिकारी अपना कार्य सम्पादित करे। महालेखा परीक्षक को इस कार्य के सम्पादन हेतु अपने अधिनस्थ ऐसे अधिकारियों की व्यवस्था करनी पड़ती है, जो सरकार अथवा राष्ट्रपति को अपेक्षित जानकारी दे सकें और इन सूचनाओं की प्रकृति ऐसी होनी चाहिए कि महालेखा परीक्षक के नियत्रंण के अन्तर्गत रखे गये खातों में से उन्हें प्राप्त किया जा सके।

भारत में प्रारम्भिक लेखा का कार्य जिला स्तर पर स्थापित राज्य कोष द्वारा किया जाता है, जहाँ विजिय लेन-देन का प्रारम्भिक कार्य होता है। जिला राजकोष द्वारा प्रत्येक माह में दो बार अपने प्राप्तियों तथा भुगतान के लेखे

प्रमाणकों के साथ महालेखाकार के दफ्तर में पहुँचाये जाते हैं। भारत में लेखा पद्धति की प्रक्रिया निम्न चरणों में होती है-

- जिला राजकोष में वित्तीय लेन-देन का लेखा,
- महालेखाकार कार्यालय में लेखा एवं वर्गीकृत करना,
- अंकेक्षकों द्वारा लेखों का अंकेक्षण,
- महालेखा परीक्षक द्वारा वार्षिक आधार पर लेखों को तैयार करना,
- लेखों को अंकेक्षण प्रतिवेदन के साथ राष्ट्रपति/राज्यपाल को सौंपना,
- राष्ट्रपति/राज्यपाल द्वारा बजट अधिवेशन के समय प्रस्तुत करवाना,

महालेखाकार के कार्यालय में राज्य के विभिन्न राजकोषों, भारतीय रिजर्व बैंक की तथा स्टेट बैंक अथवा उनकी शाखाओं से प्राप्त लेखों का संकलन तथा वर्गीकरण किया जाता है। सभी प्रकार की आमदनियों तथा भुगतानों को निम्नांकित चार शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है- 1. राजस्व लेखे, 2. पूँजी लेखे, 3. ऋण लेखे और 4. अवशिष्ट लेखे।

ये सूचना प्रति माह पूर्व माह के सन्दर्भ में तैयार कर ली जाती है। ससंद द्वारा स्वीकृत विनियोजन तथा वित्त विधेयक के मदों के अनुकुल अन्तिम रूप से लोक लेखे तैयार हो, इस परिप्रेक्ष्य में लेखा तैयार करते समय सम्बन्धित प्राप्तियों तथा व्ययों को मुख्य शीर्षों, सूक्ष्म शीर्षों तथा उप-शीर्षों में विभाजित करके दिखाते हैं। राजस्व मदों को रोमन लिपि I, II, III, IV आदि में तथा व्यय मदों को अरबी लिपि 1, 2, 3, 4 आदि में दर्शाया जाता है। वार्षिक आधार पर महालेखाकार लेखा एकीकरण करता है और एकीकरण के बाद महालेखाकार द्वारा लेखों को नियंत्रक महालेखा परीक्षक के समक्ष प्रस्तुत करता है, जहाँ नियंत्रक महालेखा परीक्षक लेखा लेखाधिकारियों की सहायता से इसका परीक्षण करता है जो लेखा को तीन शीर्षकों- 1. विनियोजन, 2. वित्त लेखे तथा 3. सम्मिलित वित्तीय लेखा के अन्तर्गत तैयार करवाता है।

नियंत्रक महालेखा परीक्षक, लेखा का परीक्षण करके अपने प्रतिवेदन तैयार करता है और राष्ट्रपति/राज्यपाल को प्रत्येक वर्ष के जनवरी-फरवरी माह में पेश करता है। राष्ट्रपति/राज्यपाल इसे बजट अधिवेशन के दौरान संसद और विधान सभाओं में प्रस्तुत करने के वैधानिक दायित्व का निर्वाह करते है।

अभ्यास प्रश्न- 1

1. नकद लेखा पद्धति क्या है?
2. लोकलेखा की प्रमुख विशेषताओं को समझाइए।
3. नियंत्रक महालेखा परीक्षक किन शीर्षकों के अन्तर्गत लेखा तैयार करता है?

19.3 लेखा परीक्षण

ब्रिटेन ही ऐसा सर्वप्रथम देश था, जिसने सार्वजनिक लेखाओं के लेखा-परीक्षण की विधि का विकास किया था। यह लोक वित्त पर संसदीय नियन्त्रण का अपरिहार्य अंग है।

19.3.1 लेखा परीक्षण अर्थ एवं महत्व

लेन-देन के पूर्ण होने के पश्चात लेखाओं की जाँच तथा परीक्षण ही लेखा परीक्षण कहलाता है। इस जाँच का उद्देश्य किसी भी अनाधिकृत, अवैध या अनियमित व्ययों, दोषपूर्ण वित्तीय कार्य विधियों की खोज तथा विधान-मण्डल को तत्सम्बन्धी सूचना देना एवं पता लगाना होता है, कि प्रशासन ने अपने उत्तरदायित्व को सच्चाई के साथ पूरा किया है या नहीं। लेखा परीक्षण अधिकारी कार्यपालिका से स्वतन्त्र, परन्तु व्यवस्थापिका के अभिकर्ता के रूप में कार्य करता है। इसका कार्य एक जासूस के समान सम्पन्न किये गये वित्तीय लेन-देन एवं यह खोजना है कि कहाँ तक प्रशासन ने अपने उत्तरदायित्व को निष्ठा और सच्चाई के साथ परिपूर्ण किया है।

लेखा परीक्षण, लेखा प्रतिवेदन की ऐसी जाँच-पड़ताल है, जो यह सुनिश्चित करने के लिए की जाती है कि प्रतिवेदन पूर्णतया एवं सत्य रूप से उन सभी सौदों को प्रतिबिंबित करता है, जिससे वह सम्बन्धित है। इसका मुख्य उद्देश्य यह जाँचना होता है कि किए गये व्यय के लिए सम्बन्धित अधिकारी से स्वीकृति ले ली गयी है या नहीं और धन उन्हीं कार्यों पर व्यय किया गया या नहीं, जिस सन्दर्भ में स्वीकृति प्रदान की गयी थी। इसी परिप्रेक्ष्य में लेखा परीक्षण को लोकतन्त्र का पाँचवा स्तम्भ कहा जाने लगा है। ये सतम्भ हैं- कार्यपालिका, न्यायपालिका, व्यवस्थापिका, प्रेस, तथा लेखा परीक्षण। पहला स्तम्भ कार्यपालिका, लोकतन्त्र का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है, जो जनता द्वारा चुने प्रतिनिधियों द्वारा गठित होती है। वहीं व्यवस्थापिका (संसद) में सभी प्रकार के कानूनों को बनाती है और प्रशासन चलाने के लिए राजस्व के एकत्रीकरण एवं विनियोजन के नियम स्वीकृत करती है। व्यवस्थापिका इसके एकत्रीकरण एवं विनियोजन को मूर्त रूप प्रदान करती है। न्यायपलिका और प्रेस एक स्वस्थ्य लोकतंत्र के संचालन के लिए आवश्यक है। लेखा परीक्षण संसद की वरिष्ठता को सुनिश्चित करता है कि निर्धारित राशि का व्यय उन्हीं उद्देश्यों एवं उसी अधिकारी की सहमति से व्यय करें, जिसकी सहमति एवं उद्देश्य के लिए संसद ने स्वीकृति दी है। लेखा परीक्षण, प्रशासन को मूल्य प्रदान करता है। सभी देशों में लेखा परीक्षण को एक आवश्यक बुराई न मानकर एक अच्छे साथी के रूप में कार्यविधि विषयक एवं तकनीकी अनियमिताओं तथा व्यक्तियों के दोषों को सामने लाता है, चाहे वे मूल्यांकन से जुड़ी त्रुटियाँ हों या असावधानियाँ अथवा कपट के इरादे से किए गये कार्य। अन्तिम विश्लेषण के रूप में कहें तो लेखा-परीक्षण की निम्न महत्ता सार्वभौमिक है-

- इसके द्वारा यह पता लगाया जाता है कि व्यय निर्धारण सीमा से अधिक तो नहीं हुआ है।
- धन का व्यय नियमानुसार हुआ है या नहीं।
- धनराशि के व्यय करने के पूर्व समस्त कानूनी एवं वित्तीय नियमों का पालन किया गया है या नहीं।
- धन के व्यय करने के प्रावधान को ध्यान रखना चाहिए।
- इसका उदेश्य फिजूलखर्ची एवं अपव्यय को रोकना तथा नियंत्रित करना है।

19.3.2 लेखा परीक्षक की विधियाँ एवं लेखा परीक्षण प्रक्रिया

लोक लेखों की सत्यता तथा राजकीय लेन-देनों की वैधानिकता की जाँच के लिए लेखा परीक्षण की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रक्रिया से यह जानकारी प्राप्त की जाती है कि क्या लोक व्यय स्थापित विधियों तथा नियन्त्रक के अनुरूप हुआ है, व्यवस्थापिका द्वारा पारित विनियोजक विधेयक के अनुसार किया है। इस हेतु आवश्यक प्रशासनिक स्वीकृति ली गयी और वित्तीय विवेक की मान्य धारणाओं का अनुपालप हुआ है। इस व्यापक कार्य को पूरा करने में अलग-अलग मंत्रालयों में स्थित लेखा अधिकारी तथा अलग-अलग राज्यों में कार्य कर रहे मुख्य

लेख अधिकारी नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की सहायता करते हैं। इस हेतु उपयोगी विभिन्न लेखा परीक्षण की विधियाँ निम्न है-

19.3.2.1 वित्तीय लेखा परीक्षण

वित्तीय लेखा परीक्षण वह लेखा परीक्षण है, जिसमें भारतीय लेखा परीक्षण एवं लेखा कार्य विभाग यह सुनिश्चित करता है कि प्रशासनिक कार्य केवल निर्धारित कानूनों, वित्तीय नियमों एवं प्रक्रियाओं के अनुरूप ही नहीं हों, बल्कि विधि सम्मत हों और कोई अपव्यय न हो। जब किसी प्रशासनिक कार्य का परिणाम क्षय, अपव्यय अथवा अनुचित व्यय होता है, तो लेखा परीक्षक का यह कर्तव्य होता है कि इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान दे तथा संसद के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत करे। जैसे किसी सिंचाई परियोजना में लेखा परीक्षण का वास्तविक निर्माण के प्रशासनिक ढ़ाँचे से कोई सम्बन्ध नहीं होता और ना ही इसके क्षेत्र से गुजरने से जो प्रशासनिक मामले हैं, लेखा परीक्षक प्रशासनिक तथ्यों की जाँच नहीं करता। वह देखता है कि परियोजना का रेखांकन अपर्याप्त आँकड़ों के आधार पर किया गया, जिसके कारण परियोजना में परिर्वतन करने पड़े और अतिरिक्त व्यय करना पड़ा तथा वित्तीय परिणाम आशा के अनुरूप नहीं मिला। लेखा परीक्षक गलत रेखांकन के कारण राजस्व क्षय को संसद के सम्मुख ला कर करदाताओं के हितों की रक्षा करता है। गम्भीर वित्तीय अनियमित और निर्धारित कानून एवं वित्तीय व्यवस्था तथा नियमों के अनुरूप कार्य पूर्ण न होने पर लेखा परीक्षक हस्तक्षेप करता है। इस लेखा परीक्षण में परम्परागत वित्तीय नियमों के व्यापक सिद्धान्तों का लेखा परीक्षण भी शामिल है।

19.3.1.2 नियमितता लेखा परीक्षण

नियमितता लेखा परीक्षण का मुख्य ध्येय यह सुनिश्चित करना है कि सभी व्यय संविधान में दिए गये प्रसंगोचित प्रशानिक वित्तीय बजट सम्बन्धी एवं लेखा पद्धति सम्बन्धी व्यवस्थाओं एवं नियमों तथा संसद द्वारा बनाऐ गऐ कानूनों के अनुरूप हैं। नियमितता लेखा परीक्षण यह सुनिश्चित करता है कि लोक व्यय के लिए निधि का प्रावधान है, जो सन्दर्भित अधिकारी द्वारा अधिकृत है। लोक व्यय विधिक प्रावधानों द्वारा व्यय के लिए अधिकृत अधिकारी के अनुमति से किया गया। इस सन्दर्भ में भुगतान की माँग नियमों के अनुसार तथा उचित रूप में की गयी है। लोक व्यय हेतु आवश्यक सभी प्रारम्भिक आवश्यकता अनुमान, स्वीकृति आदि को पूरा करके ही व्यय किया गया। व्यय जिस अवधि में व्यय के लिए स्वीकृति प्राप्त हो, उसके पश्चात बिना नई स्वीकृति के न किया जाए। भुगतान करने वाले अधिकारी को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए की इस सन्दर्भ में नियमों का पालन किया जा रहा है। भुगतान की प्रमाणिकता को देखना चाहिए। दोहरापन न हो ऐसी व्यवस्था बने। समस्त भुगतानों का मूल लेख पत्र सही-सही नामांकित होना चाहिए। समस्त व्यय उन्हीं कार्यो में हो, जिसके लिए निर्धारित है एवं व्यय विनियोजित धनराशि से अधिक न हो। इस प्रकार लोक व्यय का नियमितता लेखा परीक्षण का एक अर्द्धन्यायिक प्रकृति का कार्य है, जो लेखा परीक्षण अधिकारी द्वारा किया जाता है। इसमें नियमों, आदेशों तथा संविधान की व्याख्या करना सम्मिलित है।

19.3.2.3 राजस्व आय वसूली लेखा परीक्षण

राजस्व आय वसूली लेखा परीक्षण, केन्द्रीय एवं राज्य स्तर पर आगम (उत्पाद कर, निगम कर, आय कर, बिक्री कर आदि) की वसूली के लिए होता है। इस लेखा परीक्षण में लेखा परीक्षक का कार्य यह सुनिश्चि करता है कि इन आगमों की वसूली के लिए पर्याप्त नियमों एवं प्रक्रियाओं का गठन कर लिया गया है तथा राजस्व विभाग उनका

पालन कर रहा है। यह कार्य कर निर्धारण, कर वसूली तथा राजस्व के आबंटन पर प्रभावशाली नियंत्रक रखने के लिए आवश्यक है।

19.3.2.4 निष्पादन लेखा परीक्षण

किसी भी व्यय के सन्दर्भ में लेखा परीक्षण की पूर्णतया, बिना उसके निष्पादन के मुल्यांकन के अपर्याप्त है। स्वतंत्रता के बाद सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से विकास एवं सामाजिक उन्नति के लिए भारी पूँजी निवेश किया है। जिसका लाभ आशा के अनुरूप है या नहीं, यह जनता को जानने का अधिकार है। इसी परिप्रेक्ष्य में निष्पादन बजट की व्यवस्था आरम्भ की गयी। तद्अनुरूप पिछले कुछ समय से व्यय को वास्तविक परिणामों से जोड़ने की आवश्यकता ने सरकार को लेखा परीक्षण के कार्यों के बारे में पुनः सोचने पर बाध्य किया है कि नियमितता लेखा परीक्षण, वित्तीय लेखा परीक्षण एवं आय लेखा परीक्षण व्यय पर संसदीय नियंत्रण के लिए आवश्यक है। वहीं इन परियोजनाओं, कार्यक्रमों तथा योजनाओं की उपलब्धियों का निरीक्षण-परीक्षण करना चाहिए कि इनके परिणाम अनुकूलता से नीचे क्यों जा रहे हैं? फलस्वरूप निष्पादन अनुष्ठान या दक्षता लेखा परीक्षण का आवश्यकता उत्पन्न हो रही है।

निष्पादन लेखा परिक्षण यह बतता है कि साधनों का अनुकूलतम तरीके से विनियोजन कर उसका दक्षतापूर्ण उपयोग हुआ या नहीं। यह परियोजना के परिभाषित लाभों एवं साधनों के प्रयोग उत्पादक उद्देश्य के किस सीमा तक प्रयोग हुआ है इसकी जानकारी प्रदान करता है। इस लेखा परीक्षण का विषय क्षेत्र सीमित है। वर्तमान में सार्वजनिक उद्यमों में निष्पादन लेखा परीक्षण का उपयोग किया जा रहा है।

भारतीय लेखा परीक्षण और लेखा विभाग की स्थापना 1753 में हो गयी थी, परन्तु स्वतन्त्र भारत में लेखा परीक्षण का प्रारम्भ 1919 में हुआ था। महालेखापरीक्षक भारत-सरकार के नियन्त्रण से मुक्त था। जिसकी नियुक्ति भारत सचिव द्वारा होती थी, जो स्रमाट की इच्छा पर्यन्त अपने पद पर रहता था। गर्वनर जनरल की सपरिषद् के माध्यम से भारत सचिव को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता था। भारतीय शासन अधिनियम-1935 के द्वारा उसके स्तर एवं महत्व में वृद्धि की गयी, जिसे संघीय न्यायालय के न्यायाधीश के समान पदच्युत करने की प्रक्रिया द्वारा उठाया जा सकता था। कार्यपालिका से उसकी स्वतन्त्रता सुनिश्चित करने के सन्दर्भ में यह व्यवस्था की गयी की सेवानिवृत्ति के बाद वह ब्रिटिश क्राउन के अधीन अन्य कोई पद ग्रहण नहीं करेगा।

1950 में संविधान लागू होने के साथ ही भारत के महालेखा परीक्षक के पद का नाम बदलकर भारत का लेखा नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक कर दिया गया। सार्वजनिक कोषागार से धनराशि निकालने पर उसका नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया है, जो भारत के वित्तीय प्रशासन को लेखा नियंत्रक तथा महापरीक्षक की अविभाज्य सत्ता के अधीन कर दिया गया है। सामान्य रूप में भारत का लेखा नियन्त्रक तथा महापरीक्षक निम्न कार्यों को पूर्ण करता है-

- राजकोष तथा निगमों पर नियन्त्रण रखता है।
- सरकार के विरूद्ध उत्पन्न होने वाले मालिकाना अधिकारों को निपटाना तथा समायोजित करना।
- वह संघीय तथा राज्य सरकारों के उन समस्त आय-व्यय का लेखा परीक्षण करता है, जिनका सम्बन्ध आकस्मिकता निधि और सार्वजनिक लेखाओं से होता है।

- वह सरकार द्वारा वित्तीय सहायता प्राप्त उपक्रमों, कम्पनियों एवं सांविधिक निगमों के लेखाओं का परिक्षण करता है।
- संघीय एवं राज्यों के वार्षिक लेखाओं का संकलन करता है और अंकेक्षण प्रतिवेदन तैयार कर प्रस्तुत करता है।
- पूरे वित्तीय प्रशासन पर विधायी नियन्त्रण की एक इकाई के रूप में काम करता है।

इस प्रकार लेखा नियन्त्रक तथा महापरीक्षक, कार्यपालिका के वित्तीय मामलों का लेखा परीक्षण कर संघीय व्यवस्था का प्रतिवेदन राष्ट्रपति के माध्यम से संसद में और राज्यों का प्रतिवेदन राज्यपाल कें माध्यम से विधान-मण्डल के समक्ष रखता है।

19.3.3 लेखा परीक्षण का आलोचनात्मक मूल्यांकन

भारतीय लेखा परीक्षण व्यवस्था एक प्रशासनिक कार्य के रूप में चलायमान है। नियंत्रक महालेखा परीक्षक संघ एवं राज्य के सन्दर्भ में अपना प्रतिवेदन संविधान की व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति तथा राज्यपाल को सौंपता है, जो इसे संसद एवं विधान-मण्डल में प्रस्तुत करते हैं। इसी सन्दर्भ में पाल एच0 ऐपल्बी, लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक के पद को समाप्त करने सम्बन्धी सिफारिश अपने भारतीय प्रशासन सम्बन्धी दूसरे प्रतिवेदन में करते हैं। उनके अनुसार लेखा नियंत्रक तथा महापरीक्षक का कार्य उपनिवेशिक शासन की विरासत है। भारतीय प्रशासन में निर्णय करने तथा कार्य करने के प्रति जो व्यापक एवं घातक अनिच्छा हमें दिखाई पड़ती है, इसका मुख्य कारण लेखा नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक है।

भारतीय संविधान नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक को यह आदेश देता है कि वह "यह सुनिश्चित करे कि लेखों में दिखायी गयी धनराशि वैधानिक रूप से जिस उद्देश्य के लिए निर्धारित की गयी थी, उसी में उपयोग हुई तथा सही समय पर विनियोजन के लिए स्वीकृति ली गयी" उक्त कथन भारत में लेखा परीक्षक के कार्य को कानूनी औपचारिकता तक ही सीमित कर देते हैं। व्यय के औचित्य के बारे में महालेखा परीक्षक को अपनी राय देने का काई वैधानिक अधिकार नहीं देते। जिस कारण महालेखा परीक्षक सार्वजनिक व्यय में अपव्यय, अविवेक अथवा दुरूपयोग पर साफ-साफ परिलक्षित होने पर भी प्रतिवेदन में इस प्रकार कोई टिप्पणियाँ अपवाद स्वरूप व्यक्त करता है।

भारत में लेखांकन एवं लेखा परीक्षण के कार्यों को राज्यों एवं संघीय लेखा एवं लेखा परीक्षण विभाग, पेन्शन से सम्बधित और केन्द्रशासित प्रदेशों के लिए पृथकता न पाया जाना हमारी व्यवस्था की एक बड़ी कमजोरी को दर्शाता है।

भारतीय लेखा परीक्षण की आलोचना की जाती है कि यह ब्रिटिश प्रशासन प्रणाली पर आधारित है, जिसमें महालेखा परीक्षक को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान है। लेखा परीक्षक देश के वित्त का प्रहरी होता है। साविधिक लेखा परीक्षण हमारे संविधान के प्रमुख लक्षणों में है और यह सरकार के उद्देश्यों में बांधक नहीं अपितु लोकतान्त्रिक सरकार के मूल आवश्यकताओं में से है। लेखा परीक्षक व्यय की दिशा में प्रवाहित होने वाले सार्वजनिक धन को स्वस्थ्य अभिकरण प्रदान करता है, अतः इसे समाप्त या शिथिल नहीं किया जा सकता। अशोक चन्द्रा का कथन इस स्थान पर उद्धत करना उचित ही होगा कि "सभी मान्य प्रजातन्त्रों में लेखा-परीक्षण किसी आवश्यक बुराई के रूप में सहन नहीं किया जाता बल्कि एक मूल्यवान मित्र समझा जाता है। एक ऐसा मित्र जो व्यक्तियों की प्रक्रिया

सम्बन्धी गलतियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करता है, भले ही वे गलतियाँ निर्णय सम्बन्धी त्रुटियों, लापरवाही या बेईमानी के कार्यों अथवा अभिप्रायों से सम्बन्धित हो। दुर्भाग्य से भारत में पूरक सम्बन्धी इस अवधारणा का अभी विकसित होना शेष है। यहाँ तो लेखा परीक्षण को बाहरी कुछ असंगत तथा कुछ अवरोधक क्रिया समझा जाता है। इस प्रकार प्रशासकीय प्रणाली में लेखा परीक्षक के सुझावों को मानने में स्वाभाविक विरोध विकसित होने लगा है। यह प्रवृत्ति अभी हाल के वर्षों में अधिक विकसित हो गयी है। वास्तव में स्वतन्त्रता प्राप्ति तथा कल्याणकारी राज्य की अवधारण स्वीकार किए जाने के साथ ही उद्देश्य प्रयत्न तथा सफलता की आवश्यकता का विकास होना आवश्यक है। इस प्रकार लेखा-परीक्षण तथा प्रशासन के मध्य दृष्टिकोण के पुनर्रावलोकन तथा सम्बन्धों के पुर्नसंयोजन की आवश्यकता का सर्वाधिक महत्व बढ़ गया है।''

19.4 लेखांकन एवं लेखा परीक्षण का पृथक्करण

भारत में 1976 तक लेखांकन तथा लेखा परीक्षण का कार्य एक ही संस्था नियत्रक तथा महालेखाकार कार्यालय के अधिकार में था तथा नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक दोनों कार्यों के लिए उत्तरदायी था, लेकिन अन्य देशों में ये कार्य पृथक-पृथक पाये जाते हैं। भारत में प्रशासनिक सुधार से सम्बन्धित अनेक समितियों- मुडीमैन समिति(1924), इंचकेप समिति(1923), साइमन समिति(1926) आदि ने लेखांकन और लेखा परीक्षण के पृथक्करण की सिफारिश की थी। स्वतन्त्र भारत के प्रथम नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक नरहरि राव ने इस संयुक्त प्रणाली की कटु आलोचना की थी। उत्तर प्रदेश विधान-मण्डल के प्रथम अध्यक्ष श्री राजर्षि पुरूषोत्तमदास टण्डन ने 1952 में नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक के कार्यालय में गबन की घटना का उल्लेख करते हुए निम्न विचार व्यक्त किया कि, ''जब एक ही कार्यालय हिसाब तैयार करता है और हिसाब की जाँच करने का कार्य भी करता है तो बेईमानी की काफी सम्भावना रहती है, क्योंकि ऐसा काम करने वाला व्यक्ति यह जानता है कि वह यदि किसी प्रकार गड़बड़ करेगा तो भी वह पकड़ा नहीं जायेगा क्योंकि अंत में उसे ही लेखा परीक्षण करना है।'' लोक लेखा समिति तथा लोक सेवा समिति ने भी दोनों के प्रथक्करण की सिफारिश की। अतः उपरोक्त सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए 1976 में केन्द्र सरकार ने लेखांकन एवं लेखा परीक्षण को पृथक कर दिया तथा केन्द्र सरकार के स्तर पर नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक को लेखांकन के दायित्व से मुक्त कर दिया गया।

वस्तुतः लेखांकन एवं लेखा परीक्षण को पृथक करना वित्तीय प्रशासन के क्षेत्र में एक तार्किक सुधार माना जाता है। इसके पक्ष एवं विपक्ष में अनेक तर्क दिए जाते हैं।

19.4.1 लेखांकन एवं लेखा परीक्षण से पृथक्करण के पक्ष में तर्क

1. लेखा के कार्यों की प्रकृति कार्यकारी है। जबकि लेखा परिक्षण के कार्यों की प्रकृति अर्द्ध-विधायकीय है। इन दोनों कार्यों की प्रकृति में अन्तर होने के कारण इनको पृथक किया जाना उचित है।
2. वित्तीय प्रशासन के अनुशासन के लिए भी उचित नहीं दिखता, कि जो अधिकारी लेखा के लिए उत्तरदायी हो, स्वयं उसी के द्वारा लेखा परीक्षण किया जाए। अतः निष्पक्ष लेखा परीक्षण की प्रणाली को विकसित करने हेतु दोनों कार्यों को एक-दूसरे से पृथक किया जाना चाहिए।
3. अगर दोनों कार्यों को एक ही अधिकारी के क्षेत्राधिकार में शामिल किया जाता है, तो उसका कार्यभार अत्यधिक होता है। परिणामस्वरूप वह लेखा परीक्षण जैसे गम्भीर अध्ययन एवं विश्लेषण-उन्मुखी कार्य की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाता। अतः पृथककरण के आधार पर नियंत्रक व महालेखा परीक्षक अपना अधिकतम ध्यान लेखा परीक्षण पर दे सकता है।

4. नियंत्रक व महालेखा परीक्षक के पास कार्यभार अधिक होने के कारण लेखा को अंतिम रूप देने में अधिक समय लगता है, जिससे लेखा परीक्षण के कार्य में भी अनावश्यक विलम्ब होता है।
5. नियंत्रक व महालेखा परीक्षण के द्वारा लेखा के कार्य सम्पन्न किये जाने के कारण संबंधित मंत्रालयों एवं विभागों को समय पर अपने वित्तीय लेन-देन की तात्कालिक जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में व्यय पर नियंत्रण रखना मंत्रालय के लिए कठिन हो जाता है। अतः अत्यधिक व्यय की सम्भावना को देखते हुए लेखांकन एवं लेखा परीक्षण का पृथक्करण किया जाना चाहिए और लेखांकन का कार्य संबंधित विभाग को सौंपा जाना चाहिए।
6. दोनों कार्यों का पृथक्करण होने के उपरान्त इनमें विशेषीकरण को प्राप्त करना अधिक संभव है।

19.4.2 लेखांकन एवं लेखा परीक्षण से पृथक्करण के विपक्ष में तर्क

1. इंग्लैण्ड में लेखा एवं लेखा परीक्षण के कार्यों को अलग रखा गया है, लेकिन वहाँ से भी अत्यधिक व्यय होने की सूचनाऐं समय-समय पर प्राप्त होती रहती हैं। अर्थात् यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, कि पृथक्करण के माध्यम से अत्यधिक व्यय रोका जा सकता है। भारत में भी केन्द्र सरकार के स्तर पर पृथक्करण के उपरान्त भी अत्यधिक व्यय की शिकायतें मिलती रही हैं।
2. मंत्रालय के कार्यभार को उनके मौलिक उद्देश्यों तक सीमित रखने हेतु भी यह आवश्यक है कि लेखा एवं लेखा परीक्षण का पृथक्करण किया जाये।
3. लेखा एवं लेखा परीक्षण के पृथक्करण की प्रक्रिया में अधिक वित्तीय एवं मानवीय संसाधनों की आवश्यकता होगी अर्थात् पृथक्करण से व्यय में वृद्धि एवं मानव शक्ति का पूर्ण उपयोग नहीं होगा।
4. पृथक्करण के पश्चात लेखा कर्मचारी राज्य सरकारों के नियंत्रण के अन्तर्गत आ जायेंगे। ऐसी अवस्था में वे कार्यपालिका की आलोचना करने तथा अति व्यय को रोकने में कम स्वतंत्र होंगे।
5. अलग-अलग विभागों द्वारा लेखांकन कार्य सम्पन्न होने से लेखाओं के संकलन में अत्यधिक विलम्ब होगा। वर्तमान प्रणाली में नियंत्रक व महालेखा परीक्षक के कार्यालय में संकलन अविलम्ब किया जा सकता है।
6. इस बात की कोई गारण्टी नहीं कि दोनों को पृथक कर देने से बेहतर परिणाम आयेंगे, क्योंकि प्रतिरक्षा एवं रेलवे विभागों में काफी दिनों से लेखांकन का उत्तरदायित्व विभागों को सौंपा गया है, लेकिन न तो अधिक कार्यकुशलता का कोई संकेत मिला है और न ही बजट पर प्रभावशाली नियंत्रण कायम हुआ है।
7. लेखा परीक्षण की वास्तविकता को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि नियंत्रक व महालेखा परीक्षक का नियंत्रण लेखा पर भी होना चाहिए, क्योंकि अंततः ये दोनों कार्य भिन्न होते हुए भी परस्पर निर्भर हैं।
8. वर्तमान प्रणाली ने राज्य सरकार के स्तर पर समय की माँग को पूरा किया है। अतः इसमें कोई मौलिक परिर्वतन करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने भारत में लेखा एवं लेखा परीक्षण के कार्य को पृथक करने का सुझाव दिया। केन्द्र सरकार के स्तर पर इस सुझाव को व्यवहारिक रूप भी दिया गया एवं राज्य सरकारों से यह अपेक्षा की गयी कि वे अपनी सुविधानुसार पृथक्करण की दिशा में प्रयास कर सकते हैं, लेकिन अत्यधिक व्यय की संभावना के कारण राज्य सरकारें इस दिशा में कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठा पा रही है।

अभ्यास प्रश्न- 2

1. भारतीय लेखा परीक्षण और लेखा विभाग की स्थापना किस सन् में की गयी?
2. केन्द्र सरकार के लेखांकन के कार्य से नियन्त्रक और महालेखा पीरक्षक को कब अलग किया गया?

19.5 सांराश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हमें लेखांकन के अर्थ, महत्व एवं इसकी विशेषताओं को जानने का अवसर प्राप्त हुआ है। इसके अध्ययन के साथ ही साथ लेखांकन के तत्व एवं लेखा पद्धतियों का भी अध्ययन कर सका और लेखांकन से होने वाले लाभ एवं हानि और प्रशासन में इसकी उपयोगिता के बारे में जानने और समझाने को मिला है। यही नहीं इस इकाई में हमने भारतीय लोक लेखा व्यवस्था का भी अध्ययन किया और जिसके बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त की है।

यहाँ हम यह भी बताना चाहते हैं कि हमने इस इकाई में लेखा परीक्षण के अर्थ, महत्व, विधियों एवं लेखा परीक्षण प्रक्रिया का भी विस्तृत अध्ययन किया है, जिसमें इसके विभिन्न पक्षों को जानने को मिला है। अंततः हमने लेखांकन एवं लेखा परीक्षण में अन्तर करते हुए उसके लाभ, हानि और प्रशासन में इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में अध्ययन किया है, जिसमें हमने देखा कि लेखा के कार्यों की प्रकृति कार्यकारी है, जबकि लेखा परीक्षण के कार्यों की प्रकृति अर्द्ध-विधायकीय है।

19.6 शब्दावली

लेखा अनुदान- संसद द्वारा अनुमानित व्यय के सम्बन्ध में दिए गये अग्रिम स्वीकृति को लेखा अनुदान कहते हैं, जो बजट की प्रक्रिया पूरी किए बिना आगामी वित्तीय वर्ष के लिए संसद द्वारा स्वीकृत होती है।

लेखा- 'लेखा' का आशय है, संगठन के वित्तीय लेन-देन का समुचित विवरण तैयार करना। लेखा के द्वारा यह सुनिश्चित करना होता है कि धन का इस्तेमाल वैधानिक रीति से उन्हीं उद्देश्यों के लिए किया गया है, जिनके लिए संसद से उसकी मंजूरी प्रदान की थी। लेखा के अन्दर वित्तीय कामकाज के बारे में सच्चे आँकड़ें होने चाहिए। व्यय करने वाले अधिकारियों द्वारा खर्च किए गये एक-एक पैसे का हिसाब उसमें अंकित होना चाहिए।

पूर्व लेखा परीक्षण- किसी लेन-देन के तत्वों के पूर्ण होने एवं अंतिम लेखा विवरण के रूप में दर्ज किए जाने से पहले का परीक्षण है। यह प्रबन्ध का एक साधन है तथा किसी विभाग में जारी लेन-देन की परिशुद्धता एवं वैधानिकता के ऊपर प्रशासनिक नियंत्रण रखने का काम करता है।

उत्तर लेखा परीक्षण- यह लेखा परीक्षण लेन-देन के पूर्ण हो जाने तथा उनको विवरण के रूप में अन्तिम रूप से दर्ज कर लेने के बाद इनके परीक्षण से है। उत्तर लेखा परीक्षण तब किया जाता है, जब धन वास्तविक रूप से खर्च कर दिया जाता है। वास्तविक रूप से इसी को लेखा परीक्षण कहते हैं।

आन्तरिक लेखा परीक्षण- इसे विभागीय या प्रशासकीय लेखा परीक्षण कहते हैं। विभागीय अंकेक्षकों द्वारा विभाग के व्यय की राशि का अभिलेख बनाकर लेखा परीक्षण करते हैं, तो इसे आन्तरिक लेखा परीक्षण कहते हैं।

बाहरी लेखा परीक्षण- जब विभाग द्वारा व्यय की राशि एवं वित्तीय अभिलेख का बाहर के लेखा परीक्षकों द्वारा परीक्षण किया जाता है, तो उसे बाहरी लेखा परीक्षण कहते हैं।

लेखा परीक्षण प्रतिवेदन- लेखा परीक्षण के परिणामों के अनुसार व्यय की नियमितता एवं औचित्य पर आवश्यक एवं उचित/न्यायसंगत टिप्पणियों का प्रपत्र लेखा परीक्षण प्रतिवेदन कहलाता है।

19.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न-1 **1.** इस प्रश्न के उत्तर के लिए 19.2.2.1 शीर्षक का अध्ययन करें। **2.** इस प्रश्न के उत्तर के लिए 19.2.2 शीर्षक का अध्ययन करें। **3.** इस प्रश्न के उत्तर के लिए 19.3.2 शीर्षक का अध्ययन करें।

अभ्यास प्रश्न-2 **1.** 1753, **2.** 1976

19.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सुन्दरम, के0पी0, (1990), भारतीय लोक वित्त एवं वित्तीय प्रशासन, सुल्तान चन्द एण्ड संस, नई दिल्ली।
2. भट्टाचार्य, माहित, (2000), लोक प्रशासन के नए आयाम, जवाहर पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
3. कौर, इन्द्रजीत, (2000), लोक प्रशासन, एसबीपीडी पब्लिशिंग हाउस, आगरा।
4. अवस्थी, ए0 पी0,(2000), वित्त प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
5. देशमुख, नीलिमा, (1998), आर्थिक नीति और प्रशासन, कालेज बुक डिपो, जयपुर।
6. दुबे, रमेश, शर्मा, हरिश्चन्द्र, (1998), भारत में लोक प्रशासन, कालेज बुक डिपो, जयपुर।

19.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. थावराज, एम0 जे0 के0, (1982), भारत का वित्तीय प्रशासन, सुल्तान चन्द एण्ड संस नई दिल्ली।
2. भार्गव, आर0 एन0, (1980), भारतीय लोक वित्त , बी0 डी0 भार्गव एंड सन्स, चंदौसी।
3. लाल, जी0 एस0, (1982), भारत में लोक वित्त तथा वित्तीय प्रशासन, एच0 पी0 कपूर, नई दिल्ली।
4. सिन्हा, आर0 के0, (1992), भारत में राजकोषीय संघवाद, स्टर्लिग, नई दिल्ली।

19.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोकतंत्र में लेखा परीक्षण के अर्थ एवं महत्व का वर्णन कीजिए।
2. लेखा परीक्षण प्रतिवेदन के महत्व एवं प्रशासनिक उपयोगिता का वर्णन कीजिए।
3. लेखांकन एवं लेखा परीक्षण के औचित्य को समझाइए।

इकाई- 20 पंचायती राज और तिहत्तरवां(73वां) संविधान संशोधन अधिनियम

इकाई की संरचना

20.0 प्रस्तावना
20.1 उद्देश्य
20.2 पंचायती राज
20.3 स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के रूप में पंचायती राज
20.4 स्वतंत्रता पूर्व भारत में पंचायती राज
20.5 स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में पंचायती राज
20.6 पंचायतों के विकास के लिए गठित समितियाँ
    20.6.1 बलवंत राय मेहता समिति
    20.6.2 अशोक मेहता समिति
    20.6.3 जी0वी0के0 समिति
    20.6.4 डॉ0 एल0एम0 सिंघवी समिति
    20.6.5 सरकारिया आयोग और पी0 के0 थुंगर समिति
20.7 तिहत्तरवां संविधान संशोधन अधिनियम
    20.7.1 तिहत्तरवें संविधान संशोधन के पिछे सोच
    20.7.2 तिहत्तरवें संविधान संशोधन की मुख्य बातें
    20.7.3 तिहत्तरवें संविधान संशोधन की मुख्य विशेषताऐं
20.8 स्थानीय स्वशासन और पंचायतें
20.9 सारांश
20.10 शब्दावली
20.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
20.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
20.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
20.14 निबंधात्मक प्रश्न

20.0 प्रस्तावना

शासन प्रणालियों के विकास क्रम में मनुष्य ने अनेक प्रकार की शासन प्रणालियों को अपनाया। शासन प्रणालियों का कोई भी स्वरूप- चाहे वह तानाशाही शासन हो, राजशाही शासन, सैनिक शासन, साम्यवादी शासन या लोकतांत्रिक शासन प्रणाली, ये सभी शासन प्रणालियाँ भौगोलिक परिस्थितियों के परिणाम ना होकर व्यक्ति के विचारों और सिद्धान्तों का परिणाम हैं। शासन प्रणालियों के विकास क्रम में ज्यादातर समय राजशाही व तानाशाही शासन प्रणाली का रहा, किन्तु एक बेहतर जीवन की खोज में व्यक्ति का संघर्ष लगातार जारी रहा। जिसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति ने अपने ऊपर शासन के लिए स्वयं को शासक बनाने का निश्चय किया और लोकतंत्र या प्रजातंत्र शासन प्रणाली का स्वरूप सामने आया। लोकतंत्र में भी सबसे निचले स्तर तक के व्यक्ति के

हाथों में सत्ता की पहुँच हो और वो शासन के कार्यों में अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर सके इसके लिए शासन-सत्ता का एक जगह केन्द्रीकरण ना करके इसके विकेन्द्रीकरण को अपनाया गया। सत्ता विकेन्द्रीकरण की सोच ने स्थानीय स्वशासन को जन्म दिया और सबसे निचले स्तर पर पंचायती और नगरीय शासन का स्वरूप सामने आया। लोकतंत्रीय शासन प्रणाली में ही सत्ता का विकेन्द्रीकरण संभव है। आज हम सभी भारत में पंचायती राज और नगरीय शासन से अच्छी तरह परिचित हैं।

20.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- स्वतंत्रता से पहले और स्वतंत्रता के बाद भारत में पंचायतों की स्थिति के संबंध में जान पायेंगे।
- स्थानीय स्वशासन के बारे में जान पायेंगे।
- स्थानीय स्वशासन को वैधानिक रुप देने के लिए संविधान में 73वें संविधान संशोधन के विषय में जान पायेंगे।
- 73वें संविधान संशोधन के पिछे सोच के कारणों का ज्ञान होगा।
- 73वें संविधान संशोधन के द्वारा संविधान में मौजुद मुख्य बिन्दुओं की जानकारी मिलेगी।

20.2 पंचायती राज

पंचायती राज का इतिहास कोई नया नहीं अपितु यह आदिकाल से हमारी पुरातन धरोहर है। भारतीय ग्रामीण व्यवस्था में सामुदायिकता की भावना प्राचीन काल से विद्यमान रही है। इसी सामुदायिकता व परम्परागत संगठन के आधार पर पंचायत व्यवस्था का जन्म हुआ। इसीलिए हमारे देश में पंचायतों की व्यवस्था भी सदियों से चली आ रही है। भारतीय संस्कृति के विकास के साथ-साथ पंचायती व्यवस्था का जन्म और विकास हुआ। पंचायत शब्द पंच+आयत से बना है। ‘पंच’ का अर्थ है, समुदाय या संस्था तथा ‘आयत’ का अर्थ है विकास या विस्तार। अतः सामूहिक रूप से गाँव का विकास ही पंचायत का वास्तविक अर्थ है। ये संस्थाऐं हमारे समाज की बुनियादी संस्थाऐं हैं और किसी न किसी रूप में ये संस्थाऐं हमारी संस्कृति व शासन-प्रणाली का अभिन्न हिस्सा रही हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के विकास, प्रशासन व न्याय की जिम्मेदारी इन्हीं संस्थाओं की थी। राजा, महाराजा भी स्थानीय स्तर पर काम-काज के संचालन हेतु इन्हीं संस्थाओं पर निर्भर रहते थे। स्थानीय स्तर पर सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में न रह कर सामूहिक रहती थी। इसीलिए इन्हें गणतन्त्र की स्थानीय इकाईयों के रूप में मान-सम्मान दिया जाता था। ग्राम पंचायत ग्रामीण क्षेत्रों में शासन प्रबन्ध, शान्ति और सुरक्षा की एकमात्र संस्थाऐं रही हैं। डाक्टर राधाकुमुद मुखर्जी ने लिखा है कि ये समस्त जनता की सामान्य सभा के रूप में अपने सदस्यों के समान अधिकारों, स्वतंत्रताओं के लिए निर्मित होती हैं, ताकि सब में समानता, स्वतंत्रता तथा बुधुत्व का विचार दृढ़ रहे। अतः यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में पंचायती राज का गौरवशाली अतीत रहा है।

प्राचीन काल में पंचायतों का स्वरूप कुछ और था। यद्यपि इन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा नहीं प्राप्त था लेकिन गांवों से जुड़े विकास व न्याय सम्बन्धित निर्णयों के लिए ये संस्थाऐं पूर्ण रूप से जिम्मेदार थीं। प्राचीन काल में गाँवों में पंच परमेश्वर की प्रणाली मौजूद थी। गाँव में सर्वसहमति से चुने गये पाँच गणमान्य व बुद्धिमान व्यक्तियों को गाँव में न्याय व्यवस्था बनाये रखने व गाँव के विकास हेतु निर्णय लेने का अधिकार था और उन्हें तो पंच

परमेश्वर तक कहा जाता था। पंच परमेश्वर द्वारा न्याय को सरल और सुलभ बनाने की प्रथा काफी मजबूत थी। उस समय ये पंच एक संस्था के रूप में कार्य करते थे। गाँव के झगड़े, गाँव की व्यवस्थायें सुधारना जैसे मुख्य कार्य पंच परमेश्वर संस्था किया करती थी। उसके कायदे-कानून लिखित नहीं होते थे फिर भी उनका प्रभाव समाज पर ज्यादा होता था। पंचों के फैसले के खिलाफ जाने की कोई सोच भी नहीं सकता था। पंचों का सम्मान बहुत था व उनके पास समाज का भरोसा और ताकत भी थी। लोग पंचों के प्रति बड़ा विश्वास रखते थे और उनका निर्णय सहज स्वीकार कर लेते थे। पंच परमेश्वर भी बिना किसी पक्षपात के निर्णय किया करती थी। मुंशी प्रेमचन्द ने अपनी कहानी पंच परमेश्वर द्वारा प्राचीन काल में स्थापित इस पंच प्रणाली को काफी सरल तरीके से समझाया है। प्राचीन काल में जातिगत व कबाइली पंचायतों का भी जिक्र भी मिलता है। इन पंचायतों के प्रमुख गाँव के विद्वान व कबीले के मुखिया हुआ करते थे। इन पंचायतों में कोई भी निर्णय लेने हेतु तब तक विचार-विमर्श किया जाता था जब तक कि सर्वसहमति से निर्णय न हो जाये।

20.3 स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के रूप में पंचायत व्यवस्था

राजा-महाराजा काल में स्थानीय स्वशासन को काफी महत्व दिया गया। उनके द्वारा भी जनता को सत्ता सौंपने की प्रथा को अपनाया गया। भारत जैसे विशाल देश को एक केन्द्र से शासित करना राजाओं व सम्राटों के लिए सम्भव नहीं था। अतः राज्य को सूबों, जनपदों, ग्राम समितियों अथवा ग्राम सभाओं में बॉटा गया। वेदों, बौद्ध ग्रन्थों, जातक कथाओं, उपनिषदों आदि में इस व्यवस्था के रूप में पंचायतों के आस्तित्व के पूर्ण साक्ष्य मिलते हैं। मनुस्मृति तथा महाभारत के 'शांति-पर्व' में ग्राम सभाओं का उल्लेख है। रामायण में इसका वर्णन जनपदों के नाम से आता है। महाभारत काल में भी इन संस्थानों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वैदिक कालीन तथा उत्तर-वैदिक कालीन इतिहास के अवलोकन में यह बात स्पष्ट हो गई है कि प्राचीन भारत का प्रत्येक ग्राम एक छोटा सा स्वायत्त राज्य था। इस प्रकार के कई छोटे-छोटे गाँवों और छोटे-छोटे प्रादेषिक संघ मिलकर बड़े संघ बन जाते थे। संघ, पूर्णतः स्वावलम्बी थे तथा एक-दूसरे से बड़ी अच्छी तरह जुड़े हुए तथा सम्बन्धित थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी गाँवों के छोटे-छोटे गणराज्यों की बात कही गई है। सर चार्ल्स मेटकाफ ने तो पंचायतों को गाँव के छोटे-छोटे गणतन्त्र कहा था जो स्वयं में आत्मनिर्भर थे। बौद्ध व मौर्य काल के समय पंचायतों के आस्तित्व की बात कही गई है। बौद्ध काल के संघों की कार्य-पद्धति ग्राम राज्य की प्रथा को दर्शाती है। बौद्ध संघों के शासन की प्रणाली वस्तुतः भारत की ग्राम पंचायतों तथा ग्राम संघों से ही ली गई थी। गुप्त काल में भी ग्राम समितियां, पंचायतों के रूप में कार्य करती थीं। चन्द्रगुप्त के दरबार में रहने वाले यूनानी राजदूत मैगस्थनीज के वृतान्त से उसके बारे में काफी सामग्री मिलती है। मैगस्थनीज के वृतान्त से उस समय के नगर प्रशासन तथा ग्राम प्रशासन पर खासा प्रकाश पड़ता है। नगरों का प्रशासन भी पंचायत-प्रणाली से ही होता था और पाटलिपुत्र का प्रशासन उसकी सफलता का सूचक है। मैगस्थनीज के अनुसार नगर प्रशासन भी ग्राम प्रशासन की भाँति ही होता था। नगर का शासन एक निर्वाचित संस्था के हाथ में होता था, जिसमें 30 सदस्य होते थे। सदस्य 06 समितियों में विभक्त होते थे। प्रत्येक समिति अलग-अलग विषयों का प्रबन्धन करती थी। कुछ विषय अवश्य ऐसे थे जो सीधे राजकीय नियंत्रण में होते थे।

प्राचीन काल में राजा लोग महत्वपूर्ण निर्णय लेते समय इन पंचायतों से पूर्ण विचार-विमर्श करते थे। स्थानीय स्वशासन की ये संस्थाऐं, स्थानीय स्तर पर अपना शासन खुद चलाती थीं। लोग अपने विकास के बारे में खुद सोचते थे, अपनी समस्याऐं स्वयं हल करते थे एवं अपने निर्णय स्वयं लेते थे। वास्तव में जिस स्वशासन की बात

हम आज कर रहे हैं, असली स्वशासन वही था। यह कह सकते हैं कि हमारे गाँव का काम गाँव में और गाँव का राज गाँव में था। पंचायतें हमारे गाँव समाज की ताकत थी।

ग्रामों के इस संगठनों की सफलता का रहस्य केवल यह था कि ग्रामीण अपने अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों की अधिक चिंता करते थे। इस तरह भारत के ग्रामों के संगठन की परम्परा उत्पन्न हुई, पनपी और इसमें दीर्घकाल तक की सफलता से देश के ग्रामीणों को समृद्ध, सुसम्पन्न तथा आत्मनिर्भर बनाया। पंचायतों के कारण ही काफी समय तक विदेशी अपना आर्थिक प्रभुत्व जमाने में असमर्थ रहे।

मध्य काल में पंचायतों के विकास पर खास ध्यान नहीं दिया गया। इस दौरान समय-समय पर विदेशियों के आक्रमण भारत में हुए। मुगलों के भारत में आधिपत्य के साथ ही शासन प्रणाली में नकारात्मक बदलाव आये। लोगों की अपनी बनाई हुई व्यवस्थाऐं चरमराकर धराशायी हो गई। समस्त सत्ता व शक्ति बादशाह व उसके खास कर्मचारियों के हाथों में केन्द्रित हो गयी। यद्यापि मुगल बादशाह अकबर द्वारा स्थानीय स्वशासन को महत्व दिया गया और उस समय ग्राम स्तरीय समस्त कार्य पंचायतों द्वारा ही किया जाता था। लेकिन अन्य शासकों के शासनकाल में पंचायत व्यवस्था का धीरे-धीरे विघटन का दौर शुरू हुआ जो ब्रिटिश काल के दौरान भी अंग्रेजों की केन्द्रीकरण की नीति के कारण चलता रहा। पंच-परमेश्वर प्रथा की अवहेलना से पंचायतों व स्थानीय स्वशासन को गहरा झटका लगा, जिसके परिणाम स्वरूप जो छोटे-छोटे विवाद पहले गाँव में ही सुलझ जाया करते थे, अब वह दबाये जाने लगे व सदियों से चली आ रही स्थानीय स्तर पर विवाद निपटाने की प्रथा का स्थान कोर्ट-कचहरी ने लेना शुरू किया। जिन प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा व उपयोग गाँव वाले स्वयं करते थे वे सब अंग्रेजी शासन के अर्न्तगत आ गये और उनका प्रबन्धन भी सरकार के हाथों चला गया। स्थानीय लोगों के अधिकार समाप्त हो गये।

कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि स्थानीय स्वशासन की परम्परा प्राचीन काल में काफी मजबूत थी। स्थानीय स्वशासन की संस्थाऐं जन-समुदाय की आवाज हुआ करती थी। वर्तमान की पंचायत व्यवस्था का मूल आधार हमारी पुरानी सामुदायिक व्यवस्था ही है। यद्यपि मध्यकाल व ब्रिटिश काल में पंचायती राज व्यवस्था लडखड़ा गई थी, लेकिन भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात स्थानीय स्वशासन को मजबूत बनाने के लिए पुनः प्रयास शुरू हुए और पंचायती राज व्यवस्था भारत मे पुनः स्थापित की गई। जिसके बारे में आप आगे विस्तार से अध्याय करेंगे।

20.4 स्वतंत्रता पूर्व भारत में पंचायती राज

स्वतन्त्रता पूर्व पंचायतों की मजबूती व सुधार हेतु विशेष प्रयास नहीं हुए जिस कारण पंचायती राज व्यवस्था लड़खड़ाती रही। मध्य काल में मुस्लिम राजाओं का शासन भारत के विभिन्न हिस्सों में फैल गया। यद्यपि स्थानीय शासन की संस्थाओं का मजबूती के लिए विशेष प्रयास नहीं किये गये, परन्तु मुस्लिम शासन ने अपने हितों में पंचायतों का काफी उपयोग किया। जिसके फलस्वरूप पंचायतों के मूल स्वरूप को धक्का लगा और वे केन्द्र के हाथों की कठपुतली बन गये। सम्राट अकबर के समय स्थानीय स्वशासन को पुनः मान्यता मिली। उस काल में स्थानीय स्वशासन की इकाइयाँ कार्यशील बनी। स्थानीय स्तर पर शासन के सारे कार्य पंचायतें ही करती थीं और शासन उनके महत्व को पूर्णतः स्वीकार करता था। लेकिन मुस्लिम काल के इतिहास को अगर समग्र रूप में देखा जाए तो इस काल में स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को मजबूती नहीं मिल सकी।

ब्रिटिश काल के दौरान भी प्राचीन पंचायत व्यवस्था लड़खड़ाती रही। अंग्रजों शासन काल मे सत्ता का केन्द्रीकरण हो गया और दिल्ली सरकार पूरे भारत पर शासन करने लगी। केन्द्रीकरण की नीति के तहत अंग्रेज तो पूरी सत्ता

अपने कब्जे में करके एक-क्षत्र राज चाहते थे। भारत की विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था उन्हें अपने मनसूबों को पूरा करने में एक रुकावट लगी। इसलिये अंग्रेजों ने हमारी सदियों से चली आ रही स्थानीय स्वशासन की परम्परा व स्थानीय समुदाय की ताकत का तहस-नहस कर शासन की अपनी व्यवस्था लागू की। जिसमें छोटे-छोटे सूबे तथा स्थानीय स्वशासन की संस्थाऐं कमजोर बना दी गयी या पूरी तरह समाप्त कर दी गयी। धीरे-धीरे सब कुछ अंग्रेजी सरकार के अधीन होता गया। सरकार की व्यवस्था मजबूत होती गयी और समाज कमजोर होता गया। परिणाम यह हुआ कि यहाँ प्रशासन का परम्परागत रूप करीब-करीब समाप्त-प्राय हो गया और पंचायतों का महत्व काफी घट गया। अंग्रेजी राज की बढ़ती ताकत व प्रभाव से आम आदमी दबाव में था। समाज में असंतोष बढ़ने लगा, जिसके कारण 1909 में ब्रिटिश सरकार द्वारा एक विकेन्द्रीकरण कमीशन की नियुक्ति की गयी। 1919 में ''मांटेस्क्यू चेम्सफोर्स सुधार'' के तहत एक अधिनियम पारित करके पंचायतों को फिर से स्थापित करने का काम प्रान्तीय शासन पर छोड़ दिया। अंग्रेजों की नियत तब उजागर हुई, जब एक तरफ पंचायतों को फिर से स्थापित करने की बात कही गई और दूसरी तरफ गाँव वालों से नमक बनाने तक का अधिकार छुड़ा लिया। इसी क्रम में 1935 में लार्ड वैलिंग्टन के समय भी पंचायतों के विकास की ओर थोड़ा बहुत ध्यान दिया गया लेकिन कुल मिलाकर ब्रिटिशकाल में पंचायतों को फलने-फूलने के अवसर कम ही मिले।

हम नब्बे के दशक में भारत सरकार द्वारा पंचायतों को नया स्वरूप देने के उद्देश्य से भारतीय संविधान में किये गये 73वें संशोधन अधिनियम के बारे में पढ़ेंगे। प्राचीन समय में भी देश के गांवों का पूरा कामकाज पंचायतें ही चलाती थीं। लोग इस संस्था को गहरी आस्था व सम्मान की की दृष्टि से देखते थे, इसलिये इसका निर्णय भी सब को मान्य होता था। इसी धारणा को ध्यान में रख कर व सामान्य व्यक्ति की शासन में भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए पंचायतों को संवैधानिक स्थान देने की आवश्यकता हुई। जिसके लिए संविधान का 73वॉ संविधान संशोधन किया गया। जिसका विस्तृत अध्ययन आप इस इकाई में करेंगे।

20.5 स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में पंचायती राज

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात पंचायतों के पूर्ण विकास के लिये प्रयत्न शुरू हुए। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी स्वराज और स्वावलम्बन के लिये पंचायती राज के प्रबलतम समर्थक थे। गाँधी जी ने कहा था- ''सच्चा स्वराज सिर्फ चंद लोगों के हाथ में सत्ता आ जाने से नहीं बल्कि इसके लिये सभी हाथों में क्षमता आने से आयेगा। केन्द्र में बैठे बीस व्यक्ति सच्चे लोकतन्त्र को नहीं चला सकते। इसको चलाने के लिये निचले स्तर पर प्रत्येक गाँव के लोगों को शामिल करना पड़ेगा।'' गाँधी जी की ही पहल पर संविधान में अनुच्छेद- 40 शामिल किया गया। जिसमें यह कहा गया कि राज्य ग्राम पंचायतों को सुदृढ़ करने हेतु कदम उठायेगा तथा पंचायतों को प्रशासन की इकाई के रूप में कार्य करने के लिये आवश्यक अधिकार प्रदान करेगा। यह अनुच्छेद राज्य का नीति निर्देशक सिद्धान्त बना दिया गया। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्र के विकास के लिये विभिन्न कमीशन नियुक्त किये गये, जिन्होंने पंचायती राज व्यवस्था को पुर्नजीवित करने में महत्वपूर्ण कार्य किया।

भारत में सन् 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम स्थापित किये गये। किन्तु प्रारम्भ में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को कोई महत्वपूर्ण सफलता नहीं मिल सकी, इसका मुख्य कारण जनता का इसमें कोई सहयोग व रुचि नहीं थी। सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को सरकारी कामों के रुप में देख गया और गाँववासी अपने उत्थान के लिए स्वयं प्रयत्न करने के स्थान पर सरकार पर निर्भर रहने लगी। इस कार्यक्रम के सूत्रधार यह आशा करते थे कि जनता इसमें आगे आये और दूसरी ओर उनका विश्वास था कि सरकारी कार्यवाही से ही यह कार्यक्रम सफल हो

सकता है। कार्यक्रम जनता ने चलाना था, लेकिन वे बनाये उपर से जाते थे। जिस कारण इन कार्यक्रमों में लोक कल्याण के कार्य तो हुए लेकिन लोगों की भागीदारी इनमें नगण्य थी। ये कार्यक्रम लोगों के कार्यक्रम होने के बजाय सरकार के कार्यक्रम बनकर रह गये। सामुदायिक विकास कार्यक्रम के असफल हाने के कारणों का अध्ययन करने के लिए एक कमेटी गठित की गयी, जिसका नाम बलवन्त राय मेहता समिति था।

अभ्यास प्रश्न-1

1. 1919 के किस सुधार के तहत एक अधिनियम पारित करके पंचायतो को फिर से स्थापित करने का काम प्रान्तीय शासन पर छोड़ दिया?
2. पंचायतों को संवैधानिक दर्जा देने के लिए संविधान में.............. संविधान संशोधन किया गया।
3. भारत में किस सन् में सामुदायिक विकास कार्यक्रम स्थापित किये गये?

20.6 पंचायतों के विकास के लिए गठित समितियाँ

पंचायतों के विकास के लिए समय-समय पर अनेक समितियां गठित की गयी-

20.6.1 बलवंत राय मेहता समिति

1957 में सरकार ने पंचायतों के विकास पर सुझाव देने के लिए श्री बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में यह सिफारिश की गयी कि सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए पंचायती राज संस्थाओं की तुरन्त स्थानपा की जानी चाहिए। इसे लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का नाम दिया गया। मेहता कमेटी के अपनी निम्नलिखित शिफारिशें रखी-

1. ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, खण्ड(ब्लाक) स्तर पर पंचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद। अर्थात् पंचायतों की त्रिस्तरीय संरचना बनायी जाये।
2. पंचायती राज में लोगों को सत्ता का हस्तान्तरण किया जाना चाहिए।
3. पंचायती राज संस्थाऐं जनता के द्वारा निर्वाचित होनी चाहिए और सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अधिकारी उनके अधीन होने चाहिए।
4. साधन जुटाने व जन सहयोग के लिए इन संस्थाओं को पर्याप्त अधिकार दिये जाने चाहिए।
5. सभी विकास सम्बन्धी कार्यक्रम व योजनाऐं इन संगठनों के द्वारा लागू किये जाने चाहिए।
6. इन संगठनों को उचित वित्तीय साधन सुलभ करवाये जाने चाहिए।

राजस्थान वह पहला राज्य है, जहाँ पंचायती राज की स्थापना की गयी। 1958 में सर्वप्रथम पंडित जवाहर लाल नेहरू ने 02 अक्टूबर को राजस्थान के नागौर जिले में पंचायती राज का दीपक प्रज्जवलित किया और धीरे-धीरे गाँवों में पंचायती राज का विकास शुरू हुआ। सत्ता के विकेन्द्रीकरण की दिशा में यह पहला कदम था। 1959 में आन्ध्र प्रदेश में भी पंचायती राज लागू किया गया। 1959 से 1964 तक के समय में विभिन्न राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं को लागू किया गया और इन संस्थाओं ने कार्य प्रारम्भ किया। लेकिन इस राज से ग्रामीण तबके के लोगों का नेतृत्व उभरने लगा जो कुछ स्वार्थी लोगों की आँखों में खटकने लगा, क्योंकि वे शक्ति व अधिकारों को अपने तक ही सीमित रखना चाहते थे। फलस्वरूप पंचायती राज को तोड़ने की कोशिशें भी शुरू हो गयी। कई राज्यों में वर्षों तक पंचायतों में चुनाव ही नहीं कराये गये। 1969 से 1983 तक का समय पंचायती राज व्यवस्था के ह्रास का समय था। लम्बे समय तक पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव नहीं करवाये गये और ये संस्थाऐं निष्क्रीय हो गयी।

20.6.2 अशोक मेहता समिति

जनता पार्टी के सत्ता में आने के बाद पंचायतों को मजबूत करने के उद्देश्य से 12 दिसम्बर 1977 को पंचायती राज संस्थाओं में आवश्यक परिवर्तन सुझाने के लिए में श्री "अशोक मेहता" की अध्यक्षता में 13 सदस्यों की कमेटी गठित की गयी। समिति ने पंचायती राज संस्थाओं मे आई गिरावट के लिए कई कारणों को जिम्मेदार बताया। इसमें प्रमुख था कि पंचायती राज संस्थाओं को ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों से बिल्कुल अलग रखा गया है। अशोक मेहता समिति ने महसूस किया कि पंचायती राज संस्थाओं की अपनी कमियां स्थानीय स्वशासन को मजबूती नहीं प्रदान कर पा रही हैं। इस समिति द्वारा पंचायतों को सुदृढ़ बनाने के लिए निम्न सुझाव दिये गये-

1. समिति ने दो स्तरों वाले ढाँचे- जिला परिषद को मजबूत बनाने और ग्राम पंचायत की जगह मण्डल पंचायत की सिफारिश की। अर्थात पंचायती राज संस्थाओं के दो स्तर हों, जिला परिषद व मंडल परिषद।
2. जिले को तथा जिला परिषद को समस्त विकास कार्यों का केन्द्र बनाया जाए। जिला परिषद ही आर्थिक नियोजन करें और जिले में विकास कार्यों में सामन्जस्य स्थापित करें और मंडल पंचायतों को निर्देशन दें।
3. पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचन में जिला परिषद को मुख्य स्तर बनाने और राजनैतिक दलों की सक्रिय भागीदारी पर बल दिया।
4. पंचायतों के सदस्यों के नियमित चुनाव की सिफारिश की। राज्य सरकारों को पंचायती चुनाव स्थगित न करने व चुनावों का संचालन मुख्य चुनाव आयुक्त के द्वारा किये जाने का सुझाव दिया।
5. कमेटी ने यह सुझाव भी दिया कि पंचायती राज संस्थाओं को मजबूती प्रदान करने के लिये संवैधानिक प्रावधान बहुत ही आवश्यक हैं।
6. पंचायती राज संस्थाऐं समिति प्रणाली के आधार पर अपने कार्यों का सम्पादन करें।
7. राज्य सरकारों को पंचायती राज संस्थाओं के अधिकारों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।
8. देश के कई राज्यों ने इन सिफारिशों को नहीं माना, अतः तीन स्तरों वाले ढाँचे को ही लागू रखा गया।

इस प्रकार अशोक मेहता समिति ने पंचायती राज व्यवस्था में सुधार लाने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण शिफारिशें की, किन्तु ग्राम पंचायतों को समाप्त करने की उनकी शिफारिश पर विवाद पैदा हो गया। ग्राम पंचायतों की समाप्ति का मतलब था, ग्राम विकास की मूल भावना को ही समाप्त कर देना। समिति के सदस्य सिद्धराज चड्डा ने इस विषय पर लिखा कि ''मुझे जिला परिषदों और मंडल पंचायतों से कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु समिति ने ग्राम सभा की कोई चर्चा नहीं की, जबकि पंचायती राज संस्थाओं की आधारभूत इकाई तो ग्राम सभा को ही बनाया जा सकता था।''

20.6.3 जी0वी0के0 समिति

पंचायतों के सुदृढ़ीकरण(विकास) की प्रक्रिया में सन् 1985 में 'जी0वी0के0 राव समिति' गठित की गयी। समिति ने पंचायती राज संस्थाओं को अधिक अधिकार देकर उन्हें सक्रिय बनाने पर बल दिया। साथ ही यह सुझाव भी दिया कि योजना निर्माण और उसके संचालन करने के लिये जिला मुख्य इकाई होना चाहिये। समिति ने पंचायतों के नियमित चुनाव की भी सिफारिश की।

20.6.4 डॉ0 एल0एम0 सिंघवी समिति

1986 में डॉ0 एल0एम0 सिंघवी समिति का गठन किया गया। सिंघवी सामिति ने 'गाँव पंचायत' (ग्राम-सभा) की सिफारिश करते हुये संविधान में ही नया अध्याय जोड़ने की बात कही, जिससे पंचायतों की अवहेलना ना हो सके। इन्होंने ने गाँव के समूह बना कर न्याय पंचायतों के गठन की भी सिफारिश की।

20.6.5 सरकारिया आयोग और पी0 के0 थुंगर समिति

1988 में सरकारिया आयोग बैठाया गया, जो मुख्य रुप से केन्द्र व राज्यों के संबंधों से जुड़ा था। इस आयोग ने भी नियमित चुनावों और ग्राम पंचायतों को वित्तीय व प्रशासनिक शक्तियाँ देने की सिफारिश की। 1988 के अंत में ही पी0 के0 थुंगर की अध्यक्षता में संसदीय परामर्श समिति की उपसमिति गठित की गयी। इस समिति ने पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा देने की शिफारिश की।

भूतपूर्व प्रधानमन्त्री स्व. राजीव गाँधी की सरकार ने गाँवों में पंचायतों के विकास की ओर अत्यधिक प्रयास करने शुरू किये। श्री राजीव गाँधी का विचार था कि जब तक गाँव के लोगों को विकास प्रक्रिया में भागीदार नहीं बनाया जाता, तब तक ग्रामीण विकास का लाभ ग्रामीण जनता को नहीं मिल सकता। पंचायती राज के द्वारा वे गाँव वालों के खासकर अनुसूचित जाति, जनजाति तथा महिलाओं की सामाजिक व आर्थिक स्थिति में बदलाव लाना चाहते थे। उन्होंने इस दिशा में कारगर कदम उठाते हुये 64वां संविधान विधेयक संसद में प्रस्तुत किया। लोक सभा ने 10 अगस्त 1988 को इस विधेयक को अपनी मंजूरी दे दी। मगर राज्य सभा में सिर्फ पाँच मतों की कमी रह जाने से यह पारित न हो सका। फिर 1991 में तत्कालीन सरकार ने 73वां संविधान संशोधन विधेयक को संसद में पेश किया। लोक सभा ने 02 दिसम्बर 1992 को इसे सर्व सम्मति से पारित कर दिया। राज्य सभा ने अगले ही दिन इसे अपनी मंजूरी दे दी। उस समय 20 राज्यों की विधान सभाऐं कार्यरत थीं। 20 राज्यों की विधान सभाओं में से 17 राज्यों की विधान सभाओं ने संविधान संशोधन विधेयक को पारित कर दिया। 20 अप्रैल 1993 को राष्ट्रपति ने भी इस विधेयक को मंजूरी दे दी। तत्पश्चात 73वां संविधान संशोधन अधिनियम 24 अप्रैल से लागू हो गया।

20.5 तिहत्तरवां संविधान संशोधन अधिनियम

स्वतन्त्रता पश्चात देश को सुचारू रूप से चलाने के लिये हमारे नीति निर्माताओं द्वारा भारतीय संविधान का निर्माण किया गया। इस संविधान में नियमों के अनुरूप व एक नियत प्रक्रिया के अधीन जब भी कुछ परिवर्तन किया जाता है या उसमें कुछ नया जोड़ा जाता है अथवा हटाया जाता है तो यह संविधान संशोधन अधिनियम कहलाता है। भारत में सदियों से चली आ रही पंचायत व्यवस्था जो कई कारणों से काफी समय से मृतप्रायः हो रही थी, को पुर्नजीवित करने के लिये संविधान में संशोधन किये गये। ये संशोधन तिहत्तरवां व चौहत्तरवां संविधान संशोधन अधिनियम कहलाये। तिहत्तरवें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना की गयी। इसी प्रकार चौहत्तरवें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा भारत के नगरीय क्षेत्रों में नगरीय स्वशासन की स्थापना की गयी। इन अधिनियमों के अनुसार भारत के प्रत्येक राज्य में नयी पंचायती राज व्यवस्था को आवश्यक रूप से लागू करने के नियम बनाये गये। इस नये पंचायत राज अधिनियम से त्रिस्तरीय पंचायत व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने व स्थानीय स्तर पर उसे मजबूत बनाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस अधिनियम में जहाँ स्थानीय स्वशासन को प्रमुखता दी गयी है व सक्रिय किये जाने के निर्देश हैं, वहीं दूसरी ओर सरकारों को विकेन्द्रीकरण हेतु बाध्य करने के साथ-साथ वित्तीय संसाधनों की उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिये वित्त आयोग का भी प्रावधान किया गया है।

73वां संविधान संशोधन अधिनियम अर्थात "नया पंचायती राज अधिनियम" प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र को जनता तक पहुँचाने का एक उपकरण है। गाँधी जी के स्वराज के स्वप्न को साकार करने की पहल है। 'पंचायती राज' स्थानीय जनता का, जनता के लिये, जनता के द्वारा शासन है।

20.7.1 तिहत्तरवें संविधान संशोधन के पिछे सोच

पंचायतों को मजबूत करने, अधिकार सम्पन्न बनाने और स्थानीय स्वशासन की इकाई के रूप में स्थापित करने हेतु संविधान में 73वां संशोधन अधिनियम एक क्रान्तिकारी कदम है। 73वें संविधान संशोधन के पीछे निम्न सोच है-

1. निर्णय को विकेन्द्रीकृत करना तथा स्थानीय स्तर पर संवैधानिक एवं लोकतांत्रिक प्रकिया शुरू करना।
2. स्थानीय स्तर पर पंचायत के माध्यम से निर्णय प्रक्रिया, विकास कार्यों व शासन में लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करना।
3. ग्राम विकास प्रक्रिया के नियोजन, क्रियान्वयन तथा निगरानी में गाँव के लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करना व उन्हें अपनी जिम्मेदारी का अहसास कराना।
4. लम्बे समय से हासिये पर रहने वाले तबकों जैसे महिला, दलित एवं पिछड़ों को ग्राम विकास व निर्णय प्रक्रिया में शामिल करके उन्हें विकास की मुख्य धारा से जोड़ना।
5. स्थानीय स्तर पर लोगों की सहभागिता बढ़ाना व लोगों को अधिकार देना।

20.7.2 73वें संविधान संशोधन अधिनियम की मुख्य बातें

लोकतंत्र को मजबूत करने के लिये नई पंचायत राज व्यवस्था एक प्रशंसनीय पहल है। महात्मा गाँधी जी का कहना था कि, ''देश में सच्चा लोकतंत्र तभी स्थापित होगा जब भारत के लाखों गाँवों को अपनी व्यवस्था स्वयं चलाने का अधिकार प्राप्त होगा। गाँव के लिये नियोजन की प्राथमिकता का चयन लोग स्वयं करेंगे। ग्रामीण अपने गाँव विकास सम्बन्धी सभी निर्णय स्वयं लेंगे। ग्राम विकास कार्यक्रम पूर्णतया लोगों के होंगे और सरकार उनमें अपनी भागीदारी देगी।'' गाँधी जी के इस कथन को महत्व देते हुये तथा उनके ग्राम-स्वराज के स्वप्न को साकार करने के लिये भारतीय सरकार ने पंचायतों को बहुत से अधिकार दिये हैं। तिहत्तरवें संविधान अधिनियम में निम्न बातों को शामिल किया गया है-

1. 73वें संविधान संशोधन के अर्न्तगत पंचायतों को पहली बार संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। अर्थात पंचायती राज संस्थाऐं अब संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त संस्थाऐं हैं।
2. नये पंचायती राज अधिनियम के अनुसार ग्राम सभा को संवैधानिक स्तर पर मान्यता मिली है। साथ ही इसे पंचायत व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बना दिया गया है।
3. यह तीन स्तरों- ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत और जिला पंचायत पर चलने वाली व्यवस्था है।
4. एक से ज्यादा गाँवों के समूहों से बनी ग्राम पंचायत का नाम सबसे अधिक आबादी वाले गाँव के नाम पर होगा।
5. इस अधिनियम के अनुसार महिलाओं के लिये त्रिस्तरीय पंचायतों में एक तिहाई सीटों पर आरक्षण दिया गया है।
6. अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिये भी जनसंख्या के आधार पर आरक्षण दिया गया है। आरक्षित वर्ग के अलावा सामान्य सीट से भी ये लोग चुनाव लड़ सकते हैं।

7. पंचायतों का कार्यकाल पाँच वर्ष तय किया गया है तथा कार्यकाल पूरा होने से पहले चुनाव कराया जाना अनिवार्य किया गया है।
8. पंचायत 06 माह से अधिक समय के लिये भंग नहीं रहेगी तथा कोई भी पद 6 माह से अधिक खाली नहीं रहेगा।
9. इस संशोधन के अन्तर्गत पंचायतें अपने क्षेत्र के आर्थिक विकास और सामाजिक कल्याण की योजनायें स्वयं बनायेंगी और उन्हें लागू करेंगी। सरकारी कार्यों की निगरानी अथवा सत्यापन करने का भी अधिकार उन्हें दिया गया है।
10. 73वें संविधान संशोधन के अन्तर्गत पंचायतों को ग्राम सभा के सहयोग से विभिन्न जनकल्याणकारी योजनाओं के अन्तर्गत लाभार्थी के चयन का भी अधिकार दिया गया है।
11. हर राज्य में वित्त आयोग का गठन होता है। यह आयोग हर पाँच साल बाद पंचायतों के लिये सुनिश्चित आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर वित्त का निर्धारण करेगा।
12. उक्त संशोधन के अन्तर्गत ग्राम प्रधानों का चयन प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा तथा क्षेत्र पंचायत प्रमुख व जिला पंचायत अध्यक्षों का चयन निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुना जाना तय है।
13. पंचायत में जबाबदेही सुनिश्चित करने के लिये छः समितियों (नियोजन एवं विकास समिति, शिक्षा समिति तथा निर्माण कार्य समिति, स्वास्थ्य एवं कल्याण समिति, प्रशासनिक समिति, जल प्रबन्धन समिति) की स्थापना की गयी है। इन्हीं समितियों के माध्यम से कार्यक्रम नियोजन एवं क्रियान्वयन किया जायेगा।
14. हर राज्य में एक स्वतंत्र निर्वाचन आयोग की स्थापना की गयी है। यह आयोग निर्वाचन प्रक्रिया, निर्वाचन कार्य, उसका निरीक्षण तथा उस पर नियन्त्रण भी रखेगा।

अतः संविधान के 73वें संशोधन ने नयी पंचायत व्यवस्था के अन्तर्गत न केवल पंचायतों को केन्द्र एवं राज्य सरकार के समान एक संवैधानिक दर्जा दिया है अपितु समाज के कमजोर व शोषित वर्ग को विकास की मुख्य धारा से जुड़ने का भी अवसर दिया है।

20.7.3 तिहत्तरवें संविधान संशोधन की मुख्य विशेषताऐं

73वां संविधान संशोधन अधिनियम पंचायती राज से संबंधित है, जिसमें पंचायतों से संबंधित व्यवस्था का पूर्ण विधान किया गया है। इसकी निम्नलिखित विशेषताऐं हैं-

1. संविधान में ''ग्राम सभा'' को पंचायती राज की आधारभूत इकाई के रुप में स्थान मिला है।
2. पंचायतों की त्रीस्तरीय व्यवस्था की गयी है। ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, क्षेत्र स्तर पर (ब्लाक स्तर) क्षेत्र पंचायत व जिला स्तर पर जिला पंचायत की व्यवस्था की गयी है।
3. प्रत्येक स्तर पर पंचायत के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष मतदान के द्वारा की जाने की व्यवस्था है। लेकिन क्षेत्र व जिला स्तर पर अध्यक्षों के चुनाव चुने हुए सदस्यों में से, सदस्यों द्वारा किये जाने की वयवस्था है।
4. 73वें संविधान संशोधन में अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए उस क्षेत्र की कुल जनसंख्या में उसके प्रतिशत के अनुपात से सीटों के आरक्षण की व्यवस्था है। महिलाओं के लिए कुल सीटों का एक तिहाई भाग प्रत्येक स्तर पर आरक्षित किया गया है। अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में ही आरक्षण की व्यवस्था है। प्रत्येक स्तर पर अध्यक्षों के कुल पदों का एक-तिहाई भाग महिलाओं के लिए आरक्षित किया गया है।

5. अधिनियम में पंचायतों का कार्यकाल(पॉच वर्ष) निश्चित किया गया है। यदि कार्यकाल से पहले ही पंचायत भंग हो जाय तो 06 माह के भीतर चुनाव कराने की व्यवस्था है।
6. अधिनियम के द्वारा पंचायतों से संबंधित सभी चुनावों के संचालन के लिए राज्य चुनाव आयोग को उत्तरदायी बनाया गया है।
7. अधिनियम के द्वारा प्रत्येक राज्य में राज्य वित्त आयोग का गठन किया गया है, ताकि पंचायतों के पास पर्याप्त साधन उपलब्ध हो। जिससे विभिन्न विकास कार्य किये जा सकें।

20.8 स्थानीय स्वशासन और पंचायतें

स्थानीय स्वशासन को स्थापित करने में पंचायतों की अहम भूमिका है। पंचायतें हमारी संवैधानिक रूप से मान्यता प्राप्त संस्थाऐं हैं और प्रशासन से भी उनका सीधा जुड़ाव है। भारत में प्राचीन काल से ही स्थानीय स्तर पर शासन का संचालन पंचायत ही करती आयी हैं। स्थानीय स्तर पर स्वशासन के स्वप्न को साकार करने का माध्यम पंचायतें ही हैं। चूँकि पंचायतें स्थानीय लोगों के द्वारा गठित होती हैं, और इन्हें संवैधानिक मान्यता भी प्राप्त है, अतः पंचायतें स्थानीय स्वशासन को स्थापित करने का एक अचूक तरीका है। ये संवैधानिक संस्थाऐं ही आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की योजनाऐं ग्रामसभा के साथ मिलकर बनायेंगी व उसे लागू करेंगी। गाँव के लिये कौन सी योजना बननी है? कैसे क्रियान्वित करनी है? क्रियान्वयन के दौरान कौन निगरानी करेगा? ये सभी कार्य पंचायतें गाँव के लोगों (ग्रामसभा सदस्यों) की सक्रिय भागीदारी से करेंगी। इससे निर्णय स्तर पर आम जनसमुदाय की भागीदारी सुनिश्चित होगी।

स्थानीय स्वशासन तभी मजबूत हो सकता है जब पंचायतें मजबूत होंगी और पंचायतें तभी मजबूत होंगी, जब लोग मिलजुल कर इसके कार्यों में अपनी भागीदारी देंगे और अपनी जिम्मेदारी को समझेंगे। लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करने के लिये पंचायतों के कार्यों में पारदर्शिता होना जरूरी है। पहले भी लोग स्वयं अपने संसाधनों से अपने ग्राम विकास का प्रबन्धन करते थे। इसमें कोई शक नहीं कि वह प्रबन्धन आज से कहीं बेहतर भी होता था। हमारी परम्परागत रूप से चली आ रही स्थानीय स्वशासन की सोच बीते समय के साथ कमजोर हुई है। नई पंचायत व्यवस्था के माध्यम से इस परम्परा को पुनः जीवित होने का मौका मिला है। अतः ग्रामीणों को चाहिये कि पंचायत और स्थानीय स्वशासन की मूल अवधारणा को समझने की चेष्टा करें, ताकि ये दोनों ही एक-दूसरे के पूरक बन सकें।

गाँवों का विकास तभी सम्भव है, जब सम्पूर्ण ग्रामवासियों को विकास की मुख्य धारा से जोड़ा जायेगा। जब तक गाँव के सामाजिक तथा आर्थिक विकास के निर्णयों में गाँव के पहले तथा अन्तिम व्यक्ति की बराबर की भागीदारी नहीं होगी, तब तक हम ग्राम स्वराज की कल्पना नहीं कर सकते हैं। जनसामान्य की अपनी सरकार तभी मजबूत बनेगी जब लोग ग्रामसभा और ग्रामपंचायत में अपनी भागीदारी के महत्व को समझेंगे।

अभ्यास प्रश्न- 2

1. बलवंत राय समिति का गठन कब किया गया?
2. पंचायतों के विकास के लिए गठित किस समिति ने त्री-स्तरीय पंचायती राज की बात कही?
3. राजस्थान वह पहला राज्य है, जहाँ पंचायती राज की स्थापना की गयी। सत्य/असत्य
4. राजस्थान के किस जिले में 02 अक्टूबर 1958 को पंचायती राज की शुरूआत की गयी?
5. किस समिति ने पंचायतों की दो स्तरीय व्यवस्था की सिफारिश की थी?

6. के0जी0वी0 राव समिति कब गठित की गयी?
7. किस समिति ने गाँव के समूह बना कर न्याय पंचायतों के गठन की सिफारिश की थी?

20.9 सांराश

वैदिक काल से चली आ रही पंचायत व्यवस्था देश में लगभग मृतप्राय हो चुकी थी, जिसे गाँधी जी, बलवन्त राय मेहता समिति, अशोक मेहता समिति, जी0के0वी0 राव समिति, एल0एम0 सिंघवी रिपोर्ट के प्रयासों ने नवजीवन दिया। जिसके फलस्वरूप 73वां संविधान संशोधन विधेयक संयुक्त संसदीय समिति की जाँच के बाद पारित हुआ। 73वें संविधान संशोधन से गाँधी जी के ग्राम स्वराज के स्वप्न को एक नई दिशा मिली है। गाँधी जी हमेशा से गाँव की आत्मनिर्भता पर जोर देते रहे। गाँव के लोग अपने संसाधनों पर निर्भर रह कर स्वयं अपना विकास करें, यही ग्राम स्वराज की सोच थी। 73वें सविधान संशोधन के पीछे मूलधारणा भी यही थी कि स्थानीय स्तर पर विकास की प्रक्रिया में जनसमुदाय की निर्णय स्तर पर भागीदारी हो। 73वां संविधान संशोधन अधिनियम वास्तव में एक मील का पत्थर है जिसके द्वारा आम जन को सुशासन में भागीदारी करने का सुनहरा मौका प्राप्त हुआ है।

20.10 शब्दावली

सुदृढ़िकरण- सुधार और मजबूत करने की प्रक्रिया, प्रबलतम- मजबूत, स्वावलम्बन- आत्मनिर्भरता, नगण्य- नहीं के बराबर (अनुपस्थित), हस्तांतरण- एक स्थान से दुसरे स्थान पर, त्रीस्तरीय - तीन स्तर पर (गाम पंचायत, क्षेत्र पंचायत व जिला पंचायत)

20.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न-1 **1.** मांटेस्क्यू चेम्सफोर्स सुधार, **2.** 73वां संविधान संशोधन, **3.** 1952

अभ्यास प्रश्न-2 **1.** 1960, **2.** बलवंत राय मेहता समिति, **3.** सत्य, **4.** पंडित जवाहर लाल नेहरू, नागौर जिला, **5.** अशोक मेहता समिति, **6.** 1985, **7.** सिंघवी समिति

20.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. 73वां संविधान संशोधन अधिनियम।
2. पंचायत सन्दर्भ सामाग्री, हिमालयन एक्शन रिसर्च सेन्टर।

20.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारत में पंचायती राज- के0के0 शर्मा।
2. रोल ऑफ पंचायत इन वैलफेयर स्टेट- अब्राहम मैथ्यू।
3. भारत में स्थानीय शासन- एस0 आर0 माहेश्वरी।
4. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

20.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. पंचायती राज से आप क्या समझते हैं? इसके इतिहास और संवैधानिक पहलुओं की व्याख्या करें।
2. 73वें संविधान संशोधन अधिनियम की उपयोगिता पर विस्तार से चर्चा कीजिए।

इकाई- 21 चौहतरवां(74वां) संविधान संशोधन और नगरीय स्थानीय सरकार

इकाई की संरचना

21.0 प्रस्तावना
21.1 उद्देश्य
21.2 चौहतरवां संविधान संशोधन
21.2.1 चौहतरवें संविधान संशोधन के पीछे सोच
21.2.2 चौहतरवें संविधान संशोधन का उद्देश्य
21.2.3 चौहतरवें संविधान संशोधन की आवश्यकता
21.2.4 चौहतरवें संविधान संशोधन की विशेषताऐं
21.3 नगरीय स्थानीय सरकार
21.3.1 नगरीय स्थानीय सरकार- ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
21.3.2 नगरीय स्थानीय सरकार की कार्य एवं शक्तियाँ
21.4 नगरीय स्थानीय सरकार से संबंधित विषय
21.5 नगरीय स्थानीय सरकार के कार्य एवं शक्तियाँ
21.6 सारांश
21.7 शब्दावली
21.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
21.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
21.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
21.11 निबंधात्मक प्रश्न

21.0 प्रस्तावना

सत्ता विकेन्द्रीकरण की दिशा में संविधान का 73वां और 74वां संविधान संशोधन एक महत्वपूर्ण और निर्णायक कदम हैं। 74वां संविधान संशोधन नगर निकायों में सत्ता विकेन्द्रीकरण का एक मजबूत आधार है। अतः इस अध्याय में हम 74वें संविधान संशोधन की आवश्यकता और 74वें संविधान संशोधन में मौजूद उपबंधों और नियमों को स्पष्ट करेंगे। भारत विश्व में सबसे बड़ा लोकतंत्र के रूप में जाना जाता है। इस लोकतंत्र का सबसे रोचक महत्वपूर्ण पक्ष है, सत्ता व शक्तियों का विकेन्द्रीकरण। अर्थात केन्द्र स्तर से लेकर स्थानीय स्तर पर गाँव इकाई तक सत्ता व शक्ति का बंटवारा ही विकेन्द्रीकरण कहलाता है। विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से ही भारत में विद्यमान थी। राजा/महाराजाओं के समय भी सभा, परिषद, समितियां, सूबे आदि के माध्यम से शासन चलाया जाता था। लोगों को उनकी जरुरतें पूरी करने के लिए निर्णयों में हमेशा महत्वपूर्ण सहभागी माना जाता था। लेकिन जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, लोगों को शासन व लोक विकास में भागीदारी से अलग कर दिया गया तथा उनके अपने हित व विकास के लिए बनाई जाने वाले कार्यक्रम व नीतियों पर केन्द्र सरकार या राज्य सरकार का नियंत्रण होता गया।

परन्तु यह प्रक्रिया जनता की जरूरतों को पूरी नहीं कर पाती थी। विकास गतिविधियों को चलाने में लोगों की सहभागिता को प्रोत्साहित नहीं करती थी और लोगों को भी यह नहीं लगता था कि लागू की जा रही योजना अथवा कार्यक्रम उनका अपना है। इसलिए यह महसूस किया गया कि लोगों को कार्य योजनाऐं स्वयं बनानी चाहिए, क्योंकि उन्हें अपनी आवश्यकताओं का पता होता है कि किस प्रकार वे अपने जीवन स्तर में सुधार ला सकते हैं एवं वे अपने विकास में सहभागी बन सकते हैं? अतः यह महसूस किया गया कि लोगों के लिए योजना बनाने की प्रक्रिया अनिवार्य रूप से नीचे से उपर की ओर होनी चाहिये, क्योंकि लोगों को अपनी जरूरतों की पहचान होती है जिससे वे योजनाओं के वरीयता क्रमों को निर्धारित करते हुए योजना बना सकते हैं। कार्यक्रम क्रियान्वित करने वाले कार्मिक जनता/समुदाय की योजनाओं को समेकित कर सकते हैं। शासन के सबसे छोटे स्तर से लोगों की सहभागिता व शासन में सीधी भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए संविधान का 73वां व 74वां संविधान संशोधन एक प्रमुख कदम है।

21.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- चौहत्तरवें संविधान संशोधन के संबंध में जान पायेंगे।
- चौहत्तरवें संविधान संशोधन के अन्तंगत नगर निकायों के विषय में दी गयी धाराओं के विषय में जान पायेंगे।
- नगर निकायों के वित्तीय प्रबन्ध, गठन, कार्यकाल, उसकी बैठक और कार्यवाहियों को समझ पायेंगे।
- नगर निकायों से संबंधित विषय, उनके कार्य एवं शक्तियाँ के विषय में जान पायेंगे।

21.2 चौहतरवां संविधान संशोधन

भारत में स्थानीय स्तर पर शासन-सत्ता को संवैधानिक दर्जा देने और मजबूती प्रदान करने के लिए संविधान में 73वां और 74वां संविधान संशोधन किया गया। जहाँ 73वां संविधान संशोधन ग्राम स्तर पर पंचायतों के माध्यम से शासन-सत्ता संचालन की कानूनी मान्यता देता है, वहीं 74वां संविधान संशोधन शहरी स्तर पर नगर निकायों के माध्यम से शासन-सत्ता संचालन की कानूनी मान्यता देता है तथा अंतिम व्यक्ति को शासन-सत्ता में भागीदारी का मौका देता है।

21.2.1 चौहतरवें संविधान संशोधन के पीछे सोच

74वें संविधान संशोधन अधिनियम के पिछे निम्नलिखित सोच थी-

1. संविधान के 74वें संशोधन अधिनियम द्वारा नगर-प्रशासन को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है।
2. इस संशोधन के अन्तर्गत नगर निगम, नगर पालिका, नगर परिषद एवं नगर पंचायतों के अधिकारों में एक रूपता प्रदान की गयी है।
3. नगर विकास व नागरिक कार्यकलापों में आम जनता की भागीदारी सुनिश्चित की गयी है। तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया तक नगर व शहरों में रहने वाली आम जनता की पहुँच बढ़ाई गयी है।
4. समाज के कमजोर वर्गों, जैसे- महिलाओं, अनुसूचित जाति व जनजाति और पिछड़े वर्गों का प्रतिशतता के आधार पर प्रतिनिधित्व सुनिश्चित कर उन्हें भी विकास की मुख्य धारा से जोड़ने का प्रयास किया गया है।

5. 74वें संविधान संशोधन के माध्यम से नगरों व कस्बों में स्थानीय स्वशासन को मजबूत बनाने के प्रयास किये गये हैं।
6. इस संविधान संशोधन की मुख्य भावना लोकतांत्रिक प्रक्रिया की सुरक्षा, निर्णय में अधिक पारदर्शिता व लोगों की आवाज पहुँचाना सुनिश्चित करना है।

21.2.2 चौहतरवें संविधान संशोधन का उद्देश्य

74वें संविधान संशोधन के निम्न उद्देश्य हैं-

1. देश में नगर संस्थाओं, जैसे- नगर निगम, नगर पालिका, नगर परिषद तथा नगर पंचायतों के अधिकारों में एकरूपता रहे।
2. नागरिक कार्यकलापों में जन-प्रतिनिधियों का पूर्ण योगदान तथा राजनैतिक प्रक्रिया में निर्णय लेने का अधिकार रहे।
3. नियमित समयान्तराल में प्रादेशिक निर्वाचन आयोग के अधीन चुनाव हो सके व कोई भी निर्वाचित नगर प्रशासन छः माह से अधिक समयावधि तक भंग न रहे, जिससे कि विकास में जन-प्रतिनिधियों का नीति निर्माण, नियोजन तथा क्रियान्वयन में प्रतिनिधित्व सुनिश्चित हो सके।
4. समाज की कमजोर वर्गों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिये (संविधान संशोधन अधिनियम में प्राविधानित/निर्दिष्ट) प्रतिशतता के आधार पर अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व महिलाओं को तथा राज्य (प्रादेशिक) विधान मण्डल के प्रावधानों के अन्तर्गत पिछड़े वर्गों को नगर प्रशासन में आरक्षण मिलें।
5. प्रत्येक प्रदेश में स्थानीय नगर निकायों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये एक राज्य (प्रादेशिक) वित्त आयोग का गठन हो, जो राज्य सरकार व स्थानीय नगर निकायों के बीच वित्त हस्तान्तरण के सिद्धान्तों को परिभाषित करे, जिससे कि स्थानीय निकायों का वित्तीय आधार मजबूत बने।
6. सभी स्तरों पर पूर्ण पारदर्शिता रहे।

21.2.3 चौहतरवें संविधान संशोधन की आवश्यकता

पूर्व में नगरीय स्थानीय स्वशासन व्यवस्था लोकतन्त्र की मंशा के अनुरूप नहीं थी। सबसे पहली कमी इसमें यह थी कि इसका वित्तीय आधार कमजोर था। वित्तीय संसाधनों की कमी होने के कारण नगर निकायों के कार्य संचालन पर राज्य सरकार का ज्यादा से ज्यादा नियंत्रण था, जिसके कारण धीरे-धीरे नगर निकायों के द्वारा किये जाने वाले अपेक्षित कार्यों/या उन्हें सौंपे गये कार्यों में कमी होनी लगी। नगर निकायों के प्रतिनिधियों की बरखास्ती या नगर निकायों का कार्यकाल समाप्त होने पर भी समय पर चुनाव नहीं हो रहे थे। इन निकायों में कमजोर व उपेक्षित वर्गों (महिला, अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति)का प्रतिनिधित्व न के बराबर था। अतः इन कमियों को देखते हुए संविधान के 74वें संशोधन अधिनियम में स्थानीय नगर निकायों की संरचना, गठन, शक्तियों, और कार्यों में अनेक परिवर्तन का प्राविधान किया गया।

21.2.4 चौहतरवें संविधान संशोधन की विशेषताऐं

74वें संविधान संशोधन विधेयक द्वारा संविधान में एक नया भाग 9 क जोड़ा गया, जिसमें कुल 18 अनुच्छेद हैं और एक नयी अनुसूची 12वीं अनुसूची जोड़कर नगरीय क्षेत्र की स्थानीय संस्थाओं को संवैधानिक स्तर प्रदान किया गया।

1. 74वें संविधान संशोधन द्वारा नगर निकायों को संवैधानिक मान्यता और संवैधानिक स्तर प्रदान किया गया।
2. इस संविधान संशोधन द्वारा नगर निकायों की देश भर में त्री-स्तरीय व्यवस्था की गयी- नगर पंचायत, नगर परिषद और नगर निगम।
3. इस अधिनियम में प्रत्यक्ष चुनावों के द्वारा नगर निकायों के गठन की व्यवस्था की गयी है।
4. यह अधिनियम वार्ड समितियों के बठन की व्यवस्था करता है। जिसमें 3 लाख या अससे अधिक की जनसंख्या वाले नगर निकायों में एक या अधिक वार्डों के लिए वार्ड समितियों का गठन किया जायेगा।
5. इस अधिनियम के माध्यम से प्रत्येक नगर निकायों में अनुसूचित जाति व जनजातियों के लिए सीटों में आरक्षण की व्यवस्था की गयी है। प्रत्येक क्षेत्र में सीटों का यह आरक्षण उस नगर निकाय के क्षेत्र में इन वर्गों की जनसंख्या के अनुपात में होगा तथा आरक्षित की गयी सीटों पर बारी-बारी से आवर्तन किया जायेगा।
6. इस अधिनियम के द्वारा नगर निकायों का कार्यकाल 05 वर्ष का होगा। नगर निकायों का कार्यकाल उसकी पहली बैठक की तिथि से, यदि वह निर्धारित तिथि से पूर्व भंग नहीं कर दी जाती है, तो 05 वर्ष निर्धारित की गयी है। यदि निर्धारित तिथि से पूर्व नगर निकाय को भंग किया जाता है तो 06 माह के भीतर उसके चुनाव कराये जाने होंगे।

21.3 नगरीय स्थानीय सरकार

भारत में नगरीय स्थानीय सरकारों में नगर निगम' स्थानीय प्रशासन की शीर्षस्थ इकाई है। नगरपालिका नगर परिषद और नगर पंचायत इसकी अन्य इकाईयां हैं। औद्योगिकीकरण के विस्तार के साथ ही महानगरों का विस्तार भी तेजी के साथ हुआ और महानगरों की संख्या तीव्र गति से बढी। महानगरों के बढते आकार ने इनकी प्रशासनिक व्यवस्था में भी परिवर्तन ला दिये। नगर संस्थाओं को अधिक लोकतांत्रिक बनाने के प्रयास तीव्र होने लगे।

21.3.1 नगरीय स्थानीय सरकार- ऐतिहासिक विकास

भारत में नगरीय प्रशासन का विकास एवं अस्तित्व प्राचीन काल से मिलता है। 'मनुस्मृति' और 'महाभारत' में नगर प्रशासन का उल्लेख मिलता है। मैगेस्थनीज की पुस्तक 'इन्डिका' में मौर्य शासन की राजधानी पाटलीपुत्र के नगर प्रशासन के विकास का उल्लेख मिलता है। अबुल फजल द्वारा रचित पुस्तक जो 'आईने अकबरी' जो 'अकबरनामा' का तीसरा भाग है, में मुगल साम्राज्य के नगरों और कस्बों के संबंध में जानकारी देता है। मुस्लिम शासन काल में नगर प्रशासन को कोतवाल नामक अधिकारी द्वारा चलाया जाता था। कोतवाल के कार्य बहुत व्यापक थे, जिनमें नगर में कानून और व्यवस्था बनाये रखना, अपराधों और सामाजिक बुराईयों को रोकना, बाजारों पर नियंत्रण बनाये रखना, वार्डों के अनुसार आम जनता का पंजीकरण व गुप्तचर व्यवस्था आदि के कार्य उसके अधीन थे।

मुस्लिम शासकों के बाद अंग्रेजी शासन ने भारत में कई कारणों से शहरी क्षेत्रों के स्थानीय स्वशासन के बारे में सोचा। इसके लिए उन्होंने भारत में पहले से ही प्रचलित देशी संस्थाओं के ढ़ाँचे को ग्रहण किया। ब्रिटिश सरकार ने सबसे पहले 1687 1726 में बम्बई और कलकत्ता में नगर निगम स्थापित किये। वित्तीय विकेन्द्रीकरण की दिशा में सन 1870 के लार्ड मेयो का प्रस्ताव ने स्थानीय स्वशासन को एक नई दिशा प्रदान की। इसके उपरान्त 1882 में लॉर्ड रिपन ने नगरपालिकाओं के गठन के लिए एक प्रस्ताव रखा जो नगरपालिका सरकार के इतिहास में एक

प्रभावकारी परिवर्तन लाया। इसी प्रकार 1909 में विकेन्द्रीकरण पर रॉयल कमीशन ने की रिपोर्ट एक महत्वपूर्ण कदम था। इस रिपोर्ट ने स्वायत्त प्रशासन के विकास की सिफारिश प्रशासननिक हस्तांतरण के रूप में की और नगर अधिकारियों को अधिक स्वायत्त शक्तियां देने पर जोर दिया। 1919 का भारत सरकार अधिनियम के एक भाग भी स्वायत्त सरकार से संबंधित था। इस अधिनियम की महत्वपूर्ण सिफारिशें निम्न थीं- गैर-सरकारी अध्यक्ष के साथ निर्वाचित बहुमत, मताधिकार को बढ़ाना, कर लगाने की स्वतंत्रता आदि। इन सिफारिशों के आधार पर 1920-30 के समय में नगर प्रशासन पर निर्वाचित अध्यक्ष का अधिकार रहा, किन्तु इस अवधि में नगरीय प्रशासन में भ्रष्टाचार भी रहा।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात नगर प्रशासन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। नगरीय प्रशासन को संवैधानिक मान्यता देते हुए इसमें लोकतंत्रीय प्रावधान और वयस्क मताधिकार के ढ़ाँचे पर अनेक परिवर्तन किए गए। नगर संस्थाओं को लोकतांत्रिक बनाया गया और नगर प्रशासन चलाने के लिए निर्वाचित सदस्यों को पर्याप्त शक्तियां दी गयी।

21.3.2 नगरीय स्थानीय सरकार की इकाईयाँ

भारत में नगरीय स्थानीय सरकार की वर्तमान संस्थाऐं अंग्रेजी शासनकाल में विकसित हुई। भारत में शहरी क्षेत्रों के प्रशासन के लिए आठ प्रकार के नगरीय इकाईयों का गठन किया गया है। इनका विस्तार से अध्ययन करते हैं।

1. **नगर निगम-** नगरीय स्थानीय सरकारों में नगर निगम सर्वोच्च इकाई है। नगर निगमों की स्थापना अधिक आबादी वाले महानगरीय क्षेत्रों में की जाती है। नगर निगमों का गठन 1 लाख या उससे अधिक जनसंख्या वाले क्षेत्रों में होता है। राज्यों में नगर निगमों की स्थापना राज्य विधान मण्डलों तथा केन्द्रशासित क्षेत्रों संसद द्वारा निर्मित अधिनियम द्वारा होती है। निगम एक वैधानिक संस्था है, जिसके अधिनियम में नगर निगम की संरचना, शक्तियों, निगम के अधिकारियों और कर्मचारियों का विवरण आदि का उल्लेख होता है। नगर निगम निम्नलिखित प्रमुख घटक होते हैं- परिषद,महापौर, समितियाँ और आयुक्त।

   परिषद, निगम की शक्तिशाली संस्था है और एक प्रकार की स्थानीय विधानसभा है। यह स्वशासन के सम्बन्ध में जनता की इच्छा को प्रकट करती है। इसके चुने हुए सदस्य पार्षद कहलाते हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा चुने जाते हैं। इनका कार्यकाल पॉच वर्ष का होता है। इसमें कुछ मनोनीत 'एल्डरमैन' भी सदस्य होते हैं। नगर निगमों में जनजाति, अनुसूचित जनजाति और महिलाओं का भी प्रतिनिधत्व होता है।

   नगर निगमों में महापौर का पद सम्मानजनक एवं महत्वपूर्ण होता है। महापौर नगर की जनता द्वारा पॉच वर्ष के के लिए चुना जाता है। यह नगर का प्रथम नागरिक होता है जो निगम की परिषदों की अध्यक्षता करता है। महापौर के साथ उप-महापौर का भी चुनाव होता है।

   निगम की प्रशासनिक शक्ति परिषद में निहित होती है और उन शक्तियों का उपयोग परिषद समितियों तथा मुख्य कार्यपालिका अधिकारी द्वारा करता है। परिषद की बैठकें महीने में प्रायः एक या दो बार से अधिक नहीं हो पाती। अतः कार्यों को उचित रूप से सम्पन्न करने के लिए परिषद कुछ समितियों का गठन करती है। ये समितियाँ दो प्रकार की होती हैं- संवैधानिक और गैर-संवैधनिक समितियाँ।

   आयुक्त, नगर निगम का प्रमुख कार्यकारी अधिकारी होता है, जिसकी जिसकी नियुक्ति राज्य शासन द्वारा की जाती है। नगर आयुक्त भारतीय प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठ सदस्य होता है, इसका वेतन निगम कोष से दिया जाता है। निगम के अन्तर्गत समस्त प्रशासनिक कार्य आयुक्त के नियन्त्रण में होते हैं तथा वह

आवश्यक मार्गदर्शन और नियन्त्रण करता है। इसके कार्य अनेक प्रकार के होते हैं। यह अधिनियम में उल्लिखित समस्त कर्तव्यों का पालन करता है। निगम आयुक्त परिषद की बैठकों में भाग लेता है। वह सभी नगर-विवरणों का अभिरक्षक है। वह बजट तैयार कर निगम के समक्ष रखता है तथा प्रशासनिक तन्त का प्रमुख होने के नाते सभी सरकारी कार्यों को विभिन्न विभागों के बीच बाँटता है।

नगर निगम दो प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करना है- ऐच्छिक एवं अनिवार्य कार्य। अनिवार्य कार्यों में विद्युत-प्रबन्ध, जल की व्यवस्था, यातायात सेवाओं का प्रबन्ध, गन्दगी तथा कूड़े-कचरे की सफाई, गलियों मूत्रालयों आदि की सफाई आदि। ऐच्दिक कार्य वे हैं, जो आवश्यक नहीं हैं किन्तु वित्तीय स्रोतों के आधार पर इन्हें किया जाता है। अपने कार्यों को सम्पन्न करने के लिए नगर निगम को कर लगाने का अधिकार प्राप्त है। निगम की आय के प्रमुख स्रोत हैं- कर लगाना, गैर-कर स्रोत, लाभकारी उद्यम और अनुदान आदि।

2. **नगरपालिकाएँ-** नगरपालिका का प्रारम्भ भारत में किसी न किसी रूप में ब्रिटिश शासनकाल में ही हो चुका था। नगरपालिका का गठन 50 हजार से 1 लाख तक की आआदी वाले क्षेत्रों में होता है। छोटे नगरों एवं शहरों में नगरपालिका स्थानीय स्थानय स्वशासन की महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली संस्था है। इनका शासन राज्यों के नगरपालिका अधिनियमों के अनुसार चलता है और केन्द्र शासित क्षेत्रों में संसद द्वारा पारित अधिनियम द्वारा। इस सम्बन्ध में दो बिन्दुओं का प्रकाश डालना आवश्यक है। प्रथम, देश में नगरपालिकाएँ अलग-अलग नामों से जानी जाती हैं, जैसे- नगरपालिका, नगरपालिका समिति, नगरपालिका बोर्ड, आदि। द्वितीय, भारत में इन संस्थाओं के संगठन में समान्यतः एकरूपता है। नगरपालिकाओं और नगर निगमों में क्षेत्र, जनंसख्या, शक्तियों, कार्यों, वित्तीय शक्तियों और प्रशासनिक सम्बन्धों की असामनता है। साथ ही स्थानीय स्वशासन का विषय राज्य-सूची में होने के कारण भिन्न-भिन्न राज्यों की नगरपालिकाओं की रचना के नियम एकसमान नहीं हैं।

   नगर निगम के समान ही नगरपालिकाओं के भी तीन प्रमुख अंग हैं- परिषद, नगरपालिका अध्यक्ष एवं नगरपालिका आयुक्त। नगरपालिका जिसे नगर परिषद् भी कहते हैं, जिसमें वयस्क मताधिकार द्वारा चुने हुए पार्षद होते हैं। इसमें तीन प्रकार के सदस्य होते हैं- पार्षद, पदेन अधिकारी तथा एल्डरमैन। परिषद के सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। एक नगर को अनेक चुनाव-क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक चुनाव-क्षेत्र से एक सदस्य जनता द्वारा चुना जाता है। लगभग सभी नगरपालिकाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं। नगरपालिका के सदस्यों का कार्यकाल 05 वर्ष का होता है। सरकार समय के पूर्व नगरपालिका को भंग कर सकती है और उसके कार्यों को अपने हाथ में ले सकती है।

   नगरपालिका के अध्यक्ष का पद प्रतिष्ठा का होता है। नगरपालिका के पार्षद अपने बीच से ही अध्यक्ष का चुनाव करते हैं। यह परिषद की बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा मार्ग-दर्शन करता है। तथा नगरपालिका के वित्तीय तथा कार्यकालिका प्रशासन पर निगरानी रखता है।

   नगरपालिका आयुक्त, नगरपालिका के कार्यकारी विभाग का प्रमुख होता है, जो राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है। इसे नगरपालिका कोष से वेतन दिया जाता है। यह अनेक कार्य सम्पन्न करता है। यह समितियों तथा परिषद के सचिव के रूप में कार्य करता है। आयुक्त विभिन्न, प्रशासनिक विभागों को

संगठित करता है तथा उनमें कार्यों का बँटवारा करता है। नगरपालिका कार्यालय का प्रभारी होने के नाते समस्त रिकार्ड इसी की निगरानी में रखे जाते हैं।

नगरपालिका के कार्य, नगर निगम के समान ही हैं और अधिनियम में नगरपालिका के कार्यों का उल्लेख है। यह ऐच्छिक और अनिवार्य दो प्रकार से कार्य करता है। इसके प्रमुख अनिवार्य कार्य हैं- जल की वयवस्था करना, प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना और देखभाल, जन्म-मृत्यु का पंजीकरण, गलियों का नामकरण तथा घरों के नम्बर लगाना आदि। ऐच्छिक कार्य हैं- खतरनाक भवनों या स्थानों को कब्जे में लेना या ध्वस्त करना, सड़क के किनारे वृक्ष लगाना, सर्वेक्षण करना, सार्वजनिक अभिनन्दन, प्रदर्शनियों आदि का आयोजन करना, नगरपालिका कर्मचारियों के कल्याण सम्बन्धी कार्य आदि।

नगरपालिका की आय के प्रमुख स्रोत हैं- कर लगाना, गैर-कर स्रोत, लाभकारी उद्यम और अनुदान। नगरपालिका सम्पत्ति कर, व्यवसाय कर, चुंगी कर, पशु व वाहन कर, मनोरंजन कर आदि कर लगाती है। इसके साथ-साथ गैर-कर सोतों में भवनों से सम्बन्धित फीस, लाइसेन्स फीस आदि के द्वारा आय प्राप्त करती है।

3. **अधिसूचित क्षेत्र समितियाँ-** यदि राज्य सरकार यह अनुभव करती है कि किसी स्थानीय क्षेत्र में सुधार की आवश्यकता है और जहाँ नगरपालिका की स्थापना सम्भव नहीं है, तो अधिसूचना द्वारा क्षेत्र समितियाँ स्थापित कर सकती हैं। इस प्रकार कम जनसंख्या के शहरी क्षेत्र में जनता की सुविधा के लिए नगर क्षेत्र समितियाँ स्थापित की जाती है। चूँकि इनकी स्थापना अधिसूचना द्वारा की जाती है, इसलिए इन्हें अधिसूचति क्षेत्र कहा जाता है। इसके सदस्य निर्वाचित और मनोनीत दोनों प्रकार के होते हैं। प्रायः राज्य सरकार ही इनके सदस्यों तथा अध्यक्ष को मनोनीत करती है। बिहार, गुजरात, हरियाणा, पंजाब, मध्य प्रदेश, कर्नाटक, हिमाचल प्रदेश व उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में अधिसूचित क्षेत्र समितियाँ हैं।
4. **नगर क्षेत्र समितियाँ-** नगर क्षेत्र समितियाँ एक प्रकार की लघु नगरपालिकाऐं हैं, जिनकी स्थापना छोटे नगरों के लिए की जाती है। इन समितियों का संचालन राज्य विधानसभा द्वारा पारित पृथक् अधिनियम के अन्तर्गत होता है। इनके सदस्य निर्वाचित और मनोनीत दोनों प्रकार के होते हैं। जिलाधीश को नगर क्षेत्र समिति के सम्बन्ध में नियन्त्रण की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। सदस्यों की संख्या कम होती है और कार्य अपेक्षाकृत सीमित होते हैं। ऐसी समितियाँ असम, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल, आदि राज्यों में हैं।
5. **छावनी बोर्ड-** शहरी क्षेत्रों में जहाँ सैनिक रहते हैं, छावनी कहते हैं। ऐसे क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को नागरिक सुविधाएँ और कल्याणकारी सेवाएँ उपलब्ध कराने के लिए छावनी बोर्ड की स्थापना की जाती है। छावनी बोर्ड स्वायत्त संस्थाएँ होती हैं, जिन पर सेना के मुख्य अधिकारी का नियन्त्रण रहता है। यही छावनी बोर्ड का प्रमुख होता है तथा छावनी क्षेत्र में स्थानीय विषयों का प्रबन्धन करता है। इसके आधे सदस्य जनता द्वारा चुने जाते हैं तथा आधे सरकार द्वारा मनोनीत होते हैं। बोर्ड को कर लगने की शक्ति प्राप्त है जो आय का प्रमुख स्रोत है। छावनी बोर्ड का कार्यकाल तीन वर्ष का होता है। कार्यकारी अधिकारी बोर्ड का कार्यकारी प्रमुख होता है। इसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है। छावनी बोर्ड तीन श्रेणियों में संगठित है- प्रथम श्रेणी की छावनियाँ जिनकी असैनिक जनसंख्या दस हजार से अधिक है,

द्वितीय श्रेणी की छावनियाँ जिनकी असैनिक जनसंख्या ढाई हजार से दस हजार के बीच होती है और तृतीय श्रेणी की छावनियाँ जिनकी असैनिक जनसंख्या ढाई हजार से कम है।

6. **टाउनशिप-** इस प्रकार के नगरीय प्रशासन की स्थापना बड़े सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा स्थापित कारखानों में कार्य वाले सेवीवर्गों को नागरिक सेवाएँ उपलब्ध करने के लिए होती हैं। यह अपने आप एक छोटा शहर होता है, जिसमें समस्त प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध होती है। टाउनशिप के प्रशासन की देख-रेख के लिये एक टाउन प्रशासक की नियुक्ति की जाती है। उसकी सहायता के लिए तकनीकी और गैर-तकनीकी स्टाफ होता है। टाउनशिप में चुने हुए प्रतिनिधि नहीं होते हैं।
7. **पोर्ट ट्रस्ट-** समुद्र के किनारे जो पोर्ट होते हैं, वहाँ ट्रस्ट स्थापित किये जाते है। जैसे- मुम्बई, चेन्नई, आदि। पोर्ट ट्रस्ट की स्थापना के दो उदेश्य होते है- पोर्ट की व्यवस्था और सुरक्षा तथा नागरिक सुविधाएँ उपलब्ध करना। पोर्ट ट्रस्ट की स्थापना संसद के द्वारा की जाती है। पोर्ट ट्रस्ट में निर्वाचित और मनोनीत दोनों प्रकार के सदस्य होते हैं। पोर्ट ट्रस्ट का अध्यक्ष एक अधिकारी होता है। इसके कार्य लगभग नगरपालिका के समान होते हैं।
8. **विशिष्ट उद्देश्य इकाईयाँ-** विशिष्ट उद्देश्य इकाई की स्थापना राज्य सरकार द्वारा किसी विशेष कार्य हेतु की जाती है। नगर निगम, नगर पालिका या अन्य नगरीय सरकार के कुछ कार्यो को करने के लिए राज्य सरकार इनकी स्थापना करती है। इन्हें एकल उद्देश्य, विशिष्ट उदेश्य या कार्यात्मक स्थानीय संस्था भी कहा जाता है। इस प्रकार की निम्नलिखित संस्थाएँ होती हैं। टाउन सुधार ट्रस्ट, शहरी विकास सत्ता, गृह निर्माण बोर्ड और प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड आदि।

21.4 नगरीय स्थानीय सरकार से संबंधित विषय

नगरीय स्थानीय सरकार से सम्बन्धित विषयों का उल्लेख संविधान की 12वीं अनूसूची (अनुच्छेद, 243-ब) में किया गया है जो निम्नवत है-

1. नगर के नियोजन सहित शहरी नियोजन।
2. भू-उपयोग का विनियम और भवन-निर्माण।
3. आर्थिक व सामाजिक उन्नयन को ध्येय से नियोजन।
4. सड़क एवं पुल।
5. घरेलू उपयोग व औद्योगिक और वाणिज्यिक प्रयोजन के लिए जलापूर्ति।
6. जन स्वास्थ्य, स्वच्छता, जल-प्रबन्धन एवं कूड़ा-कचरा निस्तारण।
7. अग्निशमन सेवाऐं।
8. परिस्थितिकीय एवं पर्यावरण संरक्षण के ध्येय से शहरी वनीकरण।
9. शाररिक व मानसिक विकलांगों सहित समाज के कमजोर वर्गों का हित संरक्षण।
10. मलिन बस्ती सुधार एवं उन्नयन।
11. शहरी गरीबी निवारण।
12. नागरिक जन-सुविधाओं जैसे पार्क, उद्यान, और क्रीडा मैदानों की व्यवस्था करना।
13. सांस्कृतिक, शैक्षणिक व सौंदर्यपूर्ण विकास।
14. शव-गृह, कब्रिस्तान और विद्युत शव-दाह-गृह।

15. पशुओं के लिए पीने के पानी के तालाब और पशुओं के प्रति क्रूरता की रोकथाम।
16. जन्म-मृत्यु के आंकडों सहित महत्वपूर्ण सांख्यि की सूचना।
17. गलियों, पार्किंग स्थल और स्टापों के पथ-प्रकाश(लाईट) की सुविधाओं की व्यवस्था और जल-प्रबन्धन।
18. पशु वधशालाओं और चर्मशोधनालाओं का विनियमन।

21.5 नगरीय स्थानीय सरकार की कार्य एवं शक्तियाँ

प्रत्येक नगरीय प्रशासन का यह कर्तव्य होगा कि वह अपने क्षेत्र के भीतर निम्नलिखित व्यवस्था करे-

1. सार्वजनिक सड़कों और स्थानों पर पीने का पानी।
2. सार्वजनिक सड़कों और स्थानों पर रोशनी।
3. नगरपालिका की सीमा का सर्वेक्षण करना और सीमा चिन्ह लगाना।
4. सार्वजनिक सड़कों, स्थानों और नालियों की सफाई करना, हानिकारक वनस्पति को हटाना।
5. संतापकारी, खतरनाक या आपत्तिजनक, व्यापार, आजीविका या प्रथा का विनियमन करना।
6. आवारा व खतरनाक पशुओं को हटाना या नष्ट करना।
7. लोक सुरक्षा, स्वास्थ्य या सुविधा के आधार पर सड़कों या सार्वजनिक स्थानों में अवांछनीय और अवरोध प्रक्षेप हटाना।
8. खतरनाक भवनों या स्थानों को सुरक्षित बनाना या हटाना।
9. मृतकों के निस्तारण के लिये स्थान अर्जित, अनुरक्षित, परिवर्तित और विनियमित करना।
10. सार्वजनिक सड़कों, पुलियों, बाजारों व वधशालाओं, शोचालयों, संड़ासों, मुत्रालयों, नालियों, जलोत्सारण, निर्माणकार्यों तथा सीवर व्यवस्था सम्बन्धी निर्माण कार्यों का निर्माण, परिवर्तन और अनुरक्षण करना।
11. घरेलू, औद्योगिक और वाणिज्यिक प्रयोजनों के लिए जलापूर्ति उपलब्ध करना।
12. सड़क के किनारे तथा सार्वजनिक स्थानों में वृक्ष लगाना और उनका अनुरक्षण करना।
13. ऐसे स्थानों में जहाँ वर्तमान जल सम्भरण के अप्रर्याप्त या अस्वास्थ्यप्रद होने से वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य को संकट हो, शुद्ध और स्वास्थ्यप्रद जल के पर्याप्त सम्भरण की व्यवस्था करना। व्यक्तियों के उपयोग के लिए प्रयुक्त होने वाले जल को प्रदूषित होने से बचाना और प्रदूषित जल के ऐसे उपयोग को रोकना।
14. जल सम्भरण हेतु सार्वजनिक कुंओं को ठीक हालत में रखना। उनके जल को प्रदूषित होने से बचाना तथा उसे मनुष्यों के उपयोग योग्य बनाये रखना।
15. जन्म और मृत्यु का पंजीकरण सुनिश्चित करना।
16. सार्वजनिक टीका लगाने की प्रणाली की स्थापना तथा उसका अनुरक्षण।
17. सार्वजनिक चिकित्सालयों और औषधालयों की स्थापना तथा उनका अनुरक्षण या उनकी सहायता करना और सार्वजनिक चिकित्सा सम्बन्धी सहायता की व्यवस्था करना।
18. प्रसूति केन्द्रों, शिशु कल्याण, और जन्म नियंत्रण क्लीनिकों की स्थापना, अनुरक्षण और सहायता करना और जनसंख्या नियन्त्रण, परिवार कल्याण और छोटे परिवार के मानकों को प्रोत्साहित करना।
19. पशु चिकित्सालयों का अनुरक्षण करना या अनुरक्षण हेतु उन्हें सहायता देना।

20. प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना और उनका अनुरक्षण करना।

21. आग बुझाने में सहायता देना और आग लगने पर जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा करना।

22. नगरपालिका में निहित या उसके प्रबंधन में सौंपी गयी सम्पत्ति की सुरक्षा करना, उसका अनुरक्षण तथा विकास करना।

23. शासकीय पत्रों पर तत्काल ध्यान देना और ऐसे विवरण और रिपोर्ट तैयार करना जिन्हें राज्य सरकार नगर पालिका से प्रस्तुत करने की अपेक्षा करे।

24. विधि द्वारा उस पर अधिरोपित किसी बाध्यता की पूर्ति करना।

25. चर्म-शोधनशालाओं को निनियमित करना।

26. पार्किंग स्थल, बस स्टाप और जन सुविधाओं का निर्माण और अनुरक्षण करना।

27. नगरीय वानिकी और परिस्थितिकी पहलुओं की अभिवृद्धि और पर्यावरण का संरक्षण करना।

28. समाज के दुर्बल वर्गों, जैसे- विकलांग और मानसिक रूप से मन्द व्यक्ति हितों का संरक्षण करना।

29. सांस्कृतिक, शैक्षणिक और सौन्दर्यपरक पहलुओं की अभिवृद्धि करना।

30. कांजी हाउस का निर्माण और अनुरक्षण करना और पशुओं के प्रति क्रूरता का निवारण करना।

31. मलिन बस्ती सुधार और उन्नयन।

32. नगरीय निर्धनता कम करना व नगरीय सुख-सुविधाओं, जैसे पार्क, उद्यान और खेल के मैदानों की व्यवस्था करना।

अभ्यास प्रश्न-

1. संविधान का 74वां संविधान संशोधन किससे संबंधित है?

2. एक लाख या उससे अधिक जनसंख्या वाले क्षेत्रों में नगर निगम गठित होंगे। सत्य/असत्य

3. पचास हजार से एक लाख तक की जनसंख्या वाले क्षेत्रों नगर पालिकाऐं गठित होंगी। सत्य/असत्य

4. पचास हजार तक की जनसंख्या वाले क्षेत्रों में नगर पंचायतों का गठन होगा। सत्य/असत्य

5. 74वें संविधान संशोधन में 12वीं अनुसूची के अन्तर्गत शहरी स्थानीय निकायों को कितने कार्य/उत्तरदायित्व दिये गये हैं?

1. नगर निकायों के कार्यों से संबंधित विषयों का वर्णन संविधान की 12वीं अनुसूची में किया गया है। सत्य/असत्य

21.6 सांराश

74वें संविधान संशोधन के माध्मय से सरकार ने पुनः नगरीय क्षेत्रों में स्थानीय लोगों को निर्णय लेने के स्तर पर सक्रिय व प्रभावशाली सहभागिता बनाने का प्रयास किया गया है। संविधान का 74वें संशोधन ने नगर पलिका, नगर निगम और नगर पंचायतों में शहरी लोगों की भागीदारी बढ़ाने में मदद की है। इस संशोधन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अब शहरों, नगरों, मोहल्लों की भलाई उनके हित व विकास सम्बन्धी मुद्दों पर निर्णय लेने का अधिकार केवल सरकार के हाथ में नहीं है। अब नगरों व शहर के ऐसे लोग जो शहरी मुद्दों की स्पष्ट सोच रखते हैं व नगरों, कस्बों व उनमें निवास करने वाले लोगों की नागरिक सुविधाओं के प्रति संवेदनशील है, निर्णय लेने की स्थिति में आगे आ गये हैं। महिलाओं व पिछड़े वर्गों के लिए विशेष आरक्षण व्यवस्था ने हमेशा से पीछे रहे व हाशिये पर खड़े लोगों को भी बराबरी पर खड़े होने व निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने का अवसर दिया है। 74वें

संविधान संशोधन ने सरकार (लोगों का शासन) के माध्मय से आम लोगों की सहभागिता स्थानीय स्वशासन में सुनिश्चित की है। हर प्रकार के महत्वपूर्ण निर्णयों में स्थानीय लोगों को सम्मिलित करने से निणर्य प्रक्रिया प्रभावी, पारदर्शी व समुदाय के प्रति संवेदनशील हो जाती है। नगरीय स्थानीय सरकार की इकाईयों के माध्यम से इन इकाईयों में निवास करने वाले सरकार में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करते हैं और जन कल्याण से संबंधित योजनाओं के क्रियान्वयन में साझीदार होते हैं।

21.7 शब्दावली

विकेन्द्रीकरण- एक केन्द्र में न रहना, विस्तारित होना।

संक्रमणशील- ग्रामीण क्षेत्रों से नगरीय क्षेत्रों में परिवर्तित होने वाले क्षेत्र।

गणपूर्ति- किसी भी कार्यवाही की पूर्ति हेतु उपस्थित अनिवार्य सदस्यों की संख्या।

कांजी हाऊस- जहाँ आवारा पशुओं को पकड़ कर रखा जाता है।

21.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. नगर निकाय, **2.** सत्य, **3.** नगर पालिकाएं, **4.** सत्य, **5.** 5 साल, **6 .** 18, **7.** सत्य

21.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय प्रशासन, अवस्थी एवं अवस्थी, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. लोक प्रशासन, बी0 एल0 फड़िया, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
3. हार्क संस्था, नगरीय स्वशासन प्रशिक्षण मार्गदर्शिका।

21.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारत में पंचायती राज- के0के0 शर्मा।
2. भारत में स्थानीय शासन- एस0 आर0 माहेश्वरी।
3. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

21.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. नगर निकायों के गठन एंव संरचना को स्पष्ट करें।
2. नगर पालिका की बैठकें व उनकी कार्यवाहियों को स्पष्ट करें।
3. नगर निकायों के वित्तीय प्रबन्ध को विस्तार से बतलाइये।
4. नगर निकायों से संबंधित विषय बतलाइये।
5. नगर निकायों की कार्य एंव शक्तियाँ एवं स्वैछिक कार्य बताएं।

इकाई- 22 स्वतन्त्रता पश्चात भारत में जिला प्रशासन और जिलाधिकारी

इकाई की संरचना

22.0 प्रस्तावना
22.1 उद्देश्य
22.2 भारत में जिला प्रशासन- ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
22.3 भारत में जिला प्रशासन का ढ़ाँचा
22.4 स्वतन्त्रता पश्चात भारत में जिला प्रशासन
22.5 जिलाधिकारी के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व
    22.5.1 समन्वयक कार्य
    22.5.2 राजस्व एवं आबकारी कार्य
    22.5.3 पुलिस कार्य
    22.5.4 दंडाधिकारी के कार्य
    22.5.5 चुनाव कार्य
    22.5.6 विकास कार्य
    22.5.7 आपदा प्रबंधन सम्बन्धी कार्य
    22.5.8 जनगणना सम्बन्धी कार्य
22.6 जिलाधिकारी की बदलती भूमिका
22.7 सारांश
22.8 शब्दावली
22.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
22.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
22.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
22.12 निबंधात्मक प्रश्न

22.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई में हमने यह अध्ययन किया कि सत्ता विकेन्द्रीकरण की दिशा में संविधान के 74वां संशोधन एक महत्वपूर्ण और निर्णायक कदम हैं। 74वां संविधान संशोधन नगर निकायों में सत्ता विकेन्द्रीकरण का एक मजबूत आधार है। अतः इकाई 21 के अध्ययन का उद्देश्य, 74वें संविधान संशोधन की आवश्यकता और 74वें संविधान संशोधन में मौजूद उपबंधों और नियमों को स्पष्ट करना है। भारत विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र के रूप में जाना जाता है। इस लोकतंत्र का सबसे रोचक महत्वपूर्ण पक्ष है सत्ता व शक्तियों का विकेन्द्रीकरण।

प्रस्तुत इकाई 22 में हम स्वतंत्रता के पश्चात जिला प्रशासन और जिलाधिकारी के सम्बन्ध में अध्ययन करेंगे। जिसमें हम यह देखेंगें कि किस प्रकार से लोकतंत्र को अपनाने के कारण, स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरुप और लक्ष्य में किस प्रकार से परिवर्तन आये हैं। वहीं जिला प्रशासन और जिलाधिकारी जो स्वतंत्रतापूर्वक जनता को दबाकार कार्य करते थे, जो सभी प्रकार की जबाबदेही से मुक्त थे। परन्तु स्वतंत्रता उपरान्त अब प्रशासन जनता के दबाव में काम करता है, जो अपने सभी कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी है, क्योंकि वर्तमान समय में हमारे देश में लोकतंत्र प्रचलित है, जिसमें अंतिम सत्ता जनता में ही निहित होती है। इसलिए जिलाधिकारी के

कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों में अभूतपूर्व परिवर्तन दिखाई दे रहा है। इन सभी पक्षों का अध्ययन हम इस इकाई में करेंगे।

22.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- यह जान सकेंगे कि स्वतंत्रता पूर्व जिला प्रशासन का स्वरूप क्या था।
- यह जान सकेंगे कि स्वतंत्रता के पश्चात जिला प्रशासन के स्वरूप में किस प्रकार का परिवर्तन आया है।
- यह जान सकेंगे कि स्वतंत्रता के पश्चात जिलाधिकारी के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों में किस प्रकार का परिवर्तन आया है।
- यह जान सकेंगे कि स्वतंत्रता के पश्चात जिलाधिकारी और जिला प्रशासन किस प्रकार जनता के दबाव में जनता के लिए कार्य करते हैं।

22.2 भारत में जिला प्रशासन- ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अगर भारत में जिला प्रशासन के इतिहास पर नजर डालें तो इसका वर्णन मनुस्मृति जैसे ग्रन्थों से लेकर कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मौर्य प्रशासन, मुगलकाल की प्रशासनिक व्यवस्था और ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था में मिलता है। मौर्यकाल में जिला अधिकारी को 'रज्जुकाज' कहा जाता था। मुगल काल में जिले स्तर का प्रशासनिक अधिकारी प्रशासनकी सफलता का आधार स्तम्भ था। अकबर के समय में जिले को सरकार कहा जाता था तथा इसके प्रशासक को फौजदार कहा जाता था। ब्रिटिश शासकों ने भारत में अपने व्यापार के समय से लेकर भारत में सीधा प्रशासन करने तक एक निश्चित क्षेत्र को 'डिस्ट्रिक' कहते थे और 'कलक्टर' 'डिस्ट्रिक' की एक महत्वपूर्ण इकाई के रूप में अपने दायित्वों की पूर्ति करता था। वारेन हेस्टिंगज ने राजस्व और कानून व्यवस्था को कलक्टर के पद के साथ जोड़ कर उसे और सशक्त बना दिया। सन् 1792 में जिला कलक्टर से न्यायिक शक्तियों अलग करके 'जिला न्यायाधीश' का पद बनाया गया और जिले स्तर के न्यायिक कार्यों का दायित्व सौंपा गया। लेकिन लॉर्ड विलियम बैंटिक ने अपने समय में जिला अधिकारी से दण्डाधिकारी के कार्यो को अलग कर जिला कलक्टर के पद में समाहित कर दिया। जिला कलक्टर की नियुक्ति पहले 'कवेनेन्टेड सिविल सर्विस' के माध्यम से की जाती थी जो बाद में आईसीएस(ICS) की परीक्षा के माध्यम से की जाने लगी।

स्वतंत्रता के पश्चात भारत में जिला ही क्षेत्रीय प्रशासन का मुख्य आधार बना। लेकिन भारतीय संविधान में कहीं पर भी जिले को प्रशासनिक इकाई बनाने की बात नहीं कही गयी है। स्वतंत्रता के बाद जिला प्रशासन के कार्यों और दायित्वों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं। इसका कार्यक्षेत्र पहले से कहीं अधिक व्यापक और जिम्मेदारी वाला हुआ है।

22.3 भारत में जिला प्रशासन का ढ़ाँचा

भारत में जिला प्रशासन की ढ़ाँचे को एक पदसोपान युक्त व्यवस्था में देखा जा सकता है। जिला प्रशासन के इस प्रशासनिक ढ़ाँचे में पदसोपान व्यवस्था में दो, तीन या चार स्तर हो सकते हैं। भारत के अधिकांश राज्यों के जिलों में प्रशासन के तीन स्तर मिलते हैं, पहला- जिला, इसका मुख्यालय प्रमुख नगर में केन्द्र होता है। दूसरा- उपखण्ड का मुख्यालय, जिसका केन्द्र जिले के अन्य स्थानों पर होता है और तीसरा- तहसील कार्यालय। ये तीनों स्तर जिले में सामान्य प्रशासन की दृष्टि से बनाए जाते हैं, लेकिन विकास कार्यों के लिए राज्यों में प्रशासन के कई स्तर हैं।

जिले स्तर पर प्रशासन के तीन स्तरों पर अधिकारी वर्ग का भी उल्लेख है। पहले स्तर के अधिकारी का क्षेत्राधिकार सम्पूर्ण जिला है, जिसमें जिला अधिकारी, जिला कृषि अधिकारी, जिला परिषद के अध्यक्ष, स्वास्थ्य अधिकारी

आदि आते हैं। बड़े जिलों में दो मध्यवर्ती स्तर पाये जाते हैं, जबकि छोटे जिलों में यह स्तर एक ही होता है। इस स्तर पर उपखण्ड अधिकारी या उपखण्ड दंडनायक होता है। उपखण्ड अधिकारी सामान्य प्रशासक होता है। वह तहसीलदार और कलक्टर के मध्य राजस्व मामलों में तथा कलक्टर और स्थानीय पुलिस अधिकारी के बीच कानून और शांति के मामलों में एक कड़ी का कार्य करता है। उपखण्ड को तहसीलों में बांटा जाता है। इस स्तर के प्रमुख अधिकारी तहसीलदार, विकास अधिकारी आदि होते हैं। तहसीलदार तहसील का का मुख्य अधिकारी होता है, वह अधिनस्थ सेवा का सदस्य होता है। तहसीलदार को उसके कार्यों में नायब तहसीलदार, कानूनगो और पटवारी सहायता करते हैं। सरकार द्वारा सौंपे गये कार्यों और समस्त राजस्व कार्यों के लिए तहसीलदार कलक्टर के माध्यम से राज्य सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है। ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत मुखिया, पटवारी व ग्राम सहायक आदि आते हैं। जिला प्रशासन का ढ़ाँचा पूर्णत: विकेन्द्रीकृत है, जिसके माध्यम से सरकारें लोक कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों को पूर्ण करती है।

22.4 स्वतन्त्रता पश्चात भारत में जिला प्रशासन

हमारे देश में प्रशासनिक सुविधा के लिए संघात्मक शासन प्रणाली की स्थापना की गयी है, क्योंकि किसी भी बहुत बड़े क्षेत्र को प्रत्यक्ष रूप से संचालित करना आसान नहीं होता है। इसलिए भारतीय प्रशासन को सुचारू संचालन हेतु, प्रदेश को जिला में विभाजित किया गया है। जहाँ से सभी प्रशासनिक दायित्वों का निर्वहन किया जाता है। इस प्रकार 'जिला' क्षेत्रीय प्रशासन का आधार है, जिस पर भारतीय प्रशासन का सम्पूर्ण ढ़ाँचा खड़ा है।

स्वतन्त्रता पूर्व देश का प्रशासन अंग्रेजों द्वारा संचालित किया जाता था। यह सर्वविदित है कि अंग्रेजों का उद्देश्य भारतीय जनमानस को सशक्त और सक्षम बनाना नहीं था, वरन उनका प्रमुख उद्देश्य अपना हित साधना था, उनके इस हित साधन की प्रक्रिया में प्रशासन का मुख्य कार्य नियामकीय था, जिसमें निषेधात्मक कार्य ही संचालित किए जाते थे न कि सकारात्मक कार्य। इन नियामकीय कार्यों में कानून और व्यवस्था बनाए रखना प्रमुख था। परन्तु स्वतन्त्रता के उपरान्त शासन के स्वरूप में परिवर्तन आया है। हमने संसदीय लोकतन्त्र को अपनाया, जिसमें सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और उसका अस्तित्व विधायिका के निम्न सदन (केन्द्र में लोक सभा, राज्य में विधान सभा) जिसे जन-प्रतिनिधि सदन भी कहते हैं, के बहुमत के समर्थन पर निर्भर करता है। इस कारण से जिला प्रशासन के स्वरूप में भी परिवर्तन आया है, क्योंकि राष्ट्रीय स्तर पर या राज्य स्तर पर बनाई गयी कोई भी नीति हो, उसका क्रियान्वयन, जिला प्रशासन के स्तर पर ही होता है। भारतीय संविधान के द्वारा कल्याणकारी राज्य की स्थापना को लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसलिए स्पष्ट है कि भारतीय प्रशासन के स्वरूप में जिला प्रशासन की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि भारतीय प्रशासन में जिला प्रशासन महत्वपूर्ण है, तो जिला प्रशासन में जिलाधिकारी के पद उसकी भूमिका भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह जिला प्रशासन का मुखिया होता है। इसलिए इस इकाई में हम जिलाधिकारी के पद और उसकी भूमिका का अध्ययन करेंगे।

22.5 जिलाधिकारी के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व

जैसा कि हम इस इकाई के प्रारम्भ में देख चुके हैं कि भारतीय प्रशासन में जिलाधिकारी का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि देश के सभी नीतियों का वास्तविक रूप से क्रियान्वयन जिला प्रशासन के स्तर पर ही जिलाधिकारी की देख-रेख में ही संचालित किए जाते हैं। यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि स्वतन्त्रता के पूर्व जिलाधिकारी के अधिकार और शक्तियाँ ज्यादा थी, जबकि उनकी जिम्मेदारी कम होती हैं, क्योंकि ब्रिटिशकाल में प्रशासन के लक्ष्य बहुत ही सीमित और नियामकीय प्रकृति के थे, जिसका प्रमुख उद्देश्य कानून और व्यवस्था की स्थापना करना था। जबकि स्वतन्त्रता के उपरान्त प्रशासन के लक्ष्य में परिवर्तन आया है। अब लक्ष्य

में परिवर्तन का कारण, शासन के संगठन में परिवर्तन है। अब देश में कोई विदेशी सरकार कार्य नहीं कर रहीं है, वरन् अब ऐसी सरकार कार्य कर रही है, जो जनता द्वारा निर्वाचित है और जनता के हित के लिए कार्य कर रही है। इस प्रकार अब सरकार जनता के दबाव में कार्य कर रही है। ऐसी बदली हुई परिस्थिति में प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन आना स्वाभाविक है।

अब जिलाधिकारी के अधिकार में कमी आयी है व दायित्वों में वृद्धि हुई है और जो अधिकार हैं भी वे अंग्रेजी शासन के समान जनता को दबाव में रखकर कार्य करने हेतु नहीं, वरन् वे लोकतन्त्र की भावना के अनुरूप शासन की नीतियों को जनता के हित में क्रियान्वयन करने के लिए हैं।

चूँकि जिले में जिलाधिकारी शासन का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए सामान्य दिनों में जनकल्याणकारी नीतियों और कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक लागू करने से लेकर आकस्मिक रूप से उत्पन्न संकटकालीन स्थितियों का समाधान कर शान्तिपूर्ण सामाजिक वातावरण तैयार करने की चुनौतिपूर्ण जिम्मेदारी का निर्वहन अपने सूझ-बूझ से करता है।

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जिलाधिकारी को अनेकानेक चुनौतिपूर्ण दायित्वों का निर्वहन करना होता है, वे इस प्रकार हैं-

22.5.1 समन्वयक का कार्य

जैसा कि हम उपर देख चुके हैं कि जिलाधिकारी जिलों का प्रशासनिक मुखिया होता है, जो प्रमुख समन्वयक के रूप में कार्य करता है। समन्वयक के रूप में जिलाधिकारी जिले की विभिन्न समन्वय समितियों की बैठकें आहूत करता है और उन समितियों का अध्यक्ष भी वही होता है। जिले में जिलाधिकारी संयुक्त परिवार के मुखिया की तरह कार्य करता है, जिसमें वह जिले के विभिन्न विभागों के कार्यों पर निगरानी रखता है और आवश्यकतानुसार उन्हें निर्देश देता है, जिससे वे सुगमता पूर्वक अपने विभाग से सम्बन्धित दायित्वों का निर्वहन कर सकें। फलस्वरूप जिला प्रशासन के सफलतापूर्वक अपने दायित्वों के निर्वहन से लोकतन्त्र में हमारे संविधान द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है।

22.5.2 राजस्व एवं आबकारी कार्य

जिलाधिकारी अपने दायित्वों के निर्वहन में सर्वप्रथम राजस्व अधिकारी के रूप में ही कार्य करता है। भू-राजस्व के संग्रह के साथ ही साथ आबकारी संग्रह हेतु जिलाधिकारी के पास अधिकारियों की लंबी फौज होती है, जिनकी सहायता से वह अपने दायित्वों का निर्वहन करता है। जिनमें उप-जिलाधिकारी, तहसीलदार, नायब तहसीलदार, कानूनगो, पटवारी आदि होते हैं। वह विभिन्न विभागों में बकाये की वसूली के लिए भी जिम्मेदार होता है। बकायों में भू-राजस्व बकाया, सिंचाई बकाया आदि। जिलाधिकारी राजस्व संग्रह के लिए मुख्य प्रेरक के रूप में कार्य करता है। वह कृषि ऋण आवंटन पर निगरानी रखता है और आपदा, अकाल आदि संकटकालीन स्थितियों में ऋण वसूली के स्थगन का आदेश भी जारी करता है।

22.5.3 पुलिस कार्य

सामान्यतया हमें यह दिखाई देता है कि पुलिस प्रशासन एक स्वतंत्र विभाग के रूप में कार्य करता है। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि जिलाधिकारी जिला प्रशासन के समन्वयक के रूप में विभिन्न विभागों की निगरानी और नियंत्रण करता है, जिसमें पुलिस भी शामिल है। पुलिस अधिनियम की धारा-4 में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि जिलाधिकारी को पुलिस पर नियंत्रण और उसे निर्देश देने का अधिकार प्राप्त है।

राष्टीय सुरक्षा कानून(रासुका) की धारा-144 का प्रयोग जिलाधिकारी करता है। आपातकालीन स्थितियों में उसे सेना तक को बुलाने का अधिकार प्राप्त है। वन्य जीव संरक्षण हेतु वन पुलिस और अग्निकांड से निजात पाने हेतु अग्निशमन दल को निर्देशित करता है कि वे आवश्यक कार्यवाही कर समस्या का निराकरण करें। इस प्रकार से

स्पष्ट है कि जिले का कोई भी विभाग और उस विभाग का कोई भी मुखिया हो, किन्तु आवश्यकता महसूस होने पर जिलाधिकारी सभी को निर्देश दे सकता है, क्योंकि जिला प्रशासन की सफलता और असफलता के लिए अंतिम रूप से वही उत्तरदायी होती है।

22.5.4 दंडाधिकारी कार्य

जिलाधिकारी पर जिले के कानून और व्यवस्था को बनाए रखने की जिम्मेदारी होती है। इसके साथ-साथ दंडाधिकारी के रूप में प्रथम श्रेणी के मजिस्टेट की शक्तियाँ प्राप्त हैं। जिले में अस्त्र-शस्त्र के लाइसेंस उसके द्वारा ही प्रदान किए जाते हैं। लाइसेंस जारी करना भी उनके अधिकार-क्षेत्र में आता है। अपराध नियंत्रण के लिए भी अंतिम रूप से जिम्मेदारी जिलाधिकारी की होती है, क्योंकि वह जिला प्रशासन का मुखिया होता है।

22.5.5 चुनाव कार्य

जैसा कि हम जानते हैं कि हमारे देश में संसदीय लोकतंत्र को अपनाया गया है। यह प्रणाली संघ और राज्य, दोनों स्तरों पर अपनायी गयी है, इसलिए संसद और विधानमंडल के चुनाव को सुचारु रूप से संचालित करने का जिम्मा इन पर होता है। ये ही नहीं हमारे देश में त्रि-स्तरीय पंचायती व्यवस्था को भी लागू किया गया है, इसलिए इन सभी के चुनाव के सुचारु संचालन की जिम्मेदारी भी इन्हीं की होती है। जिलाधिकारी अपने इस दायित्वों का निर्वहन जिला निर्वाचन अधिकारी की सहायता से करते हैं। चुनाव के पश्चात विजयी प्रत्याशियों को प्रमाण-पत्र भी जिलाधिकारी के द्वारा ही दिया जाता है।

22.5.6 विकास कार्य

जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि स्वतंत्रता के पश्चात सरकार की प्राथमिकताऐं बदल गयी हैं। चूँकि लोकतंत्र जनता के प्रति उत्तरदायी शासन है, जो कि जनता की भलाई के लिए विभिन्न विकास योजनाओं को चलाता है और जिनका क्रियान्वयन जिला स्तर पर ही होता है। जिलाधिकारी जिला प्रशासन का मुख्य अधिकारी होता है, इसलिए वह विकास अधिकारी के रूप में इन विकास योजनाओं के सफल क्रियान्वयन को सुनिश्चित करता है। इसके साथ ही साथ जिला समाज कल्याण अधिकारी से परामर्श कर कल्याणकारी योजनाओं को लागू करता है। पंचायतीराज व्यवस्था में भी जिलाधिकारी महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि जिला पंचायत में वह पदेन सदस्य होता है।

22.5.7 आपदा प्रबंधन सम्बन्धी कार्य

आपदा दो प्रकार के होते हैं- प्राकृतिक आपदा और मानवजनित आपदा। प्राकृतिक आपदाओं में बाढ़, भूकंप, महामारी, अकाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि के समय घायलों का उपचार विस्थापितों के आवास एवं भोजन की व्यवस्था तथा उनको पुनःस्थापित करने का कार्य महत्वपूर्ण है, जिसे जिलाअधिकारी के दिशा-निर्देश पर सम्पन्न कराया जाता है।

22.5.8 जनगणना सम्बन्धी कार्य

जैसा कि हम जानते हैं कि प्रत्येक दस वर्ष के अंतराल पर जनगणना होती है। इस जनगणना कार्य को संपन्न कराने की जिम्मेदारी जिलाधिकारी की होती है। इस कार्य का संपादन वह जिला जनगणना अधिकारी की सहायता से करता है। जनगणना उपरान्त इसकी सूचना केन्द्रीय सांख्यिकीय विभाग को देता है।

22.6 जिलाधिकारी की बदलती भूमिका

इसमें हम सर्वप्रथम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जिलाधिकारी की बदलती भूमिका का अध्ययन करने के लिए हमें यह भी देखना होगा कि स्वतंत्रता पूर्व प्रशासन किस प्रकार से कार्य करता था और आजादी के बाद किस प्रकार से? साथ ही यह भी देखना होगा कि स्वतंत्रता के बाद समय-समय पर प्रशासन के पुनर्गठन के कारण और नित्य

नवीन चुनौतियों के परिप्रेक्ष्य में किस प्रकार से जिलाधिकारी की भूमिका में किस रूप में परिवर्तन आए हैं और वर्तमान में उनका स्वरूप क्या है?

यहाँ हम बताते चलें, जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं कि आजादी से पूर्व प्रशासन, जनता के हित में और उनकी भलाई के लिए कार्य नहीं करता था, क्योंकि उस समय यहाँ पर लोकतंत्र नहीं था, वरन अंग्रजी शासन था जो अपने हित के लिए कार्य कर रहा था। इसलिए उस समय आम जनता के कोई अधिकार नहीं थे, वरन् केवल दायित्व थे। इसलिए प्रशासन का कार्य नियामकीय प्रकृति का था। जिसका प्रमुख उद्देश्य कानून और व्यवस्था बनाए रखना था, जिससे अंग्रेजी शासन को अपने हित की सिद्धि में किसी प्रकार के अवरोध का सामना न करना पड़े।

किन्तु स्वतन्त्रता के बाद लोकतन्त्र में प्रशासन कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को साकार करने के लिए काम करने लगा। प्रशासन अब जनता पर दबाव बनाकर अपने हित के लिए कार्य नहीं कर रहा है वरन् वह अब जनता के दबाव में, जनता के हित के लिए कार्य कर रहा है। प्रशासन की स्थिति में अब परिवर्तन हो गया है। अब वह स्वामी की स्थिति में न होकर जनता के सेवक के रूप में कार्य कर रहा है।

इसलिए अब सभी नीतियाँ जनता के हित को ध्यान में रखकर निर्मित हो रही हैं और उनका क्रियान्वयन हो रहा है। इन नीतियों का क्रियान्वयन जिला प्रशासन के स्तर पर ही हो रहा है, जिसका प्रमुख जिलाधिकारी होता है। इसलिए जिलाधिकारी की स्थिति बहुत ही महत्वपूर्ण हो गयी है।

परन्तु समय के साथ-साथ कार्यभार की वृद्धि के कारण जिला ग्रामीण विकास अभिकरण के गठन के फलस्वरुप अब विकास कार्यो से, औपचारिक रुप से काफी हद तक जिलाधिकारी अलग हो गया है। किन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि जैसा कि हम पूर्व में बता चुके हैं कि जिलाधिकारी जिला प्रशासन में समन्वयक की भूमिका में होता है और जिले के प्रशासन की सफलता और असफलता के लिए अन्तिम रुप से वही जिम्मेदार होता है। इन विकास कार्यों पर वह निगरानी रखता है।

भारतीय संविधान में 73वें संवैधानिक संशोधन द्वारा पंचायती राज व्यवस्था का उपबंध किया गया और उसे लागू किया गया। साथ ही 74वें संवैधानिक संशोधन द्वारा नगरीय स्थानीय स्वशासन का उपबंध कर उसे लागू किया गया, जिसके लिए क्रमशः अनुसूची 11 और 12 को भारतीय संविधान में शामिल किया गया। इसलिए पंचायतीराज और नगरीय निकाय के कार्यों में वृद्धि से जिलाधिकारी के दायित्वों में वृद्धि हुई, क्योंकि जिलाधिकारी जिला पंचायत का पदेन सदस्य होता है।

चूँकि बहुत से विभाग अब सीधे शासन से निर्देश प्राप्त करते हैं, इसलिए जिलाधिकारी की स्थिति में दिखाई देता है। परन्तु तेजी से हो रहे सामाजिक परिवर्तन के दौर में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चुनौतियों का निराकरण करने में जिलाधिकारी का व्यक्तित्व उसके पद और भूमिका को और अधिक महत्ता प्रदान कर देता है।

उपरोक्त तथ्यों के बावजूद स्वतन्त्रता के बाद जिलाधिकारी के पद, स्थिति, सत्ता और प्रभाव में गिरावट आई है, क्योंकि लोकतन्त्र को अपनाने के कारण वह अब स्वामी की स्थिति के बजाय सेवक की स्थिति में है। यद्यपि इसमें परिवर्तन अभी पूरी तरह से नहीं हो पाया है। लोकतान्त्रिक शासन में मंत्री, अपने विभाग का अध्यक्ष होता है, इसलिए वह जिलाधिकारी पर पंचायती राजव्यवस्था लागू होने और स्थानीय नेताओं की सक्रियता से भी उस पर दबाव बना रहता है। एक अन्य प्रमुख कारण होता है, लगातार हो रहे स्थानान्तरण के कारण भी वह उतना प्रभावशाली तरीके से कार्य नहीं कर पाता है।

22.7 सारांश

राज्य में प्रशासन के कार्यों के लिए जिला एक महत्वपूर्ण इकाई रहा है। शासन के बदलते रूपों से उसकी भूमिका में भी बदलाव आता रहा है। प्राचीन काल में जिला प्रशासन के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। मुगलकाल में जिले स्तर का अधिकारी प्रशासन की सफलता का आधार माना जाता था। अंग्रेज शासकों ने जिला प्रशासन का अपने हित में भरपूर प्रयोग किया तथा जिला प्रशासन के लिए नये कार्य और दायित्वों का निर्धारण भी किया। स्वतंत्रता से पहले जिला प्रशासन मात्र केन्द्र के कार्यों और लक्ष्यों को ध्यान में रखकर कार्य करता था। स्वतंत्रता पश्चात जिला प्रशासन की भूमिका सरकार के कार्यों के निष्पादन के साथ-साथ जन कल्याण के कार्यों के निर्वहन की भी हो गयी है। अब जिले स्तर के अधिकारी और विभाग स्वामी नहीं बल्कि जनता के सेवक के तौर पर कार्य करते हैं। वे जन भावनाओं को ध्यान में रखकर जिला प्रशासन के कार्यों का सम्पादन करते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. 73वें वे संवैधानिक संशोधन का सम्बन्ध पंचायतीराज से है। सत्य/असत्य
2. स्वतंत्रता पूर्व जिला प्रशासन की प्रकृति नियामकीय थी। सत्य/असत्य
3. स्वतंत्रता के उपरान्त जिला प्रशासन जनता के दबाव में कार्य करता है। सत्य/असत्य
4. स्वतंत्रता के उपरान्त जिलाधिकारी के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों में परिवर्तन लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली अपनाने के कारण आई है। सत्य/असत्य

22.8 शब्दावली

नियामकीय कार्य- वे कार्य जो कानून और व्यवस्था की स्थापना से संबंधित होते हैं।

सकारात्मक कार्य- वे कार्य जो मानव जीवन को सरल और उन्हें सक्षम बनाने के लिए किए जाते हैं।

22.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य

22.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया।
3. भारतीय लोक प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

22.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी0डी0 बसु।
2. भारतीय लोक प्रशासन- एस0सी0 सिंहल।

22.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वतंत्रता के पश्चात जिला प्रशासन के स्वरुप में किस प्रकार का परिवर्तन आया है? इसको स्पष्ट करते हुए जिलाधिकारी के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों की विवेचना कीजिये।
2. जिला अधिकारी की बदलती भूमिका की विस्तार से चर्चा कीजिए।